आप्तमीमांसा प्रवचन

[१, २ भाग]

प्रवक्ता .
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
श्री मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' जी महाराज

●

प्रबन्ध सम्पादक
बैजनाथ जैन, ट्रस्टी सदस्य सहजानन्द शास्त्रमाला
यादगार बडतला, सहारनपुर

●

प्रकाशक
मंत्री, सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

मुद्रक .
पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'
साहित्य प्रेस सहारनपुर

१९७०]

[न्यौछावर ५ रु

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक महानुभाव —

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर, सदर मेरठ संरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभाव —

१	श्रीमान् लाला लालचन्द जी जैन सर्राफ		सहारनपुर
२	,,	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी रईस	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
५	,	श्रीमती सोवती देवी जैन	गिरीडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी	मेरठ
८	,,	सलेकचन्द लालचन्द जी जैन	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन	जगाधरी
१३	,,	गेंदामल दगडू शाह जी जैन	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन सर्राफ	सदर मेरठ
१७	,,	मन्त्री दिगम्बर जैन समाज	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलङ्कप्रसाद जी जैन	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन रईस	सहारनपुर
२०	,,	हरीचन्द ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेम देवीशाह सु० बा० फतेहलाल जी जैन संघी	जयपुर
२२	,,	मन्त्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज	खण्डवा
२३	,,	सागरमल जी जैन पाण्ड्या	गिरीडीह
२४	,,	गिरनारीलाल चिरञ्जीलाल जी जैन	गिरीडीह
२५	,,	राधेलाल कालूराम जी जैन मोदी	गिरीडीह
२६	,,	फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखबीरसिंह हेमचन्द जी जैन सर्राफ	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचन्द हरकचन्द जी जैन गोधा	लालगोला
२९	,,	दीपचन्द जी जैन सुपरिन्टेन्डेण्ट इञ्जीनियर	कानपुर
३०	,,	मन्त्री दि० जैन समाज नाई की मण्डी	आगरा

१	श्रीमान् लाला	सचालिका दि० जैन महिला मण्डल नमककी मण्डी	आगरा
२	,,	नेमिचन्द जी जैन रुड़की प्रेस	रुड़की
३३	,,	झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन चिलकाना वाले	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन	सहारनपुर
३५	,,	मोल्हड़मय श्रीपाल जी जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	शीतलप्रसाद जी जैन	सदर मेरठ
३७	,,	बनवारीलाल निरञ्जनलाल जी जैन	शिमला
३८	,,	❀ जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा	झूमरीतिलैया
३९	,,	❀ इन्द्रजीत जी जैन वकील स्वरूपनगर	कानपुर
४०	,,	❀ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या	जयपुर
४१	,,	❀ दयाराम जी जैन आर ए डी ओ	सदर मेरठ
४२	,,	❀ मुन्नालाल यादवराम जी जैन	सदर मेरठ
४३	,,	+ जिनेश्वर प्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन	सहारनपुर
४४	,,	+ जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन	शिमला

नोट—जिन नामोके पहिले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आये हैं, शेष आने हैं। तथा जिनके पहिले + ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया सभी बाकी है।

●

आमुख

तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) की गन्धहस्तिमहाभाष्य नामक टीका करनेके प्रारम्भ में मोक्षमार्गके नेता आप्तको वदन करनेके प्रसङ्गकी व्याख्यामे सर्वप्रथम श्री तार्किकशिरोमणि समन्तभद्राचार्यने ये आप्त सर्वज्ञ ही क्यो वदन करनेके योग्य हैं इसपर मीमांसा (सयुक्तिक विचारणा) की। किसीके पास देव आते हैं, कोई आकाशमे चलते हैं, किसीपर चमर ढुरते हैं, इन कारणोसे वे आप्त नहीं हैं पूज्य नही हैं। ये बाते तो मायावी पुरुषोमें भी सभव हो सकते हैं। ससारी देवोमें सभव होनेसे दिव्य शरीर भी पूज्यत्वका हेतु नही है। तीर्थप्रवृत्ति भी अनेकोने की है उनमे परस्पर विरोध भी है अत तीर्थप्रवर्तन सबकी आप्तताका हेतु नही बन सकता, किंतु जिसके परस्पर विरुद्ध वचन नही हो, युक्तिशास्त्रसे अविरुद्ध वचन हो, प्रमाणसे प्रसिद्ध व अबाधित वचन हो वही निर्दोष हो सकता है। इस चर्चापर वस्तुस्वरूपके अभिमनोपर पाण्डित्यपूर्ण सयुक्तिक विचार किया गया है। जैसे किन्ही दार्शनिकोका सिद्धान्त है कि तत्त्व एकान्तत. भावस्वरूप है किसी भी प्रकार अभावस्वरूप नहीं है। इस सम्बन्धमें सक्षिप्तरूपमे यह जानकारी दी है कि यदि कोई पदार्थ सर्वथा भावरूप है तो कोई भी पदार्थ सर्व पदार्थोके सद्भावरूप हो जायगा तब द्रव्य क्षेत्र कालभावकी कुछ भी व्यवस्था नही हो सकती। भावैकान्तको अनेक विधियोसे अनेक दोषदूषित दर्शाया है। किन्ही दार्शनिकोका अभिमत है। किन्ही दार्शनिकोका मन्तव्य है कि तत्त्व अभावस्वरूप ही है इस विषयमें बताया गया है कि पदार्थ यदि अभावैकान्तमय है तो ज्ञान, वाक्य, प्रमाण

आदि कुछ भी न रहा फिर सिद्ध ही क्या किया जा सकेगा । यो पदार्थ न केवल भाव-स्वरूप ही है और न केवल अभावस्वरूप ही है किन्तु प्रत्येक पदार्थ स्व द्रव्य क्षेत्रकाल भावसे भावस्वरूप है और पर द्रव्य क्षेत्रकाल भावसे अभावस्वरूप है । तथा दोनों स्वरूपोंको एक साथ कहा जाना अशक्य होनेसे अवक्तव्यरूप है । यो तीन स्वतन्त्र धर्म सिद्ध होनेपर इनके द्विसयोगी तीन भङ्ग और त्रिसयोगी एक भङ्ग और सिद्ध होता है । यो सप्त भङ्गोमे भावस्वरूप व अभावस्वरूपका वर्णन करके सम्यक् प्रकाश दिया है ।

पूर्वोक्त स्याद्वाद विधिसे निम्नाङ्कित इन सब विषयोंके सम्बन्धमें भी यथार्थ प्रकाश दिया गया है (१) पदार्थ एक है या अनेक है, (२) वस्तु अद्वैतरूप है या द्वैत-रूप अर्थात् एक तत्त्व सभी ज्ञेय सर्वथा पृथक पृथक् हैं, (३) वस्तु नित्य है या अनित्य, (४) वस्तु वक्तव्य है या अवक्तव्य, (५) कार्यकारणमें, गुण गुणीमें सामान्य सामान्य-वानमे भिन्नता है, या अभिन्नता है, (६) धर्म धर्मीकी सिद्धि अपेक्षिक है या अना-पेक्षिक है, (७) क्या हेतुसे ही सब कुछ सिद्ध होता है या आगमसे ही सब कुछ सिद्ध होता है, (८) क्या प्रतिभासमात्र अन्तरङ्ग अर्थ ही है या बहिरङ्ग प्रमेय पदार्थ ही हैं (९) क्या भाग्यसे ही अर्थसिद्धि है या पुरुषार्थसे ही अर्थसिद्धि है, (१०) क्या अन्य प्राणियोमे दुःखके उत्पादसे पाप बँधता है, (११) क्या अन्य प्राणियोमे सुखका उत्पाद होनेसे पुण्य बँधता है, (१२) क्या स्वयके क्लेशसे क्या पुण्य बँधता है (१३) क्या स्वयके सुखसे पाप बँधता है, (१४) क्या अज्ञानसे याने ज्ञानकी कमीसे बन्ध ही होता है, (१५) क्या अल्प ज्ञानसे मोक्ष होता है । उक्त सभी विषयोकी सयुक्तिक मीमांसा करके स्याद्वाद विधिसे सभी विषयोका यथार्थ परिचय कराया गया है, जिसका यदि संक्षेपमें वर्णन किया जाय तो वह भी बहुत अधिक विवरण हो जाता है । इन सबको पाठकगण स्वय इन प्रवचनोका अध्ययन करके परिज्ञात करें । अन्तमे वस्तुस्वरूपको सिद्ध करने वाले तत्त्वज्ञानकी प्रमाणरूपता व एकाद्ध द नयसस्कृतता व तत्त्वज्ञानका फल, स्याद्वादका विवरण, केवल प्रत्यक्ष परोक्षके अन्तमें स्याद्वादकी केवल ज्ञानवत् सर्वतत्त्वप्रकाशकताका वर्णन करके वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेष्टाको ही आप्त होना सिद्ध किया है तथा आत्मकल्याणार्थी पुरुषोको सम्यक् उपदेश और मिथ्योपदेशकी विशेष जानकारी हो एतदर्थ इस आप्तमीमासाकी रचनेका आशय तार्किक चूडामणि श्री समन्तभद्राचार्यने बताया है ।

इस महान ग्रन्थके गूढतम महत्त्वको सरलतासे सर्वसाधारणोपयोगी प्रवचन द्वारा प्रकट करना अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी जी महाराजके प्रकाण्ड पाण्डित्यका सुमधुर फल है जिसे जैन मीमासकोकी उच्चतम कोटिमे विराजमान करनेका महाराज श्री ने प्रयास किया है । आशा है जैन समाज ही नही, विश्व समाज इस प्रयाससे लाभान्वित होगा ।

तत्त्वज्ञान–प्रभावित

व्याकरणरत्न, काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

सहारनपुर

आप्तमीमांसाप्रवचन १, २ भाग

[प्रथम भाग]

●

प्रवक्ता

(अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी)

●

अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नम. ।

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥

निश्श्रेयसशास्त्रके अवतरणमे आप्तमीमासाकी भूमिका—इस ग्रन्थ का नाम आप्तमीमासा है। श्री समन्तभद्राचार्यने मोक्षशास्त्रकी बहुत बडी व्याख्या की है जिसका नाम गधहस्ति महाभाष्य सुननेमे आता है। और, इस श्लोककी भूमिकामे जो विद्यानन्दस्वामीने बताया है कि ये सब स्तवन निश्श्रेयस शास्त्रकी आदि मे मगलाचरणरूपसे किया गया है। तो निश्श्रेयसके मायने है मोक्ष और निश्श्रेयस शास्त्रका अर्थ हुआ मोक्षशास्त्र। तत्त्वार्थसूत्रका मुख्य नाम मोक्षशास्त्र है क्योकि उसमे मोक्षके उपायोका वर्णन है अतएव उसे मोक्षशास्त्र कहते हैं। उस मोक्षशास्त्रकी बहुत बडी टीका करनेसे पहिले समन्तभद्राचार्यने मगलाचरण करना चाहा है। उससे पहिले चूकि वह श्रद्धा प्रधान और गुणज्ञ महापुरुष थे तो मगलाचरणके वर्णन करते करते यह आवश्यक समझा कि सम्यग्दर्शन जिस तत्त्व चिन्तनसे होता है उसका उपदेश देने वाले जो प्रभु हैं, जब तक प्रभुकी प्रभुता और निर्दोषता न जान ली जायगी तब तक प्रभुके वचनमे अभ्युपगम्यता व उपादेयता नही आ सकती है। इस कारण मंगलाचरण करनेके प्रसगमे आप्तकी मीमासा की गई है। जितने भी जो कुछ शास्त्र हैं वे आप्तसे प्रकट होते हैं। आप्त कहते हैं ऊँचे पहुँचे हुए पुरुषको। जो सर्वोत्कृष्ट पदपर पहुँचा है और धर्म सम्बन्धमे सर्वोत्कृष्ट विकसित हुआ है उसे आप्त कहते हैं। ऐसे आप्तपनेके सम्बन्धमे सभी दार्शनिक अपने अपने इष्ट देवताओको आप्त कहा करते हैं। अब यह जानना आवश्यक है किसी उपदेशको सुननेसे पहिले कि यह उपदेश

किस परम्परासे आया है । और, इस उपदेशके जो मूल स्रोत हैं वे निर्दोष हैं अथवा नही ? यदि उपदेशोंका मूल प्रसग सदोष है तो वहा उपदेश हितकारी नही हो सकता इस कारण यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम पहिचान जायें कि हमें जो उपदेश प्राप्त हो रहा है उस उपदेशके मूल आधार जो प्रभु वे निर्दोष हैं और गुण विकासमें परिपूर्ण हैं । इस ही बातको सिद्ध करनेके लिये यह आप्तकी मीमांसा चल रही है । प्रभुके गुणातिशयकी परीक्षण, परि समन्तात् ईक्षण निरखन कर रहे हैं पूज्य श्री समन्तभद्र । इससे ही यह सिद्ध होता है कि समन्तभद्राचार्यके श्रद्धाकी विशेषता थी और गुणज्ञताकी उनकी प्रकृति थी । क्योंकि यदि श्रद्धा और गुणज्ञता ये दो प्रयोजन उनके न होते तो इस प्रकारके शास्त्रकी रचना न बन सकती थी महाशास्त्र, मोक्षशास्त्रके अवतारमे प्रथम प्रथम जो स्तुति की गई है उस सम्बन्धमे यह समस्त ग्रन्थ देवागम स्तोत्र इस बातका निर्णय कराता है कि स्तुति करनेके योग्य कौन है जिससे कि सम्यक् उपदेशकी धारा बही हो । नमस्कारके योग्य और आदर्श वही पुरुष माना जाता है जिसके पदचिन्होंपर चलकर भक्त अपना कल्याणलाभ कर सकें, अन्यथा नमस्कारका कोई अर्थ ही नहीं । तो समन्तभद्राचार्य जो आप्तकी यहाँ आलोचना कर रहे, निरीक्षण कर रहे यह सब उनकी श्रद्धाकी प्रवृत्ति और गुणज्ञताकी प्रवृत्तिको प्रमाणित करता है ।

आप्तगुणज्ञ समन्तभद्रका, सप्रयोजन आप्तमहत्त्वके निरीक्षणका प्रयास—इसका प्रचलित नाम देवागमस्तोत्र भी है । इसका कारण यह है कि इस रचनामे सर्वप्रथम देवागम शब्द आया है । जैसे कि आदिनाथ स्तोत्रका प्रचलित नाम भक्तामर स्तोत्र है क्योंकि आदिनाथ स्तोत्रमे सर्वप्रथम भक्तामर शब्द आया है, पर विषय इसमे क्या है ? उस दृष्टिसे इसका नाम आप्तमीमांसा युक्तियुक्त विज्ञात होता है । आत्महित चाहने वाले मोक्षमार्गके अभिलाषी पुरुषोको यह अतीव आवश्यक है कि वे सम्यक् और मिथ्या उपदेशकी पहचान कर सके । जो पुरुष सच्चे और झूठे उपदेश की पहिचान नहीं कर सकते वे कल्याणमार्गमे चल ही नही सकते । तो सम्यक उपदेश और मिथ्या उपदेशकी जानकारी बने, इसके लिए आप्तमीमांसाको रचने वाले आचार्य श्रद्धा और गुणज्ञतासे गद्‌गद् होकर अपने हृदयमे उनके प्रति बडी पूज्यताका भाव रखते हैं और उस उल्लासमे यहाँ सर्वप्रथम यह कह बैठते हैं कि हे प्रभो ! तुम इस कारण बडे नही हो कि आपके पास देव आते हैं, आपका आकाशमें गमन होता है । आपपर चामर आदिक विभूतियाँ ढरता हैं । प्रभुके गुणोसे अत्यन्त परिचित समन्तभद्र देव सब जान रहे हैं यह मर्म कि प्रभु गुणोके कारण ही महान हैं । लेकिन प्राय लोग बाहरी बातोंको देखकर महान समझते हैं तो उसी गुणज्ञताके कारण यह कह रहे हैं कि इन बाहरी बातोसे तुम हमारे लिए महान नही हो क्योंकि ये बाहरी बातें तो मायावी पुरुषोमे भी देखी जा सकती हैं ।

आप्तपृष्टवत् समन्तभद्रका आप्तमहत्त्वके सम्बन्धमे आख्यान—इस रचनाके उद्भवका दूसरा वातावरण यह देखिये कि यह आप्तमीमासा ग्रन्थ एक महान दार्शनिक ग्रन्थ बन गया है और दार्शनिक क्षेत्रमे सब जीवोपर करुणाका भाव रखकर कि सभी जीव सत्यतत्त्वके ज्ञानी बनें, उस ढगसे जब वर्णन करने बैठते हैं तो एक साधारण रूपसे ऐसी घटना सी बना लेते हैं कि मानो बहुतसे दार्शनिक लोग जिनमे समन्तभद्र भी थे, समस्त आप्तोकी परीक्षा करनेके लिए चले और कल्पनामे लाइये कि आप्त कहने लगें - हम महान हम महान । तो बहुतोकी तो भेष भूषासे ही प्रभुत्वका निराकरण हो जाता है । कही वीतराग सर्वज्ञदेवकी ओरसे किसीने किसीसे कहा अथवा मानो मुद्रासे एक ऐसी बात उठी कि समन्तभद्र, तुम यहा वहा खोजते फिर रहे हो ? देखो, आओ शास्त्रके मूल प्रणेता यह हम हैं य । ही अपने भाव भरकर कृतज्ञ बनो । तो उस समय समस्त दार्शनिकोके साथ खडे हुये समन्तभद्र यह बोलते हैं कि हे प्रभो ! तुम महान हो हम यह कैसे समझें ? तो कहा गया कि देखो ना, हमारे पास इतने देवता आते हैं । आकाशमे मेरा गमन होता है । छत्रचामर बडी विभूतियाँ हमारे निकट हैं । तो इसोमे अदाज करलो कि यहाँ महत्ता है अथवा नही ? तो मानो उत्तर मे कहा जा रहा है कि प्रभु देवागम, नभोयान, चामरादिक विभूति इनसे मेरे लिये तुम महान नही हो । ये सारी विभूतियाँ जैसे भगवानमे पायी जाती हैं इसी प्रकार मायावी अनेक पुरुषोंमे विभूतियाँ देखी जा सकती हैं । कोई देव ऋषि सिद्धि करले जैसे कि मस्करी आदिकमें सुना गया है कि वहाँ तीर्थङ्कर जैसा वैभव ,अथवा समवशरण किसी समय दिखाया । तो ये सब बातें मायावियोंमें भी देखी जा सकती हैं इस कारण विभूतियो वाले होनेके कारण भगवान हम जैसे परीक्षाप्रधान पुरुषोके लिए महान नही हो सकते । जो आज्ञाप्रधान पुरुष होते हैं वे भले ही परमेष्ठी परमात्माका चिन्ह इन सब बातोसे समझलें कि बडे देव आते हैं, आकाशमे चलते हैं, छत्र चमर ढुलते हैं, इसको भले ही आज्ञाप्रधान लोग परमात्माका चिन्ह मानलें । किन्तु हम जैसे परीक्षाप्रधान लोग उनको परमात्माका चिन्ह नही मान सकते हैं क्योकि ये ये सब बातें मायावी पुरुषोमे भी हो सकती है ।

देवागमादि हेतुकी प्रभुमहत्ता सिद्ध करनेमे विपक्षवृत्तिता—अब इस समय दार्शनिक पद्धति होनेके कारण कोई ऐसा अनुमान बनाता है कि मोक्षमार्गके प्रणेता ये भगवान स्तुतिके योग्य और महान हैं, क्योकि अन्यथा अर्थात् इतने महान न होते तो देवोका आना, आकाशमे जाना, चमर आदिक विभूतियोसे सम्पन्न होना यह बात नही बन सकती थी । समाधानमे कहते हैं कि इस अनुमानमे जो हेतु दिया गया है यह हेतु आगम आश्रित है अर्थात् इसमे युक्ति कुछ नही है । आगममे भी लिखा है कि भगवानके पास देव आते हैं, उनका आकाशमें गमन होता है, ये सब वर्णन आगम में पाये जाते हैं तो उसका ही आश्रय लेकर यह हेतु दिया है । दार्शनिक पद्धतिमें 'आगममें लिखा है" इस बातका महत्त्व नही दिया जाता, क्योकि वहाँ सभी प्रकारके

दार्शनिक बैठे हो उस सभामे किसी भी आगमको प्रमाणिक तो नही माना जा सकता, प्रत्येक दार्शनिक अपने-अपने आगमको प्रमाण मानता है। तो आगमके आश्रय हेतु होनेसे हेतुकी प्रतिष्ठा नही होती क्योंकि जो आगमके आश्रित हेतु है उसे प्रतिवादी प्रमाणरूपमे नहीं मान सकता। जैन लो अपने आगमका कोई प्रमाण उपस्थित करें जिसमें अनुमान अवयव न हो तो उसको कोई दूपण न मानेगा और आगमका प्रमाण न उपस्थित करे, किन्तु कोई दलील देकर साध्य सिद्ध करे, तो वह बात दर्शनिकक्षेत्र मे मानी जा सकती है। तो यह हेतु कि चूँकि देव आते हैं, आकाशमे चलते हैं, इस कारण ये भगवान महान हैं, यह हेतु प्रतिष्ठा नही पाता। साथ ही साथ यह हेतु अने-कान्तिक दोषसे दूषित है और यह अनैकान्तिक दोष जिस आगमका आश्रय लेकर हेतु दिया है उस आगमसे ही प्रसिद्ध है। जो हेतु पक्ष, सपक्ष, विपक्ष तीनोमे रहे अथवा पक्षकी तरह विपक्षमे भी रहे उस हेतुको अनैकान्तिक हेतु कहते हैं। तो जैसे देवागम आदिक चिन्ह भगवानमे बताये जा रहे हैं इसी प्रकार मायावी पुरुषोमें भी पाये गए ऐसा भी वातावरण आता है इस कारण यह हेतु अनेकान्तिक दोषसे दूषित है और इस हेतुसे प्रभु आपकी महत्ता सिद्ध नही हो सकती है।

मायावियोमे वास्तविक विभूति न होनेके कारण मायावियोंके साथ व्यभिचारके अभावकी शङ्का—कोई कहे कि वास्तविक ढङ्गके देवागम आदिक विभूतियाँ जैसी प्रभुके होती वैसे वैभव मायावियोमे तो नही पाये जाते क्योंकि माया से दिखाई हुई विभूतिमें और वास्तविक विभूतिमे अन्तर है। तो प्रभु तो वास्तविक विभूतियोसे युक्त हैं तो परमार्थ विभूतिमत्त्वका मायादर्शित विभूतिमत्त्वके कारण मायोपदर्शित वैभवान मायावियोके साथ व्यभिचार नही आ सकता है। यदि इस तरह व्यभिचार आने लगे तो कही सच्चा धूम दिख रहा है और उससे अग्निकी सिद्धि होती है और कोई स्वप्नमें धूम दिखे तो वहाँ तो अग्नि नही है। तो इस तरहसे तो सच्चे धूमसे भी अग्नि दीखे तो उसे भी मिथ्या कह दिया जायगा। जब स्वप्नमे दीखे हुए धूमसे कही अग्नि वहाँ हाजिर नही हो जाती है तो फिर सच्चे दीखे हुए धूमसे भी अग्नि सिद्ध न होना चाहिए। तो जैसे यह भेद कर देते हैं कि वास्तविक धूम हो तो वहाँ अग्नि जरूर है पर मायारूप धूम हो तो वहाँ अग्नि नही है तो ऐसे ही यहाँ भेद कर देना चाहिए कि वास्तविक विभूति हो वहाँ महत्ता है और मायासे दिखाई गई विभूति हो तो वहाँ महत्ता नही है। यदि इस तरह न मानोगे तो सभी अनुमानोमें दोष आ पडेगा और फिर कोई अनुमान ठीक रह ही न सकेगा।

उक्त हेतुके अव्यभिचरित होनेकी उक्त आशंकाका समर्थन—शंकाकार की बात सुनकर द्वितीय शंकाकार अथवा शंकाकारका ही समर्थक दूसरा पुरुष बोलता है कि फिर मत हो इस हेतुका व्यभिचार अर्थात् इस श्लोकमें यह कहा गया है कि देव आते हैं आकाशमे गमन होता है, छत्र चामर विभूतियाँ भी महान हैं इस कारणसे

प्रभु आप महान हो। प्रभुकी महत्ता सिद्ध करनेमे जो देवागम आदिक हेतु दिए है उन हेतुवोका व्यभिचार नही है अर्थात् जैसी वास्तविक विभूतियाँ देवागम आदिक प्रभुकी हैं उसी प्रकार मायावियोके नही पाई जाती, अतएव यह हेतु व्यभिचारित नही है। और, इस ग्रन्थका भी शब्दोकी दृष्टिसे अर्थ लगाया जाय तो यह अर्थ निकलता है—मायाविस्वपि दृश्यन्ते न, अत त्व महान् असि। याने ये विभूतिया मायावियोमें देखी नही जाती इसलिए तुम महान हो। जैसे कोई कहता है कि जावो मत रुको। तो इसका क्या यह अर्थ नही लगाया जा सकता कि जावो मत, रुको। तो इसमे न शब्द जो बीचमे पडा हुआ है जिसका कि अर्थ यह लगाया था कि ये विभूतियाँ मायावियोमे भी देखी जाती हैं इस कारण आप महान नही हो। तो उस न को यहाँ लगा दिया कि ये विभूतियाँ मायावियोमे देखी जाती नही, इसलिए तुम महान हो तो इस श्लोकसे विरोध भी नही होता। और, इस आज्ञाप्रधान भक्तिकी बात समर्थित हो जाती है कि प्रभु इस कारण महान है कि देव आते हैं, आकाशमे गमन होता है आदिक कारणोंके।

देवागमादि मायावियोमे अव्यभिचरित होनेका अनिर्णयरूप समाधान देते हुए प्रकृत बातकी सिद्धि—अब उक्त शकाके समाधानमें कहते हैं कि इस श्लोक मे कहा गया हेतु विपक्षमे नही जाता, यह बात किस आधारपर जानी गई है ? बात यह है कि आपके कथनसे भी यह बात ज्ञात होती है कि ये विभूतिया मायावियोमें भी पाई जाती हैं। इसका ही मतलब है कि विपक्षमे भी उक्त हेतु पाया जाता है। जो प्रभु नही है, अप्रभु हैं उनमे भी ये विभूतियाँ पाई जाती है। इसलिये विपक्षमें हेतुके पाये जानेसे हेतु सदोष है। अब शंकाकार यह कह रहा है कि हेतु विपक्षमे नही जाता अर्थात् वास्तविक देवागम आदिक, ये विपक्षमे नही पाये जाते। तो यह बात कही जाती है कि यह हेतु विपक्षमे नही पाया जाता यह कैसे जाना जाय। प्रत्यक्षसे तो जान नही सकते कि यह वास्तविक विभूति है अथवा नही। यद्यपि ऐसा कुछ कहा जा सकता है कि प्रभुके निकट कल्पवासी देव, सम्यग्दृष्टि देव इन्द्र आदिक देव आते है, और उस आधार पर कोई यह कह बैठे कि जिस तरहके सम्यग्दृष्टि देव इन्द्र आया करते हैं उस तरहके देव इन्द्र मायावियोकी सेवामें नही आते। वहाँ क्षुद्र देव ही आते हैं। लेकिन इसका निर्णय कौन करे कि यह क्षुद्र देवकी रचना है और सम्यग्दृष्टि देवसे सम्बन्धित नही है। तो प्रत्यक्षमे नही जाना जा सकता कि देवागमादिक वास्तविकी विभूति मायावियोमे नही पायी जाती। और, अनुमानसे भी नही जाना जा सकता कि देवागमादिक वास्तविकी विभूति मायावियोमे नही है, क्योकि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो ही वास्तविक और अबाधित देवागम आदिकके निर्णय करनेका विषय नही करते। यदि कहो कि हमने यह सब बात आगमसे जान रखी है तो आगमकी तो प्रमाणता सिद्ध नही है। कौन सा आगम प्रमाण है, कौन सा उपदेश वास्तविक है इसीके निर्णयके लिए तो ग्रन्थका आरम्भ हो रहा है। इस आरम्भके समयमे क्या बताया जा

सकता है कि वास्तविक उपदेश कौन सा है ? यदि असिद्ध प्रमाण वाले आगमसे इस हेतुकी सिद्धि मान ली जायगी तो आगम तो सभी दार्शनिकोंके अनेक प्रकारके हैं, उनसे निषेध भी हो जायगा क्योंकि अब तो असिद्ध प्रामाण्य आगमको भी मान्यता दे दी गई जो प्रमाणसे सिद्ध हो, जिसकी प्रमाणता सिद्ध हो, जिसकी प्रमाणता प्रमाणसे साबित कर रखी हो उसी आगमसे यदि हेतुकी प्रतिपत्ति मानते हो तो उस ही आगम प्रमाणसे साध्यकी प्रतिपत्ति भी मानो । अनेक परिश्रम करनेसे क्या लाभ ? इस कारण यह बात बिल्कुल उचित कही गई है कि देवागम, नभोयान, चामर आदिक विभूतियाँ इनसे तुम मेरे महान नही हो, क्योंकि ये सब हेतु आगमाश्रित हैं । आगममें यह बात लिखी है इसकी प्रमाणता अन्य लोगोंको प्रतिवादी जनोंको नही बतायी जा सकती । आज्ञाप्रधान हो खुद अपने आप मनमें जो चाहे प्रमाण समझता रहे, पर दार्शनिक क्षेत्रमे, विद्वानोंकी गोष्ठीमे तो जो बात युक्तिसिद्ध हो उसकी ही प्रतिष्ठा हो सकती है । यहाँ तक यह सिद्ध किया कि देवता लोग आते हैं, आकाशमे चलते हैं, निकटपर छत्र चमरकी विभूतियाँ शोभायमान हैं इन बातोंके कारण प्रभु, मेरे लिए तो महान नही हो । तो मानो अब प्रभु ही ऐसा पूछ रहे हो कि फिर हमारे देहका जो अंतरङ्ग और बहिरङ्ग अतिशय है जो अन्यजनोमे नही पाया जा सकता उस सत्य अतिशयके कारण तो मैं स्तुतिके योग्य हूँ और महान हू । क्यो न समंतभद्र इस तरहके मानो पूछे गए समन्तभद्र उत्तरमें कहते हैं कि—

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदय ।
दिव्य सत्य दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स ॥२॥

विग्रहादिमहोदयसे शरीरातिशयादिसे भी प्रभुता, महत्ता न होनेका निरूपण—अध्यात्म शरीर आदिकका अतिशय और बहिरङ्ग अतिशय वह यद्यपि दिव्य है, विलक्षण है । सत्य है फिर भी वह रागादिमान देवोंमें तो पाया जाता है इस कारण शरीरके अतिशयसे भी प्रभु, आप महान नही हो । अध्यात्मका अर्थ है जो आत्माको याने अपने आपको अधिश्रित करके वर्तमान हो उसे अध्यात्म कहते हैं । किसी भी वस्तुका अध्यात्म क्या है ? वस्तुस्वरूपके अन्दर जो बात पायी जाती है उसे अध्यात्म कहते हैं । अध्यात्मका अर्थ यहाँ अन्तरग है । देहका अध्यात्म अतिशय क्या है ? इसका अर्थ है कि देहमें खुदमें ही निजमें अलौकिकता क्या पायी जाती है ? वही है देहादिकका अध्यात्म अतिशय । जैसे कि पसीना न आना मल मूत्र नही होना, प्रभुके देहमें कभी पसीना नही आता, मलमूत्र नही होता । तो ये अतिशय सर्व साधारणजनोंमे कहाँ पाये जाते हैं । तो है ना यह प्रभु शरीरका अन्तरग अतिशय ? यह अतिशय अन्तरग इस कारण कहलाता है कि यह किसी भी परकी अपेक्षा नही रखता इसके अतिरिक्त कुछ बाहरी अतिशय भी प्रभुके निकट हैं । जैसे गधोदककी वृष्टि होना, देवों द्वारा पुष्पवृष्टि होना आदिक बहिरग अतिशय हैं । ये बहिरग क्यों कह-

लाते कि ये देवोके द्वारा किए जाते हैं। तो प्रभुका अध्यात्म अतिशय तो हुआ देहका परमौदारिक होना, स्फटिक मणिकी तरह स्वच्छ होना। मलमूत्र पसीना आदिकसे रहित होना, छाया भी न पडना, आंखोकी पलकें न झुकना आदिक ये अन्तरग अतिशय हैं। ये शरीरमे शरीरके ही कारण होते है। और, वहिरङ्ग अतिशय हैं। वे जिन्हे देवलोग करते हैं। सुगधित जल वरषाना, सुगधित पुष्प वरषाना आदि। ये अन्तरग और वहिरग अतिशय पाये तो जाते है सकल परमात्माके और वे सही हैं याने वे मायावियोमे नही होते। मायावी पुरुष भले ही किसी कुदेव को सिद्ध करके उस कुदेवके द्वारा कुछ चमत्कार रचा दें लेकिन इससे उनके देहमे यह दिव्यता तो नहीं आ सकती तो ये अन्तरग वहिरग अतिशय सत्य है। मायावियो मे नही होते और दिव्य हैं। मनुष्योके महाराजाओमे भी नही हो सकते। सो इस इस प्रकार ये अतिशय वहिरग और अन्तरग शरीरके महान उदय वाला अतिशय मायावियोमे पूरण मस्वरी आदिकमे नही हुए, फिर भी यह हेतु, यह अतिशय व्यभिचारी है अर्थात् प्रभुके अलावा अन्यत्र भी पाये जाते हैं। देवोका शरीर वैक्रियक होता है। उस वैक्रियक शरीरमे भी भी मलमूत्र पसीना नही होता, कोई व्याधि नही होती, उसकी छाया भी नही पडती। उनके भी नेत्र टिकोरे नही जाते। तो ऐसे अतिशय उन देवोके भी पाये जाते हैं, लेकिन वे क्षीणकषाय तो नही है, कषायवत है, रागादिमान हैं अतएव वे आप्त भी नही हैं ये देवगतिके जीव भी ससारी जीव है तो ये अन्तरग वहिरग शरीरका अतिशय रागादिमान देवोंमें भी पाया जाता है इस कारण यह भी हेतु व्यभिचारी है।

प्रभुके महत्त्वकी सिद्धिमे विग्रहादिमहोदय हेतुके अव्यभिचरित होने की शका— अब शकाकार कहता है कि घातियाकर्मके क्षयसे होने वाला जैसा शरीर का अतिशय भगवानमें पाया जाता है वैसा अतिशय देवोमे नही पाया जाता। यद्यपि देवोका वैक्रियक शरीर भी मलमूत्र पसीनासे रहित है और अरहत भगवानका परमौदारिक देह भी मलमूत्र पसीना आदिकसे रहित है। लेकिन साधन तो देखिये कि देवोका वह शरीर तो भव प्रत्यय है। देवभवमे जानेपर शरीर ही वैक्रियक मिलता है। उसमे कर्म क्षयकी वात नही है। लेकिन अरहन्त भगवानका परमौदारिक देह घातिया कर्मोंके क्षयमे बनता है। तो घातिया कर्मोंके क्षयसे होने वाला जैसा अतिशय भगवानमे है वैसा अतिशय देवोमें नही पाया जाता इस कारण यह हेतु अनैकान्तिक नही हो सकता। और, यह जो इलोक कहा गया है इस इलोकमे भी थोड़े अर्थका हेर फेर कर देनेसे कुछ कुछ यह अर्थ भी ध्वनित हो जाता है। जैसे कि ये अन्तरग वहिरग शरीरातिशय देवोमे हैं, पर रागादिमानोमें नहीं हैं। दो हिस्से कर देनेसे इस इलोकका भी विरोध नही आता है। अत. मान लेना चाहिए कि प्रभु इस शरीरके अतिशयसे महान कहलाते हैं।

आगमाश्रित हेतुकी दार्शनिक क्षेत्रमे अप्रतिष्ठा होनेसे हेतुके अव्यभिचरित न होनेका समाधान—अब उक्त शकाके समाधानमे कहते है कि यह शका करना असगत है। कारण यह है कि जो कुछ भी तुम बोल रहे हो हेतु, वह आगमाश्रित है। आगममे कोई बात लिखी है इतनेसे प्रमाणता नही आ सकती दार्शनिक क्षेत्रमें। आज्ञाप्रधानताके साथ साथ और अनेक युक्तियोसे सबसे पहिले आगम प्रसग की प्रमाणता सिद्ध हो ले तो प्रमाणता आगममे बताकर आगमके अनुसार बात मान ली जा सकती है। पर अभी तो आगमकी प्रमाणता ही सिद्ध नही हुई है। जब आप्त सिद्ध हो ले तब आगमकी प्रमाणता सिद्ध होगी याने आगमके मूल प्रणेता जब निर्दोष गुण सम्पन्न सिद्ध हो लें तभी तो आगममें प्रमाणता आयगी। उससे पहिले तो आगम की दुहाई देकर भगवानकी महत्ता नही सिद्ध की जा सकती। तो यह हेतु आगमाश्रित होनेसे अहेतु है।

प्रमाण सप्लवका आधार बताकर आगमश्रित हेतुमें हेतुत्वके समर्थन की आशका—शकाकार कहता है कि देखो प्रमाण सप्लववादियोंके प्रमाण प्रसिद्ध प्रामाण्य वाले आगमसे साध्यकी सिद्धि मानी गई है। और उस आगममे प्रसिद्ध साधन से उत्पन्न हुए अनुमानसे फिर उसका परिज्ञान करना अविरुद्ध ही है। यह फिर कैसे कहते हो कि आगमके आश्रित जो हेतु है वह हेतु अहेतु कहलाता है। आगममें बताया हुआ हेतु अहेतु कैसे हो जायगा? अन्यथा प्रमाण सम्प्लवका अर्थ ही क्या हुआ? देखो पहिले प्रमाणसे आगममें प्रमाणता सिद्धकी और प्रमाण सिद्ध आगममे बताये गए हेतुसे, प्रसिद्ध अनुमानसे वस्तुकी या आगमकी प्रतिपत्तिकी तो आगमाश्रित हेतु विरुद्ध कैसे कहलायेगा? अहेतु कैसे कहलायेगा?

उपयोग विशेषके अभावमे प्रमाण सम्प्लवकी अमान्यताका समाधान—उक्त शकाके समाधानमें कहते हैं कि यदि उपयोग विशेषका अभाव होता है उससे कोई नई बात नही विदित होती है, उसका कोई उपयोग नही बनता है, तो प्रमाण सम्प्लव भी अमान्य हो जाता है। किसी एक वस्तुमे अनेक प्रमाण लगाये जावें उसे प्रमाण सम्प्लव कहते हैं। देखो यह बात इस प्रमाणसे सिद्ध है और देखो इससे भी सिद्ध है। यो एक वस्तुमें अनेक प्रमाणका लगाना इसे प्रमाण सम्प्लव कहते हैं। तो देखो आगमकी प्रमाणता प्रसिद्ध की और आगममें लिखा है वह साध्य, फिर हेतुसे साध्यकी सिद्धि की सो आगमके लिखे हुए हेतु भी अहेतु कैसे हो जायेंगे? यह जो शकाकारने कहा था और उसमें प्रमाण सम्प्लव और आगमकी बात कहकर हेतुको अहेतुत्वसे बचानेका प्रयास किया था, उस सम्बन्धमें यह निर्णय है कि कई प्रमाण देने पर भी यदि उन सब प्रमाणोका कोई उपयोग विशेष है, दृढ़ता आये, कोई नवीनता ज्ञात हो तो प्रमाण सम्प्लव मान्य है अन्यथा प्रमाण सम्प्लव भी मान्य नहीं है। जानने वालेका उपयोग विशेष बने तो देखो देश आदिक विशेषके अवधारणसे जिसमें

देश आदिक विशेष बातोका समवधान किया गया है। वर्णन किया गया है ऐसे आगमसे जान लिया प्रभुको और फिर वह अनुमानसे भी जानता है तो वह बात ठीक है। आगमसे बताकर फिर अनुमानसे बताया जाय, तो इसमे क्या हुआ कि उनको आगमका कथन दिखाया, उसमे दृढता न थी तो अब अनुमानसे दिखाया। तो बातका निश्चय तो अनुमान द्वारा बना, आगम द्वारा नही बना। तो ऐसी जगहमे जहा कि उपयोग विशेष बने प्रमाण सम्प्लव मान लिया जाता है, लेकिन जहाँ ज्ञाताका उपयोग विशेष न होता हो वहा प्रमाण सम्प्लव अमान्य है। जैसे कही धूम देखनेसे अग्निका अनुमान किया गया कि यहा अग्नि होनी चाहिए धूम होनेसे। तो साधनसे साध्यका ज्ञान कर लिया, धूम देखकर अग्निका ज्ञान कर लिया। अब इसके बाद आगे चलकर उस धूमको साक्षात् देख लिया तो यहा प्रमाण सम्प्लव तो हुआ याने जिस अग्निको पहिले अनुमानमे जाना था उस अग्निको अब चाक्षुष प्रत्यक्षमे जाना जा रहा है लेकिन यहा उपयोग विशेष तो बना, अब प्रत्यक्ष द्वारा जो अग्निका ज्ञान किया जा रहा है वह दृढतम ज्ञान हुआ विशद ज्ञान हुआ। अनुमानका ज्ञान अविसद था क्योकि अनुमान परोक्षप्रमाण है और अब चाक्षुप प्रत्यक्षसे अग्निका ज्ञान हुआ तो कोई उपयोग विशेष बने तब प्रमाण सम्प्लव मान्य होना है। केवल आगम मात्रसे गम्य साधन और साध्यमे कोई ज्ञान विशेष न बना, उपयोग विशेष न हुआ। कोई बात केवल आगमसे ही बता दी गई तो वहाँ ज्ञान विशेष नही होता। तब फिर कुछ निराकरणमें या समर्थनमें यहाँ प्रमाण सम्प्लवकी बात क्या ठहर सकती है। हाँ जहाँ उपयोग विशेष हो, परिज्ञान विशेष हो वहाँ प्रमाण सम्प्लव मान्य है जैसे कि अनुमानसे निश्चित की गई अग्निका फिर चाक्षुष प्रत्यक्षसे आँखोने साक्षात् देखा तो इस ज्ञानमें विशदता है, दृढता है, प्रमाण सम्प्लव दोपके लिए नहीं हुआ।

विग्रहादिमहोदयसे भी प्रभुता व महत्ताके अभावके कथनकी सिद्धि आगममें हेतु बताया गया है, केवल इस बुनियादपर साध्यको सिद्ध किया जाय तो यह सिद्ध नही हो सकता, क्योकि आगमकी प्रमाणता अभी प्रमाणसे प्रसिद्ध नही है। जब तक प्रमाणसे आगमका प्रामाण्य सिद्ध न हो पा ले तब तक उस आगमके आधारपर किसी भी बातकी सिद्धि नहीं की जा सकती। जैसे कि देवता आते हैं, आकाशमे गमन होता है, चामर आदिक विभूतियाँ प्रभुके निकट हैं ऐसा हेतु देकर जिसका कि वर्णन आगममे किया है उस आगमका उपदेश मात्रका हेतु देकर प्रभुकी महत्ता सिद्ध नही की जा सकती है इस ही प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शरीरादिकका अतिशय दिखाकर कि देखो मलमूत्र स्वेद रहित दिव्य शरीर मायावियोके तो नही बन सकता, ऐसे अन्तरङ्ग शरीरका अतिशय दिखाकर भी प्रभुकी महत्ता सिद्ध नही की जा सकती, क्योकि यह भी वर्णन आगमाश्रित है। और, जो आगमाश्रित हेतु है वह दार्शनिको की दृष्टिमें प्रतिवादीकी दृष्टिमें प्रमाणभूत नहीं है तो अप्रमाण आगमसे,, उसमे बताये गए हेतुसे किसी साध्यकी सिद्धि नही की जा सकती। तो यहाँ भगवान परमात्मा

अन्तरङ्ग शरीरके अतिशय भी स्तवन करनेके योग्य याने महान नही है। हे भगवान ! तुम मेरे लिए देवागम आदिकके कारण पूज्य नहीं हो, महान नहीं हो, इसी प्रकार देहके अन्तरङ्ग अतिशयोके कारण भी आप महान नहीं हो। यद्यपि भगवानके औदारिक दिव्यदेहमें जो अतिशय उत्पन्न हुआ है वह कर्मोदयसे नहीं हुआ, किन्तु उत्पन्न हुआ है। यद्यपि नाम कर्म मौजूद है फिर भी जो अतिशय हुआ है उसका कारण है घातिया कर्मका विनाश। तो भले ही हो घातिया कर्मके विनाशसे हुए देहकी दिव्यता, और देवोमें दव आयु, देवगति, वैक्रियक शरीर आदिक कर्मोसे उत्पन्न दिव्यता हो, फिर भी यह तो परख हो लिया जाता है कि जैसे मलमूत्र स्वेद आदि देहमें नहीं है इसी प्रकार देवोंके भी देहमें नहीं हैं तब यह हेतु विपक्षमें चला गया। अतएव अन्तरङ्ग देहातिशयसे भी भगवान तुम हम आप लोगोंके लिए स्तुत्य नहीं।

आप्तत्व सिद्धिके प्रसगमें तृतीय प्रश्नकी भूमिका— अब तक भगवानकी ओरसे कहे गये दो प्रश्नोका उत्तर समन्तभद्राचार्यने दिया। पहिला तो यह प्रश्न था कि देवता लोग आते हैं और अनेक अतिशय होते हैं इस कारण मैं महान हू। तो समन्तभद्रका उत्तर था कि इन कारणोसे आप महान नहीं हो। दूसरा प्रश्न था कि हमारा शरीर अध्यात्म अतिशयसे युक्त है पसीना आदि दोषोसे रहित है इसलिए हम महान हैं स्तुति करने योग्य हैं, तो इसका उत्तर दिया कि इस कारणसे भी आप महान नही हो। तो अब मानो भगवानकी ओरसे एक और प्रश्न आ रहा है—तो मैं इसलिए महान हूँ कि मैंने एक तीर्थ चलाया है। मैं तीर्थङ्कर (तीर्थ-कर) कहलाता हूँ। एक धर्म चलानेके कारण, एक सम्प्रदाय बनानेके कारण मैं स्तुतिके योग्य हू और महान हूँ ? इस प्रश्नपर समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥ ३ ॥

तीर्थसम्प्रदाय चलानेके कारण सबमे ही आप्तपनेकी सिद्धिका अभाव— तीर्थकृतोंके समयोमे सिद्धान्तोमे परस्पर विरोध होनेसे उन सबके आप्तपना नही है, उनमें कोई ही गुरु हो सकता है। तीर्थकर होकर एक तीर्थ चलाया है और तीर्थकरताके कारण भी हे प्रभो ! तीर्थ चलानेके कारण कोई आप्त तो हो सकता है हम यह जानते हैं लेकिन तीर्थ चलाने वाले तो अनेक लोग हैं। सबने अपना-अपना धर्म चलाया है, लेकिन उन सब तीर्थंकरोंके धर्ममे शासनमे बताये हुए स्वरूपमें परस्पर विरोध है, इस कारण समस्त तीर्थकरोके आप्तता नही कही जा सकती है। यदि जिन महापुरुषोने तीर्थ चलाया एक एक धर्म सम्प्रदाय चलाया है वे सब आप्त हों यह बात सम्भव नही है। हां उनमेसे कोई ही एक गुरु हो सकता है यहां भगवानकी आप्तता सिद्ध करनेमें जो तीर्थकरपनेका साधन कहा गया है सो पहिले तो यही विचार करें।

तीर्थंकरता रूप साधन किस प्रमाणसे सिद्ध है ? प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो सिद्ध हो नही सकता क्योंकि प्रत्यक्षका यह विषय नही है कि तीर्थंकरताके रहस्यको जान सके, साध्यकी तरह । जैसे कि इसप्रयोगमे यह प्रभु महान है, इस महता की सिद्धि प्रत्यक्षसे नही होती है इसी प्रकार तीर्थंकर होनेके कारण महान है, इस तीर्थंकरताकी भी सिद्धि प्रत्यक्षसे नहीं होती, और अनुमानसे भी इस साधनकी सिद्धि नही है, क्योंकि साध्यका अविनाभावी लिङ्गका अभाव होनेसे । साध्य है यहाँ महत्त्व । ये प्रभु महान हैं, ये आप्त है इस प्रकार महत्त्व साध्यकी सिद्धि कर सकने वाले महत्त्वका अविनाभाव लिङ्ग नही है यह तीर्थंकरता । अब शकाकार कहता है कि यह बात आगमसे तो सिद्ध हो जाती है । आगममे वर्णन है, तीर्थंकर होते हैं, उनके कल्याणक होते हैं, इद्र उत्सव मनाता हैं, तो आगममे जब तीर्थंकर होनेका वर्णन है तो उससे तीर्थंकरता की सिद्धि तो हो जायगी और तीर्थंकरपना सिद्ध होनेसे महत्ता सिद्ध हो जायगी । उत्तरमे कहते हैं कि आगमसे यदि तीर्थंकरपनेकी सिद्धि मानते हो तो वह तो आगमाश्रय है । उस आगममें प्रमाणता कहाँ है अभी । जो आगमके आश्रय हेतु होता है हेतुकी दार्शनिक क्षेत्रमें प्रतिष्ठा नही होती, क्योंकि कोई अपने माने हुए आगमका हेतु दे और उसे दूसरा न माने तो सिद्धि तो न हो सकी । तो आगममे लिखा है कुछ वह प्रमाण देकर किसीको अपना मतव्य सिद्ध कर सके सो बात नही बन सकती है । यह तो केवल श्रद्धालु पुरुषोके बीचकी बात है । एक ही मतके श्रद्धान करने वाले लोग हैं वे आपसमें भले ही आगमका प्रमाण देकर दूसरेको कुछ समझायें, लेकिन आगमकी प्रमाणताको तो दूसरे लोग, प्रतिवादीजन नही मान सकते । तो इस हेतुसे यदि महत्ता सिद्ध करना चाहते हो तो यह हेतु आगमाश्रित है, आगममें लिखा , केवल इतने मात्रसे सिद्ध किया जा रहा है, तो आगमाश्रय होनेसे हेतु अगमक रहा । साध्यको सिद्ध करनेमे समर्थ न रहा ।

प्रभुमहत्ताकी सिद्धिमे दिये गये हेतुमे व्यभिचार—तीर्थ सम्प्रदाय चलानेके कारण प्रभु महान है यो प्रभुमहत्ता सिद्ध करनेमे दिये गये हेतुमे व्यभिचार दोष भी आता है । अर्थात् जो हेतु विपक्षमे रहे उसे व्यभिचारी हेतु कहते हैं । यहा साध्य है किसी महानकी आप्ततामहत्ता सिद्ध करना नहीं और हेतु दिया जा रहा है कि वह तीर्थंङ्कर है तो तीर्थंङ्करपना आप्तपनेको सिद्ध करता । यद्यपि तीर्थंङ्करपना इन्द्रादिकमे नही मौजूद है इसलिए जैसे कि पहिले दो छन्दोमे बताया है कि अन्तरग शारीरिक अतिशय देवोके भी है इस कारण वह हेतु व्यभिचारी है । तो यह तीर्थङ्करपना देवेन्द्रोमे भी पाया जाता हो और उससे फिर व्यभिचारी कहा जा रहा हो यह बात तो नही है । लेकिन सुगत कपिल आदिक अनेक ऋषियोको लोग अपना तीर्थंङ्कर कहते हैं । पर उनमे आप्तता तो नही है । भक्तजन उन्हे तीर्थंङ्करपना तो मानते हैं, पर वे आप्त तो नही हैं, क्योंकि उनके सिद्धान्तोमे परस्पर विरोध है इसलिए तीर्थंङ्करपना यह हेतु व्यभिचारी हेतु है । जैसे कि तीर्थंङ्करका आगम, तीर्थंङ्करपने

का उपदेश जैन शासनमे भगवानके माना जाता है उसी प्रकार तीर्थङ्करपनेका शासन, साधन, धम सुगत आदिकमे भी माना जाता है। सुगत तीर्थङ्कर हैं, कपिल तीर्थङ्कर है आदिक आगम पाये तो जाते हैं। जिन्होने जो शास्त्र माना है वह उनका आगम कहलाता है। तो जो जो भी किसी आगमको, समयको रच दे वह भी महान आप्त व स्तुत्य हो जायगा। कोई कहे कि हो जावो महान। सुगत भी बडे हुए, कपिल भी बडे हुए, जैन तीर्थङ्कर भी बडे हुए तो हो जायें बडे इसमे तो कुछ आपत्ति नहीं है। ठीक है, आपत्ति तो कुछ नही, लेकिन वे सभी सर्वज्ञ तो नहीं हैं। सर्वज्ञ क्यों नहीं कि उनके बताये हुए उपदेशमें, शासनमें, परस्पर विरोध पाया जाता है। तो परस्पर विरुद्ध समयके बताने वाले होनेसे वे सब सर्वदर्शी तो नही हो सकते क्योकि सब लोगोंके बीच कहकर तो देखो—कोई यदि कहेगा कि सुगत सर्वज्ञ है तो दूसरा यह भी कहेगा कि कपिल सर्वज्ञ क्यो नही है ? इसमें क्या प्रमाण है कि सुगत सर्वज्ञ हो और कपिल सर्वज्ञ न हो ? यदि कहो कि दोनो ही सर्वज्ञ हो जायेंगे तो फिर दोनोंमे मतभेद क्यो ? यदि सर्वज्ञ दोनो हैं तो सर्वज्ञताके नातेसे दोनोका कथन एकसा होना चाहिए। जिन्होंने सबको जान लिया वे जो उपदेश करेंगे तो जितने भी सर्वज्ञ होंगे। जिन्होंने सबको जान लिया उन सबका उपदेश एक समान होगा। यदि वे दोनो ही सर्वज्ञ मान लिये जाते हैं तो यह बतलावो कि उन दोनोंमें मतभेद कैसे हो गया ? तो इस तरह यह हेतु व्यभिचारी है अनैकान्तिक है। तीर्थंकर होनेसे कोई आप्त हो जाता है महान हो जाता है यह बात सिद्ध न हो सकी। तीर्थङ्करका अर्थ है जो तीर्थको चलाये, धर्मको चलाये। धर्मका चलाने वाले पचासो लोग हैं तो वे सभी आप्त तो नही हो सकते। और, मान लो कि सब आप्त हैं तब फिर उनके वचनोमे परस्पर विरोध क्यो रहा ? इससे तीर्थङ्करत्व नामका हेतु अनैकान्तिक दोषसे दूषित है, अतः मात्र तीर्थङ्करत्व हेतु किसीके भी महत्वको सिद्ध नही करता। तब फिर बतलावो कि फिर कोई तीर्थङ्करताके नातेसे गुरु महान हो जायगा क्या ? नही हो सकता।

श्रुतिसम्प्रदायोमें भी परस्पर विरोध होनेसे गुरुत्वका अभाव—अब मौका देखकर सर्वज्ञ न मानने वाले लोग (मीमांसक) यहाँ अपना मतव्य समर्थित करते हैं कि वाह—वाह, आप ठीक ही कह रहे हो। तीर्थङ्कर होनेके कारण कोई आप्त नही हो सकता है कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, महान् नही हो सकता इसीलिए तो हम बार—बार कहते जा रहे हैं कि दुनियामें कोई पुरुष सर्वज्ञ है ही नही। कोई सर्वज्ञके नाते स्तुतिके योग्य नहीं हैं क्योंकि क्या जरूरत हैं सर्वज्ञकी मान्यताकी? हो भी नही सकता कोई सर्वज्ञ और सर्वज्ञकी मान्यताकी कुछ आवश्यकता भी नही है। कारण यह है कि जो कल्याणक चाहने वाले पुरुष हैं उनके कल्याणका साधन वेदसे ही हो जायगा श्रुतिसे ही हो जायगा, यज्ञोसे ही हो जायगा। और, ऐसा उपदेश प्रसिद्ध है कि कल्याण चाहने वालेका कल्याण उपदेश

श्रुतिसे हो जाता है। इस कारण सर्वज्ञको न मानने वाले मीमांसक लोग (इस समय अवसर पाकर) सर्वज्ञताके निराकरणका साहस कर रहे हैं, लेकिन सर्वज्ञताके निराकरणका साहस समीचीन नहीं है। उनके प्रति भी यही श्लोक उनके मतव्यका खडन कर देता है। अर्थ यह है कि सर्वज्ञ न मानने वाले लोगोंके आगमका नाम भी तीर्थकृत् समय है। यद्यपि वहाँ तीर्थंकर नहीं माना किसीने लेकिन तीर्थकृत्का अर्थ यह भी है कि तीर्थं कृन्तति छिन्दति इति तीर्थकृत् जो तीर्थको छेद देवे उसे तीर्थकृत् कहते हैं। और तीर्थकृत्का, असर्वज्ञवादीका जो समय है उसे कहते हैं तीर्थकृत्समय अर्थात् मीमांसकोंका आगम। उस तीर्थकृत्समयमें परस्पर विरोध पाया जा रहा है। क्या यह तीर्थकृत्समय अर्थात् तीर्थका विनाश करने वाला सम्प्रदाय, वेदको ही मानने वाले अनेक सम्प्रदाय, वे परस्परमें झगडते नहीं हैं। कोई कहते कि इस श्रुतिवाक्य का अर्थ भावना नहीं है, इसका अर्थ नियोग है। कोई कहते कि इसका अर्थ नियोग नहीं है, भावना है। यों वे ही खुद परस्परमें अपने मतव्यका विरोध रखते हैं। तो जब उनमें परस्पर विरोध है तो किसी भी सम्प्रदायकी सम्वादकता नहीं रहती है। जब किसी भी श्रौतसम्प्रदायकी सम्वादकता न रही फिर बताओ कि वहाँ कोई सम्प्रदाय महान् हो सकता है? कोई सा भी व्याख्यान उनका कोई सा भी सम्प्रदाय प्रमाणिक नहीं हो सकता। इस कारण जो मौका देखकर यह कह बैठे कि ठीक है, सर्वज्ञ कोई नहीं है उनका ही मतव्य इस ही श्लोकसे निराकृत हो जाता है, अर्थात् तीर्थं विच्छेद करने वाले उन सम्प्रदायोंमें भी परस्पर विरोध है, और परस्पर विरोध होनेके कारण उनमें सम्वादकता नहीं है, इसलिये श्रुतिके मानने वालोंमें क्या कोई गुरु, महान् हो सकता है, वहाँ भी किसीको भी गुरु, सम्वादक नहीं कह सकते हैं।

श्रुतिवाक्यार्थमें भट्ट व प्रभाकरका परस्पर विरोध—इस प्रकरणमें जब कि यह कहा जा रहा है कि तीर्थ बनाने वाले तीर्थकृत्के समय परस्पर विरोध सहित हैं इस कारणसे उनमें सबके आप्तपना नहीं बन सकता। अर्थात् उन सिद्धान्तोंके प्रणेता सर्वज्ञ नहीं हो सकते। क्योंकि एक दूसरेके साथ उन पदार्थोंका विरोध है। फिर कौन गुरु कहलाये? इस अवसरसे मीमांसक यह लाभ उठा रहे हैं और कह रहे हैं कि यदि इन तीर्थकृतोंके समय सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध हैं और उनके प्रणेताको सर्वज्ञ आप्त नहीं कहा जा सकता तो यह बात ठीक है। न आप्त प्रमाण है न आप्तके द्वारा बताये गए आगम प्रमाण हैं न उनका फैलाया गया धर्म प्रमाण है किन्तु प्रमाण तो अपौरुषेय श्रुति ही है। उसमें प्रमाणताका सन्देह नहीं है। और जितने पौरुषेय सिद्धान्त हैं उनमें अप्रमाणता है ऐसा कहने वाले मीमांसकोंके प्रति कहा जा रहा है कि यह भी कथन ठीक नहीं। वे मीमांसक तीर्थकृत् सम्प्रदायसे तो नहीं अपना तीर्थकृत् सम्प्रदाय मानते हैं। तीर्थकृतका अर्थ है जो तीर्थका विनाश करें उनमें सम्प्रदायोंमें भी परस्पर विरोध है। किस प्रकार विरोध है सो सुनो। श्रुतिमें कोई वाक्य कहा गया, उस वाक्यके अर्थ करनेमें भट्ट और प्रभाकर इन दोनोंका पर-

स्पर विरुद्ध मंतव्य है। भट्टके सिद्धान्तसे वाक्यका अर्थ भावनारूप है। और प्रभाकर के सिद्धान्तसे वाक्यका अर्थ नियोगरूप है। तो उनमेंसे कोई कहे कि भावना ही वाक्यका अर्थ है तो यह प्रश्न किया जा सकता कि नियोग वाक्यका अर्थ नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है ? और, यदि ये दोनो ही वाक्यके अर्थ होते हैं तो इसमें न भट्ट का आग्रह रहा न प्रभाकरका आग्रह रहा और इस प्रसगसे इन दोनोके सिद्धान्त नष्ट हो गए।

वाक्यार्थमे भट्ट व वेदान्तीका परस्पर विरोध—जैसे कि भट्ट श्रुतिवाक्य का कार्यरूप अर्थ मानते हैं और वेदान्तवादी स्वरूपार्थक अर्थ मानते हैं तो पूछा जाय कि वाक्यका अर्थ यदि कार्यरूप है, वाक्यार्थका ज्ञान यदि कार्यरूप है तो वाक्यार्थका ज्ञान स्वरूपमे नही जाता इसमें क्या प्रमाण है, भट्टजन तो कार्यको प्रमाण मानते हैं और श्रुति वाक्यमे लिखा है वह शब्द कार्यत्व शक्तिको साथ लिए हुए हैं उनमें कार्यपना घिरा हुआ है और वेदान्तवादीके सिद्धान्तसे उन सब वाक्योका स्वरूपायक अर्थ निकलता है अथवा शब्दसे एक ब्रह्मस्वरूपका अर्थ निकलता है तो इन दोनोके सम्बन्धमें यदि कहा जाय कि वाक्यज्ञान कार्य अर्थमें है तो स्वरूपार्थमे वाक्य ज्ञान नही है इसमें क्या प्रमाण है ? और यदि दृष्टि भेदसे अपेक्षा लगाकर दोनो अर्थ मान लिये जायें जैसे कि कार्यसे युक्त उनका अर्थ है तो जब कार्ययुक्त उत्पत्ति वाले बोध हैं तब तो कार्य विषयक रूपसे वाक्यकी प्रमाणता है और जब स्वरूपकी व्युत्पत्ति कराने वाला बोध हो तब वाक्यका स्वरूप विषयक रूपसे प्रामाण्य है, इस तरह अपेक्षावादका (स्याद्वादका) आश्रय लेकर यदि दोनोकी प्रमाणता मान ली जाय तो उन दोनोके एकान्तपक्ष तो नष्ट हो गए। अब वहा न भट्टका पक्ष रहा न वेदान्तवादी का। इस प्रसगमें यह समझना चाहिए कि श्रुतिके मानने वाले वे तीनो हैं। भट्ट प्रभाकर वेदान्तवादी भट्ट तो श्रुति वाक्यका अर्थ कार्यरूप निकालते हैं और प्रभाकर नियोगरूप अर्थ निकालते और वेदान्तवादी स्वरूपमात्र अर्थ निकालते हैं। तो इस प्रकार इन मीमांसकोके अर्थात् सर्वज्ञके निषेधकोके, जो समुदाय हैं उनमें परस्पर विरोध है इस कारण इन सभी सम्प्रदायोको सम्वादक नहीं कहा जा सकता। सत्यार्थ के स्थापक नहीं बताया जा सकता। फिर यहा भी गुरु कौन रहा ?

भट्ट द्वारा अनेक नियोगार्थोंका विरोध बताकर भावनारूप वाक्यार्थका समर्थन—अब यहाँ भट्ट शका करता है कि वाक्यका अर्थ भावना है, यह सम्प्रदाय ही समीचीन माननेके योग्य है, क्योंकि नियोग अर्थमे बाधकका सद्भाव है। जैसे नियोग का मतलब क्या ? मैं इस अग्निस्टोम यागसे नियुक्त हूँ। अग्निस्टोमका अर्थ किसी प्रकारका यज्ञ है। अग्निस्टोम इत्यादिक वाक्यसे जो समस्त रूपसे योग है उसका नाम नियोग है। लेकिन इस वाक्यमें यह भाव रचमात्र भी सम्भव नही है, क्योंकि नियोग के अर्थ अनेक बताये गये हैं। उन अर्थोंपर विचार करें तो नियोगका अर्थ ही शुद्ध नहीं

बैठता है। नियोगके अनेक अर्थ व्याख्यान करने वाले पुरुषोंके मतभेदसे हुए हैं।

शुद्ध कार्यरूप नियोगका आख्यान—जैसे किन्हींका सिद्धान्त है कि लिङ प्रत्ययका अर्थरूप शुद्ध अन्य निरपेक्ष कार्यमात्र ही नियोग होता है। धातुरूपकी सिद्धि मे लट लृट आदिक अनेक लकार बताये गए हैं। इनमे विधिलिङ भी एक प्रकार है, जिसका अर्थ एक शुद्ध कार्यरूप होता है। जैसे वह जावे, यह एक विधिरूपसे प्रयोग है। इसमे प्रेरणा नही दी गई है, इसमे एक शुद्ध कार्यकी झलक आई है। जिस वाक्य से प्रत्ययका अर्थभूत नियोग शुद्ध प्रतीत हुआ उस हीको तो शुद्ध कार्य कहते हैं। इसी कारणसे तो वह लिट् प्रत्ययरूप कार्य शुद्ध कहलाता है। उसे जाना चाहिए वह जाये आदिक शब्द एक शुद्ध कार्यरूप है। जिसमे आज्ञा प्रेरणा अथवा उस कार्यका वह करे ही, ऐसी कोई बात शामिल नहीं है। तो ऐसा जो शुद्ध अन्य निरपेक्ष कार्यरूप भाव है उसको नियोग कहते हैं। जब कभी उसका कोई विशेषण भी कुछ और प्रतीत होता है, उस क्रियाके साथ कोई विशेषण लगा हुआ है और अन्य अर्थ प्रतीत होता है तो वह प्रत्ययका अर्थ नही है। इस वाक्यमे जो प्रेरकत्व विशेषण बन जाता है वह प्रत्यय द्वारा वाच्य नही है, किन्तु वह एक पृथक शब्दकी ध्वनि है। इस कारण शुद्ध कार्यको ही नियोग कहते हैं, ऐसा कोई पक्का नियोगका अर्थ करता है। इस समय शंकाकार भट्ट जो कि मीमांसकका एक सम्प्रदाय है, वह मीमांसक उस अन्य सम्प्रदायके, जो कि नियोगवादी है उनके मतव्यका निराकरण कर रहा है कि श्रुतिवाक्योंका अर्थ भावना रूप है, नियोगरूप नही है।

शुद्ध प्रेरणारूप नियोगका आख्यान—कोई प्रवक्ता नियोगका यह अर्थ करता है कि जो शुद्ध प्रेरणा हो उसे नियोग कहते हैं। शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है। यही इन समस्त श्रुतिवाक्योंसे जाना जा रहा है क्योंकि जब तक कि कोई पुरुष प्रेरित नहीं होता, तब तक वह अपनेको नियुक्त नही मान सकता है। जैसे वाक्य बोला गया कि स्वर्गका मान यजेत अर्थात् स्वर्गकी इच्छा करने वाला पुरुष यज्ञ करे। अब इस वाक्यमे पहिले नियोगवादी तो यह कह रहा था कि विधिलिङ्का इसमें प्रयोग है अतएव प्रेरणारहित अन्य निरपेक्ष शुद्ध कार्यको ही इसमें ध्वनि है। और, दूसरा नियोगवादी यह कह रहा है कि इसमे प्रेरणा पड़ी हुई है कि जो स्वर्गकी कामना करता है उसको यज्ञ करना होगा। एक प्रेरणारूप अर्थकी ध्वनि मानी है। और इस प्रसङ्गमें भावनावादी भट्टका यह सिद्धान्त है कि स्वर्ग पानेका इष्ट साधन यह है इतना ही ध्यान आ जाता है। एक वेदान्तवादी यह कहता है कि यह स्वर्ग और स्वर्गकी इच्छा करने वाला और यज्ञ वगैरह, ये सब एक ब्रह्मस्वरूपकी पर्यायें हैं और, इस वाक्यसे एक ब्रह्मस्वरूप ही दृष्टि देता है। इस तरह वाक्योंका अर्थ लगाते हैं। इसलिए नियोगवादियोंका खण्डन चल रहा है। भावनावादी भट्ट नियोगवादियोंके सिद्धान्तका निराकरण कर रहा है कि नियोगका अर्थ कोई एक व्यवस्थित नहीं है। द्वितीय

नियोगवादी यह कहता है कि इन सब वाक्योंका अर्थ शुद्ध प्रेरणा है, याने एक कार्य पर दृष्टि सम्बन्ध बनानेका भाव है नहीं, इस विकल्पसे परे जो एक प्रेरणामात्र भाव है वही नियोगका अर्थ है।

प्रेरणासहित कार्यरूप तथा कार्यसहित प्रेरणारूप नियोगका आख्यान तीसरा नियोगवादी प्रवक्ता कहता है कि प्रेरणासहित कार्यको नियोग कहते हैं। मेरा यह कार्य है, ऐसा कार्य है, यह बात जब पहिले ज्ञात हो जाय तब वह अपनी सिद्धिमें प्रेरक हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि कार्यमें प्रेरणा देनेमें तत्पर है यह वाक्य ज्ञान। मेरा यह कार्य है ऐसा जानकर उस कार्यकी सिद्धिमें प्रेरणा पाता है वह। इससे सिद्ध है कि नियोगका अर्थ प्रेरणासहित कार्य है न कि शुद्ध कार्य अथवा शुद्ध प्रेरणा। उसमें प्रथम नियोगवादीका भाव यह था कि केवल कार्य कार्यका नाम नियोग है, उसमें प्रेरणाका कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरा नियोगवादी यह कहता कि इसमें प्रेरणाका भाव है, कार्यकी ओर इसकी दृष्टि नहीं तो तीसरा नियोगवादी कहता कि प्रेरणासहित कार्यका नाम नियोग है। तब चौथा नियोगवादी कहता कि कार्यसहित प्रेरणाका नाम नियोग है, क्योंकि कार्यके बिना कभी भी पुरुष प्रेरित नहीं होता, इस कारण कार्य सगत प्रेरणाका नाम नियोग है।

कार्यप्रवर्तकत्वरूप नियोगका आख्यान—५ वाँ प्रवक्ता यह अर्थ लगाता है कि कार्यके प्रवर्तकपनेका ही नाम नियोग है। इसके सिद्धान्तमें न केवल कार्यका नाम नियोग है न केवल प्रेरणाका नाम नियोग है न प्रेरणासहित कार्यका नाम नियोग है किन्तु कार्यकी प्रवर्तकताका नाम नियोग है। अर्थात् प्रेरणाका विषयभूतकार्य कार्य है, वह कार्य स्वत: प्रेरक नहीं होता। किन्तु प्रमाणका जो व्यापार है, जो प्रमेय है वही प्रवर्तक होता है, इस कारण कार्यके प्रवर्तकपनेका ही नाम नियोग है। अपूर्व अपूर्व कार्यका सम्बन्धपना होनेसे तत्त्ववृत्तिसे वे सब शब्द प्रमाणमें पडे हुए हैं। और वही प्रमेय हैं, उपचारसे आरोपित होकर ज्ञानमें प्रत्यक्षरूपसे आये हैं, तो वही विषय बन गया है। उस ही कार्यको, उस ही प्रमेयको यह ही प्रवर्तक है, स्वर्गकी इच्छा करने वालेका यह प्रमेय प्रवृत्ति करा रहा है इस कारणसे उस कार्यमें ही प्रवर्तकपना होनेका नाम नियोग है।

कार्यप्रेरणासम्बन्धरूप तथाकार्यप्रेरणा समुदायरूप नियोगका आख्यान—छठा व्याख्याता नियोगका यह अर्थ कर रहा है कि कार्य और प्रेरणा इनके सम्बन्धका नाम नियोग है, इसका तात्पर्य यह है कि जैसे एक वेद वाक्य है कि स्वर्गका अभिलाषी यज्ञ करे। ऐसे कथनमें किसीकी दृष्टिमें तो यह आया कि इस वाक्यमें प्रेरणा की धुन भरी हुई है। जैसे कोई किसी कार्यके लिए प्रेरित करता है इसी प्रकार इस वाक्यने भी लोगोंको यज्ञ कार्यकी प्रवृत्तिके लिए प्रेरित किया तो किन्हींका यह मतव्य बना कि इसमें कार्यकी मुख्यता है। किन्हींका मन्तव्य बना प्रेरणाकी मुख्यता किन्हीं

की दृष्टिमे कार्य सहित प्रेरणा, किन्हीकी दृष्टिमें प्रेरणासहित कार्य, इत्यादि अनेकरूपसे नियोगके अर्थ हो रहे इस वाक्यके कि जो स्वर्ग चाहता है वह यज्ञ कार्य करे। यहाँ छठा प्रवक्ता यह कह रहा है कि प्रेरणा और कार्य इनका जो सम्बन्ध है वह नियोग है और यही अर्थ इस वाक्यसे निकल रहा है। ७ वाँ प्रवक्ता यह कहता है कि प्रेरणा और कार्य, इनका जो सम्बन्ध है उसका नाम नियोग है। ये दोनो परस्पर अविनाभूत हैं। प्रेरणाके बिना कार्य नहीं होता, कार्यके बिना, प्रयोजनके बिना चित्तमे कार्य आये बिना प्रेरणा नहीं बनती है। तो नियोगका अर्थ प्रेरणा और कार्य इनका समुदाय है। दोनोके दोनो पूरे रूपसे समुदित हो इसका नाम नियोग है। जैसे कि छुटपुट इकहरे इकहरे शास्त्र लिए हुए बहुतसे लोग हो तो केवल ऐसे खण्ड शास्त्र, विकल शास्त्र धारण करने वाले अलग-अलग रहे तो उससे जय नहीं होती है, किन्तु वे सब शास्त्री समुदित हो जायें और फिर युद्ध कार्य करें तो उनकी जय होती है। तो यह प्रभाव समुदायमे होता है। इस प्रकार प्रेरणा ही प्रेरणामात्र मात्र रहे कार्यका वहाँ कुछ भी सम्बन्ध नहीं अथवा कार्य-कार्य ही दृष्टिमें है प्रेरणाका उसमे अन्वय नही तो वहाँ कार्य सिद्ध न होगा। अत. कार्य और प्रेरणा इन दोनोके समुदायका नाम नियोग है।

कार्यप्रेरणोभयस्वभावविकल तथा यन्त्रारूढरूप नियोगका आख्यान— ८ वाँ प्रवक्ता यह कहता है कि कार्य और प्रेरणा दोनो स्वभावसे रहित होना नियोग का अर्थ है क्योंकि सब कुछ ब्रह्मगत होनेमे सब सिद्ध ही है और सिद्ध होनेके कारण वहाँ न कोई कार्य है न कोई प्रेरक है अतएव कार्य और प्रेरणा दोनो स्वभावसे रहित नियोग होता है, ब्रह्म आत्मा ही नियोग कहलाता है। जैसे घट इसका अर्थ न कार्य है और घट इस वचनका अर्थ न प्रेरणा है। इस प्रकार कुछ भी वाक्य कहा गया उसका अर्थ एक ब्रह्मस्वरूप ही है। ब्रह्मकी एक अवस्था विशेष ही उस वेदवाक्यसे प्रतीत हुई है, क्योकि वाक्य भी अखण्ड ही होता है और वाक्यार्थ भी अखण्ड ही होता है। जैसे कि वाक्य खण्ड-खण्ड रूपमे अल -अलग पदोंमें बोल दिया जाय तो वह वाक्य तो नही कहलाता। जैसे कहा कि स्वर्गकी इच्छा करने वाला यज्ञ करे, तो इसमे एक पद ही बोला, वाक्य तो नही बना, वाक्य एक अखण्ड होता है। तो अखण्ड एक वाक्यका अर्थ भी एक अखण्ड ही होता है। ऐसा एक अखण्ड है ब्रह्मस्वरूप। वह कार्य प्रेरणा दोनोके स्वभावसे रहित जो तत्त्व है उसका नाम नियोग है। अब ९ वाँ प्रवक्ता यह कहता है कि यन्त्रपर आरूढ़ होनेका नाम नियोग है, अथवा यन्त्रारूढकी तरह जो जट-पटाकर जिज्ञासायें रखकर कामना रखकर प्रवृत्ति करे ऐसा यन्त्रारूढ़की तरह कार्य में जुटनेका नाम नियोग है। जो पुरुष जिस विषयमें कामी होता है, अभिलाषावान होता है वह नियोग होनेपर इस ही तरह अपने आप यन्त्रारूढ़ बावला हुआ प्रवृत्ति करता है। जैसे किसी कार्यकी अधिक चाह रखता हुआ [illegible] होकर बन जाता है लगना पड़ता है, विवश हो जाता है। जैसे कि मशीन [illegible] तो उसे चलना ही पड़ता है, यों ही यन्त्रारूढ़की तरह [illegible] नियोग है।

भोग्यरूप व पुरुषरूप नियोगका आख्यान—एक नियोग प्रवक्ता श्रुति वाक्यका यह अर्थ निकालता है कि उसमे जो भोग्यरूप भाव है उसे नियोग कहते हैं मेरा यह भोग्य है इस प्रकार जो भोग्यरूप प्रतीत होता है और उसमें स्वस्वरूपसे जो विज्ञान बना है कि यह भोग्य मेरा है, इस प्रकारका यह ममत्वरूपसे विज्ञान भोक्ता पुरुषमें ही तो व्यवस्थित है। वहाँ स्वामित्वरूपमें फलमें जो स्वामित्व होगा वह भोग्य है। अब मेरा यह भोग्य है, जहाँपर यह अभिप्राय भोक्ताके होता है जिस विषयमें वही तो भोग्य जानना चाहिए। इस प्रकार कोई प्रवक्ता भोग्यरूप नियोगका अर्थ करते हैं। यहाँ जिस कारण साध्यरूपसे स्व ही जाना गया है। मेरा यह भोग्य है ऐसा जाना गया तो वहाँ साध्यरूपसे क्या निर्दिष्ट हुआ? स्व भोग्य अर्थात् मुझको ही उस भोग्यका स्वामी बनना है इस नियोगमें स्वका व्यपदेश हुआ। जो सिद्धरूप भोग है, वह नियोग नहीं होता, क्योंकि वह सिद्ध ही हो गया है। साध्यरूपसे भोग्य की प्रेरकता होनेसे नियोग बनता है। जो सिद्ध है वह नियोग नहीं, किन्तु जो भोग्यरूप है, भोग्यरूपसे साध्य है इस तरहकी जो भोग्य प्रेरकता है इस तरहका यह भोग्य रूप नियोग है। एक नियोगवादी श्रुति वाक्यार्थका यह अर्थ करता है कि पुरुष ही नियोग है। मेरा यह कार्य है इस प्रकार यह पुरुष ही तो मानता है तो पुरुषमें ही कार्य विशिष्टता आयी। कार्यसे विशिष्ट कौन बनेगा? पुरुष ही। और, इसकी वाच्यता नियोग है। कार्य सिद्ध हो जानेपर उस कार्यसे उस सिद्धिसे युक्त पुरुष साधित कहलाता है। तो आखिर उस वाक्यका अर्थ क्या हुआ? वही पुरुष। भोग्य रूप कार्यकी सिद्धि कर चुकने वाला यह पुरुष होता है। तो श्रुति वाक्यका अर्थ सर्वत्र वही पुरुष प्रमाण, आत्मा ही है।

नियोगवादके निराकरणमें ८ विकल्प व उनमेंसे प्रमविकल्पका निराकरण—भट्ट यहाँ यह बात रख रहे हैं कि नियोगवादियोंका जो यह ११ प्रकार का अर्थ है यह सो यह ११ प्रकारका भी नियोग विचार किया जानेपर बाधित हो जाता है क्योंकि उस नियोगके सम्बन्धमें प्रमाण आदिक ८ विकल्प पूछने हैं। क्या नियोग प्रमाणरूप है अथवा नियोग प्रमेयरूप है? प्रमाण और प्रमेय दोनों रूप है? अथवा वह नियोग प्रमाण और प्रमेय दोनोंसे रहित है? अथवा वह नियोग शब्द व्यापाररूप है या पुरुषके व्यापाररूप है? अथवा शब्द और पुरुष दोनोंके व्यापाररूप है? या दोनोंके व्यापारसे रहित है? इन ८ प्रकारके विकल्पोंमें यदि प्रथम पक्ष मानते हो कि वह ११ भेद वाला यानी समस्त नियोग प्रमाणरूप है तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस श्रुतिवाक्यका विधि ही अर्थ है क्योंकि प्रमाण विधिरूप होता है? तब वेदान्तवादका प्रवेश प्रभाकरके मतमें आ गया। प्रभाकर श्रुति वाक्यका नियोग अर्थ केवल ब्रह्मस्वरूप करता है, और ब्रह्मस्वरूप चिदात्मक है, प्रमेयरूप है, प्रतिभासरूप है। तो जब यहाँ ११ प्रकारके समस्त नियोगोंको ही प्रमाणरूप मान लिया गया, किसी भी प्रवक्ताका कुछ भी नियोग है,

उन सभीके बारेमे ८ विकल्प पूछे गए थे। उनमेसे नियोगको प्रमाणरूप माना गया तो प्रमाण होती विधि, विधि ही वाक्यका अर्थ है और वह है ब्रह्मरूप। सो अब नियोगवाद न रहा, वेदान्तवाद हो गया। क्योंकि प्रभाकरका नियोग हो गया अब प्रमाणरूप प्रमाण है चैतन्यात्मक और चैतन्यात्मा है प्रतिभासमात्र और प्रतिभासमात्र है परब्रह्मरूप। प्रतिभासमात्रसे पृथक कोई विधि कार्यरूपसे प्रतीयमान नही होता क्योंकि समस्त नियोग यहा प्रमाणरूप मान लिए गए हैं। जैसे घट पट आदिक पदार्थ जो सब प्रमाणरूप है, ब्रह्मस्वरूप है उस प्रतिभासमात्रमे प्रथक घट आदिक प्रतीयमान नही होते। सब कुछ प्रतिभास स्वरूप है, ब्रह्मरूप है। इस प्रकार नियोग प्रमाणरूप है। तो फिर वह प्रेरकरूपसे भी अनुभवमे नहीं आ सकता। जैसे वचन वचन है वे प्रेरक क्या हो सकते हैं? निश्चयम कर्मसाधन और करणसाधनरूपसे वाक्यार्थकी प्रतीति होनेपर कार्यकी प्रेरकताका ज्ञान बनता है, अन्यथा नही बनता। तो इन ११ प्रकारके नियोगोको प्रमाणरूप मान लेनेसे अर्थ निकला विधिरूप, ब्रह्मवादरूप। वह कैसे? सो सुनो जब श्रुतिवाक्यमे यह शब्द सुना द्रष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य आदिक तो शब्दके श्रवणसे सुनने वालेके चित्तमें यह एक प्रेरणा जगी कि इसमे जो यह कहा गया कि अरे यही आत्मा देखना चाहिए, यही आत्मा सुनना चाहिए, यही आत्मा उपासनामे लाना चाहिए। तो मैं और कुछ हूँ इस समय और अन्य अवस्था जो कि विलक्षणरूप है उसमे मैं प्रेरित हुआ हू, ऐसा उसका अभिप्राय बना, एक अहकार बना मुझको आत्मा देखनी चाहिए, सुनना चाहिए, ध्यान किए जाना चाहिए। इस प्रकारके अहकार रूपसे वहाँ स्वयआत्मा ही तो प्रतिभासित हो रहा है अत वह ही विधि है। ऐसा वेदान्तवादियोने भी कहा है। और इन सब नियोगोको प्रमाणरूप माननेपर इस ही ब्रह्मवादका प्रवेश होता है। प्रभाकरोका फिर वह नियोगवाद नही रहता।

नियोगको प्रमेयरूप माननेके द्वितीय विकल्पका निराकरण—यदि प्रभाकर कहे कि फिर तो नियोगको प्रमेयरूप मान लिया जाय, क्योंकि नियोगको प्रमेयरूप माननेपर उक्त दोष बताया गया है। समाधानमे भट्ट कहते हैं कि यह भी बात असगत है, क्योंकि नियोगको प्रमेयरूप माननेपर फिर प्रमाणका अभाव हो जाता है। और जब प्रमाणका अभाव है तो प्रमेय कोई कुछ टिक नही सकता। यदि नियोग को प्रमेयरूप मानते हो तो उसका प्रमाण कुछ अन्य बताना ही चाहिए। क्योंकि प्रमाणके अभावमे प्रमेयपना बन नही सकता। यदि प्रभाकर यह कहे कि श्रुतिवाक्य ही तो प्रमाण है, तो यह बात घटित नहीं होती, क्योंकि श्रुतिवाक्य तो है अचेतनस्वरूप और प्रमाण होता है चिदात्मक। तो अचिदात्मक श्रुतिवाक्यमें प्रमाणपना घटित नही हो सकता। केवल एक उपचारकी ही बात कही जा सकती है। यदि यह मान लोगे कि श्रुतिवाक्यको सम्विदात्मक मान लेंगे तो इसका यही तो अर्थ हुआ कि

पुरुष ही श्रुतिवाक्य है। जो एक सर्वव्यापक ब्रह्म है वही सब कुछ है और वही प्रमाण हुआ। तो अनुष्ठानको ज्ञानात्मक माननेपर पूर्वपक्ष ही आ गया अर्थात् वह प्रमाण न बन गया। और, उस श्रुतिवाक्यका सम्वेदनरूप पर्याय अथवा उस सम्विदात्मकका सम्वेदनरूप पर्याय क्या है ? मैं नियुक्त हुआ हूँ, इस प्रकारका अभिमानरूप नियोग है और उसे प्रमेय मानते हो जो कि ज्ञानका ही पर्याय है, तो वह पुरुषसे कुछ अन्य तो न रहा। सो इस तरह इस पक्षमें भी वेदान्तवादियोंके मतव्यका प्रवेश हुआ। नियोगवादकी कोई बात न रही।

नियोगको प्रमाणप्रमेयोभयरूप माननेके तृतीय विकल्पका निराकरण अब नियोगवादी प्रभाकर यह कहता है कि यदि केवल प्रमाणरूप मानते हैं नियोगको तो दोष दिया गया और प्रमेयरूप मानते हैं नियोगको तो दोष दे दिया गया तो अब नियोगको प्रमाण व प्रमेयरूप मान लीजिए अर्थात् नियोग द्वयात्मक है प्रमाणरूप और प्रमेयरूप। उत्तरमे भट्ट कहता है कि यह भी बात अयुक्त है, क्योंकि प्रमाण प्रमेयरूप नियोगको मान लेनेपर ज्ञानकी पर्यायपनेका प्रसग होता है। यदि प्रमाण प्रमेयरूप नियोगको ज्ञानका पर्याय न माना जायगा तो वह प्रमाण प्रमेयरूप बन ही नही सकता। और, प्रमाण प्रमेयरूप नियोगका ज्ञान पर्यायपना सिद्ध होनेपर बात नही रही कि वह चिदात्मा दोनों स्वभावसे अपने आपको दिखाता हुआ नियोग है। जो ब्रह्मस्वरूप है, जो सम्विदात्मक है वह क्या अपने आपका सम्वेदन नहीं करता ? तो ज्ञानमें सम्विदात्मक स्वरूपमें प्रमाण प्रमेय उभयरूपता है वही प्रमाण है। वही प्रमेय है। तो नियोगको प्रमाण प्रमेयरूप माननेपर वही ब्रह्मवाद सिद्ध होता है। यहां भी नियोगवादकी कोई प्रतिष्ठा न रही।

नियोगको अनुभयस्वभावरूप माननेके चतुर्थ विकल्पका निराकरण— अब प्रभाकर कहता है कि तब फिर नियोगको अनुभयस्वभावरूप मान लीजिये। इस शकापर भट्ट उत्तर देता है कि तो इसका तात्पर्य यही हुआ कि सम्वेदन मात्र ही पारमार्थिक स्वरूप रहा। क्योंकि उसने न प्रमाण स्वभावरूप माना और न प्रमेय स्वभावरूप माना। तो वह एक सम्वेदनमात्र रहा। न निर्णायक रहा न ज्ञेय रहा। तो सम्वेदनमात्र तत्त्व सिद्ध होनेपर फिर तो वह कभी भी हेय नही हो सकता तब उसमें अनुभयस्वभावपना सम्भव हो सकता है सो इस तरह प्रमाण और प्रमेयरूप व्यवस्थाके भेदसे रहित सन्मात्र स्वरूप रूपसे उस हीका वेदान्तवादियोने ब्रह्मरूप निरूपण किया है तो इस पक्षमे भी ब्रह्मवादका प्रवेश होता है। इस तरह नियोगका न प्रमाण स्वरूप न प्रमेयस्वरूप न उभयस्वरूप और न अनुभय स्वरूप सिद्ध किया जा सका।

नियोगको शब्दव्यापाररूप व आत्मव्यापाररूप माननेके पञ्चम व

षष्ठ विकल्पका निराकरण—अब यदि प्रभाकर यह माने कि फिर शब्दके व्यापारको ही नियोग मान लिया जाय तो सुनिये, इसमें भट्ट मतका ही अनुसरण हो गया क्योंकि भट्ट सिद्धान्तमे शब्दव्यापारको शब्दभावनारूप माना है। यदि पुरुष व्यापारका नाम नियोग कहते हो तो इस पक्षमे भी तो भट्ट मतका अनुसरण हो गया, क्योंकि पुरुषका व्यापार भी भावना स्वभावरूप है। पुरुष है एक चैतन्यात्मक उसका व्यापार और क्या हो सकता है ? सिवाय भाव करनेके, भावना करनेके। यदि नियोगको पुरुष व्यापाररूप मानते हो तो वह भी भावनास्वभावी सिद्ध हुआ और श्रुतिवाक्यका अर्थ भावना है यही तो भट्ट मन्तव्य कहता आया है। भावनायें दो प्रकारकी हुआ करती हैं एक शब्द व्यापाररूपसे, एक आत्मव्यापाररूपसे। यदि शब्द व्यापाररूप नियोगको मानते हैं तो वहा जैसे भावना वाक्यार्थ सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार आत्मव्यापाररूप नियोगको मानते हैं तो वहा भी भावनारूप वाक्यार्थ सिद्ध हो जाता है।

नियोगको शब्दात्मोभयरूप माननेके सप्तम विकल्पका निरूपण—अब प्रभाकर कहता है कि फिर शब्द व्यापार और आत्मव्यापार दोनो रूप नियोगको मान लीजिए। समाधानमे कहते हैं कि इन दोनोको नियोगरूप माननेके प्रसगमे यह तो बतलावो कि दोनोरूप क्रमसे हुए या युगपत् हुए ? यदि कहो कि क्रमसे नियोग दोनो रूप बनता है—शब्दव्यापाररूप और आत्मव्यापाररूप, तो ऐसा कहनेमे वही दोष है। कोई किसी समय शब्दव्यापाररूप रहा तो वह भी भावना स्वभावरूप अर्थ कहलाया और जब कभी पुरुष व्यापाररूप रहा तो उसका भी अर्थ भावना ही कहलाया। तो भावनारूप श्रुतिवाक्यार्थका ही एक नाम रख दिया नियोग। नियोग कोई भिन्न अर्थ नही रहा। यदि कहो कि नियोग शब्द व्यापाररूप और आत्म व्यापाररूप दोनो ही स्वभाव वाले एक साथ है तो दोनो स्वभावरूप एक साथ एक वस्तुमे एक भावमे हो यह बात व्यवस्थित नही की जा सकती है।

नियोगको शब्दात्मानुभयरूप माननेके अष्टम विकल्पमे वाक्यकालमे अविद्यमान विषयस्वरूप उस नियोगका निराकरण—अब प्रभाकर कहता है कि फिर अनुभयरूप ही मानलो अर्थात् नियोग शब्द व्यापाररूप और अर्थ व्यापाररूप दोनोमे रहित मान लिया जाना चाहिए। तो इस पक्षमे यह बतलाओ कि वह अनुभय व्यापाररूप नियोग क्या विषय स्वभावरूप है या फल स्वभावरूप है या स्वभावरहित स्वरूप है। अर्थात् नियोगका जो शब्द व्यापार और अर्थव्यापारसे रहित मानते है वे नियोग किस स्वभावरूप हैं ? विषयस्वभावरूप अर्थात् जो कार्य किये जानेका आदेश है या जिस विषयमे भाव लगाया जाता है उस विषय स्वभावरूप है या यज्ञ आदिकके फल जो प्राप्त होंगे क्या ऐसे फल स्वभावरूप है, अथवा कोई स्वभाव ही नही है। यदि कहो कि वह नियोग जो कि शब्दव्यापार और आत्मव्यापार दोनोसे रहित है वह

विषय स्वभावरूप है तो बताओ कि वह विषय कौनसा है ? जैसे कि एक वाक्य आया श्रुतिमें आया कि "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत," इस वाक्यका अर्थ यहा याग आदिक विषय है अर्थात् यज्ञ करना वह विषय है। तो य बताओ कि वह य नु विषय इस वाक्यके कालमे स्वय अविद्यमान है या विद्यमान है, जब कि यह वचन बोला गया उस कालमे याग विषय मौजूद है अथवा नही है ? यह सब पूछा जा रहा है इस प्रसगमे कि श्रुतवाक्यका अथ नियोग माना है तो वह नियाग अनुभय स्वरूप है, विषयरूप है और वह यागरूप है तो उस वचन प्रयोगके कालमे वह विषय अविद्यमान है या विद्यमान ? यदि कहो कि वाक्यकालमे वह याग आदिक विषय अविद्यमान है, तो भाव यह हुआ कि उस यागविषयक स्वभावरूप नियोग भी अविद्यमान कहलाया। फिर यह नियोग वाक्यका अर्थ कैसे हुआ ? जो बात है ही नही वह किसीका अर्थ कैसे बन जाय ? जैस आकाशपुष्प उसकी सत्ता ही नही हो वह किसी वचनका अथ सा न बन जायगा। यदि कहो कि भावी है वह यज्ञ जिस समय वाक्य बोला गया कि स्वगका अभिलाषी याग करे तो अभी वाक्य ही बोला गया है और याग करनेकी बात उसकी बुद्धिमें आयी है, और वह याग भावी है, भविष्यकालमे होनेका है। तो भविष्यकालमे हाने वाले बुद्धिमे इस समय आरुढ उस यागको नियोगका वाक्यार्थ मान लिया जायगा। तो उत्तरमे कहते हैं कि इस तरह तो क्षणिकवादियोके मनका अनुसरण हो बैठेगा, क्योकि क्षणिकवादमे भी जब कि पदाथ क्षण क्षणमे नवीन नवीन होते हैं, तो जो लोगोके चित्तम कल्पनाये रहती हैं किसीके भविष्यके कामकी तो वे तो असत् ही हैं। लेकिन बुद्धिमे आरुढ होकर वह विषय बन जाता है तो ऐसा ही नियोगवादी प्रभाकर मान रहा है, इससे वाक्यके कालमे वाक्यका अथ अविद्य मान है यह पक्ष नही बनता।

नियोगको शब्दात्मानुभयरूप माननेके अष्टम विकल्पमे वाक्यकालमें विद्यमानविषयस्वरूप उस नियोगका निराकरण—यदि कहो कि उस वाक्यके कालमें यह अनुभय स्वभावरूप नियोग याग विषयरूप होता हुआ विद्यमान ही है, तो उत्तरमें कहते हैं कि फिर वाक्यका अर्थ नियोग न रहा क्योकि नियोग तो होता है यज्ञ आदिक कार्य करनेके लिए और जो किया ही जा चुका है निष्पन्न ही हो गया है, विद्यमान ही है, ऐसे याग आदिक फिर निष्पादन होनेका योग नही है। उसका क्या निष्पादन करना ? वह तो निष्पन्न ही हो गया। जैसे पुरुष ब्रह्म, वह निष्पन्न हो है, उसको क्या निष्पन्न करना। यदि कहो कि उस नियोगका अर्थ तो अनिष्पन्नरूप है और तभी उस अनिष्पन्नरूपके निष्पादनके लिए नियोग होता है तो उत्तरमे कहते हैं कि फिर तो अनिष्पन्न यागस्वरूप नियोग भी अनिष्पन्न रहा फिर वह वाक्यार्थ कैसे हुआ ? इस कथनका तात्पय यह है कि यहाँ पूछा जा रहा है कि स्वर्गका अभिलाषी पुरुष यज्ञ करे ऐसा जब वाक्य बोला उस वाक्यके सम्बन्धमे ही यज्ञ विद्यमान है तो अब करने की बात क्या रही ? यज्ञ करनेके लिए ही तो यह उपदेश किया गया था। और, माना

प्रभाकरके मतकी सिद्धि कैसे होगी ? कुछ आलम्बन ही नहीं है, अमन हो गया।

स्वभावरूप नियोगके विकल्पकी असंगतता—यदि स्वभावरूप नियोग माना जाता है तो इसमें भी पहिले जैसा ही दोष आता है अतएव निराकृत हो जाता है। स्वभावमें कुछ न कार्य प्रतीत हुआ न कोई प्रेरणा प्रतीत हुई, न कोई प्रवृत्तिकी कारणभूत ही बात बनी तो निरालम्बनकी तरह हो गया। कोई आलम्बन ही न रहा, उसके किए जानेका कोई अर्थ ही न रहा वाक्यका क्या अर्थ कहलाया ? केवल स्वभाव है बस यही नियोग है। इसमें क्या प्रवृत्ति हुई, क्या निवृत्ति हुई ? क्या कहा गया ? मूकको तरह एक समयको खो देने जैसी बात रही।

सत् असत् उभय अनुभय इन चार विकल्पोंरूप नियोगवादका निराकरण—नियोगवादके सम्बन्धमें और भी सुनो ! प्रभाकर द्वारा माना गया नियोग क्या सत् होता हुआ ही नियोग है या असत् होता हुआ ही नियोग है ? या सत् असत् उभयरूप नियोग है ? इन चार पक्षोंमेंसे यदि प्रथम पक्ष माना जाता है कि सत् होता हुआ ही नियोग है तो इस पक्षमें विधिवादका समर्थन हुआ, क्योंकि जो सन्मात्र है वह तो विधि है। इसमें नियोगकी ही बात कहाँ आई ? यदि कहो कि असत् होता हुआ ही नियोग है तो इसमे निरालम्बनवाद आ गया। याने कुछ है ही नहीं, अब वाक्यका क्या अर्थ रहा ? श्रुतिवाक्यका वह अर्थ है जिसका कुछ ठिकाना ही नहीं, कोई लक्ष्य ही नहीं। तब नियोग क्या चीज रही ? यदि कहो कि सत् असत् उभयरूप होता हुआ नियोग है, तो जो सत् और असत्में दोष दिया गया था, दोनों ही तरहके दोष इस तृतीय पक्षमें घटित होते हैं। यदि कहो कि न सत् है न असत् है, ऐसा अनुभयरूप नियोग है, तो इसमें तो स्वयं ही बाधा आ रही। सत्त्व और असत्त्व ये दोनों परस्पर एक दूसरेका निराकरण करते हुए रहते हैं। जब सत्त्व कहा तो इसका अर्थ हुआ कि असत्त्व नहीं है। और, जब असत्त्व कहा तो इसका अर्थ है कि सत्त्व नहीं है। एकके निषेध करनेमें दूसरेका विधान आ ही जाता है। तो ऐसा परस्पर व्यवच्छेदरूप सत्त्व और असत्त्वका एक जगहमे एक साथ प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। यदि कहो कि सर्वथा सत्त्व और असत्त्वका प्रतिषेध होनेपर भी अर्थात् सत्त्व असत्त्व एक वस्तुमें नहीं रह सकता है लेकिन कथंचित सत्त्व और कथंचित असत्त्वका तो एक जगहमें विरोध नहीं है। तो उत्तरमें कहते हैं कि यो तो फिर प्रभाकरको स्याद्वादका आश्रय लेना पड़ा, उसकी खुदकी निजकी बात क्या रही ?

अप्रवर्तकस्वभाव नियोगकी असंगतता—और भी बात विचारिये कि ये सब नियोग जो ११ प्रकारोंमें प्रवक्ता लोग बतलाते हैं, वह सारा नियोग प्रवर्तक-स्वभावी है या अप्रवर्तकस्वभावी है ? याने किसी कार्यमें प्रवृत्ति करानेका स्वभाव रखता है नियोग या कहीं कुछ प्रवृत्ति न करानेका स्वभाव रखता है ? यदि कहो कि

नियोग प्रवर्तकस्वभावी है तो उत्तरमें कहते हैं कि यों तो फिर प्रभाकरोंकी तरह नियोग क्षणिकवादियोंको भी प्रवर्तक बना देवें। जब नियोगका अर्थ किया है प्रवर्तकत्व और वह है श्रुतिवाक्यका अर्थ तो जब नियोग प्रवर्तन करानेका स्वभाव रखता है तो जिस समय उस श्रुतिवाक्यको बोला गया कि स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे तो उसका अर्थ जो निकलता है वह तो एकदम प्रवृत्ति करानेका स्वभाव रखता हुआ निकलता है। तो जैसे उस शब्दको प्रभाकरोंने सुना और वे प्रवृत्ति करने लगे, वहीं बैठे हुए क्षणिकवादियोंके भी कानमें शब्द गए और उसका अर्थ है प्रवृत्ति करानेके स्वभावरूप तो फिर उनको भी प्रवृत्ति करा बैठना चाहिए, क्योंकि यहां तो उस नियोगको सर्वथा प्रवर्तकरूप मान लिया गया है। यदि प्रभाकर यह कहे कि इस श्रुतिवाक्यका अर्थ जो नियोग है वह प्रवर्तकस्वभाव तो है लेकिन क्षणिकवादी तो विपरीतबुद्धि लिए हुए हैं, सो उनकी प्रवृत्ति नहीं करा पाता। तो उत्तरमें कहते हैं कि तब फिर प्रभाकरको भी प्रवृत्ति न कराना चाहिए, क्योंकि वह भी विपरीत है। उन प्रभाकरोंके सम्बन्धमें भी यह कहा जा सकता है कि प्रभाकरोंके मतव्य भी विपरीत हैं। और, जैसे कि क्षणिकवादियोंको विपरीत मानता हो यों कि उनके मतमें प्रमाणमें बाधा आती है तो इस बुनियादपर कि प्रमाण बाधित है उनका मतव्य इसपर सौगत ही विपरीत माना जाय और प्रभाकरके सिद्धान्त विपरीत न माने जायें, यह तो एक पक्षमात्र है, क्योंकि प्रभाकरोंका मतव्य भी प्रमाणबाधित है। जैसे कि क्षणिकवादियोंके प्रति यह कहा जाता है कि वह मानता है पदार्थोंको प्रतिक्षणमें विनश्वर, क्षण क्षणमें नष्ट होते हैं समस्त पदार्थ। ऐसा उनका कथन प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे विरुद्ध है। यों कहकर क्षणिकवादियोंको विपरीतबुद्धि कहा है। तब यहां भी देखिये कि नियोगवादी, नियोक्ता नियोग नियोगका विषय आदिक जो भेद कल्पित करते हैं तो यह कल्पना भी तो प्रमाण विरुद्ध है, क्योंकि समस्त प्रमाण विधिकी विषयताकी ही व्यवस्था करता है अर्थात् एक ब्रह्मवादका ही समर्थन करता है तो उनकी दृष्टिसे प्रभाकर भी विपरीत हुए। इस कारण यह पक्ष युक्त नहीं बना कि नियोग प्रवर्तक स्वभाव वाला होता है।

अप्रवर्तक स्वभाव नियोगकी असिद्धि—यदि कहो कि शब्दनियोग अप्रवर्तक स्वभाव वाला है याने श्रुति वाक्यका जो अर्थ निकला नियोग वह नियोग प्रवृत्ति न कराये ऐसे स्वभाव वाला है। तब तो यह सिद्ध हो गया कि नियोग प्रवृत्तिका कारण नहीं है। और तब उस नियोगसे कोई काम ही न निकला, अर्थ क्रिया ही न हुई। किसी पुरुषके मनमें कुछ बात ही न जची। कोई यज्ञ आदिककी प्रवृत्ति न हुई तो ऐसी प्रवृत्तिका अहेतभूत अप्रवर्तक स्वभाव वाला नियोग वाक्यका अर्थ नहीं हो सकता, अप्रवर्तक स्वभाव वाले नियोगमें वाक्यार्थता असिद्ध है।

फलरहित नियोगकी मीमांसा—अब नियोगके सम्बन्धमें अन्य बात भी देखिये—वह नियोग फलरहित है या फलसहित है? यदि कहो कि फलरहित है तो

फलरहित नियोगमें तो बुद्धिमानोंकी प्रवृत्ति हो नहीं सकती। यदि फलरहित नियोगमें भी कोई प्रवृत्ति करे तो वह बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता उसकी गिनती मूर्खोंमें आयगी। क्योंकि प्रयोजनका उद्देश्य बनाये बिना तो मन्दबुद्धि पुरुष भी प्रवृत्ति नहीं करता। कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है कि प्रयोजन कुछ न हो और प्रवृत्ति करे। हां ऐसा पागल ही कोई हो सकता है। जो प्रवृत्ति तो कर रहा है कुछ और प्रयोजन उस का कुछ भी नहीं है यदि नियोग फलरहित है तो नियोगसे प्रेक्षावानोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। प्रभाकर शंका करता है कि यह बात सर्वथा नहीं कह सकते कि प्रयोजन न हो तो प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। देखो प्रसिद्ध प्रचण्ड तेजस्वी राजाके वचनके नियोग से लोग प्रवृत्ति करते हैं। प्रयोजन न रहकर भी राजा कुछ आज्ञा करता है और लोगोंको आज्ञा पालना पड़ता है। उनका प्रयोजन और फलका कुछ उद्देश्य ही नहीं है। उससे उन्हें क्या मिलेगा? ऐसी भी अनेक घटनायें आती हैं कि राजाज्ञाको मानना पड़ रहा है और माननेवालोंको उससे किसी वस्तुका लाभ नहीं हो रहा। इस कारण यह दोष नहीं दिया जा सकता कि फलरहित नियोगसे फिर किसी बुद्धिमानकी प्रवृत्ति न बनेगी। उत्तरमें कहते हैं कि उक्त शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि प्रसिद्ध प्रचण्ड राजाके वचनके नियोगसे कोई पुरुष फल लाभके बिना भी प्रवृत्ति करता है तो वहां यह न समझना चाहिए कि उस पुरुषने प्रयोजनके बिना राजवचन माना। यद्यपि किसी वस्तुका लाभ नहीं हो रहा, यह प्रत्यक्ष दिख रहा लेकिन कोई आपत्ति राजा न डाल दें, उसकी कोई बरबादी न हो जाय, उस बरबादीके बचावका फल तो मिला। राजाज्ञा हुई और प्रवृत्ति की किसी पुरुषने उस ही प्रकार, और लाभ कुछ हो नहीं तो सर्वथा कुछ लाभ नहीं हुआ यह नहीं कह सकते। यदि राजवचन नहीं मानता तो राजा दण्ड देता, बरबादी करता, आपत्ति डालता। तो अब वचन मान लेनेसे उन आपत्तियोंसे तो बच गया, इस कारण यह बात बिल्कुल सही है कि प्रयोजनका उद्देश्य किए बिना मन्दबुद्धि पुरुष भी कुछ प्रवृत्ति नहीं करता।

फलरहित नियोगके विकल्पमें प्रत्यवाय परिहार प्रयोजनकी भी असिद्धि

अब शंकाकार प्रभाकर कहता है कि वेदवचनसे भी नियुक्त होता हुआ पापके-परिहारके लिए प्रवृत्ति कर रहा है, यद्यपि श्रुति वाक्यका अर्थ फलरहित नियोग है और फलरहित नियोगसे प्रवृत्ति कर रहा है तो यह न समझना चाहिए कि प्रवृत्ति करने वाले पुरुषने किसी भी प्रयोजनका उद्देश्य बनाये बिना प्रवृत्ति की। उसका प्रवर्तन प्रत्यवायके परिहारके लिए है। प्रत्यवाय कहते हैं दोषको। यदि दोष परिहारके लिए वेदवचनसे नियुक्त हुआ पुरुष प्रवृत्ति करेगा, कहा भी है यह कि अपने दोषकी निवृत्तिके लिए नित्य और नैमित्तिक क्रियाकाण्ड करना चाहिए। तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि तब स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे यह वचन कैसे सिद्ध हुआ क्योंकि यहां यज्ञ करो, इस तरहके लिङ् प्रत्ययसे अथवा इसके एवजमें लोट् और तव्य प्रत्यय भी लगाये जा सकते हैं। जैसे जुहुयात, यह तो हुआ लिङ्लकारका रूप, जिसका अर्थ है यज्ञ करे। जुहोतु यह

लोट् प्रत्यय है जिसका अर्थ है यज्ञ करो। और होतव्य, इसमें है तव्य प्रत्यय, जिसका अर्थ है हवन करना चाहिए। तो ये तीनो ही प्रकारके प्रत्यय बताने मात्रसे ही नियोग मात्रकी सिद्धि हुई, और देखिये ! उससे प्रवृत्ति हुई। तात्पय यह है कि यह कहना कि जो वेद वचनसे नियुक्त होता है पुरुष, वह जो यज्ञमे प्रवृत्ति करता है वह दोष परिहार के लिए करता है यह बात असिद्ध हुई। देखो स्वर्गकी प्रवृत्तिके लिए करता है एक तो यह बात उस वाक्यके अर्थमें झलकी, दूसरी बात कोई निष्काम पुरुष भी हो और वह यज्ञमें प्रवृत्ति करता है वेदवाक्यको सुनकर तो उसका भाव यह हुआ कि आज्ञा प्रधानता के ढगसे लिङ्ग आदिक प्रत्ययके निर्देशसे जितना नियोग अर्थ झलकता है, इतने मात्र नियोगसे प्रवृत्ति सम्भव हुई, तब यह नही कहा जा सकता कि दोष परिहारके अर्थ ही प्रवृत्ति होती है। और, पक्ष यह चल रहा है कि श्रुतिवाक्यका अर्थ है फलरहित नियोग तो फलरहित नियोज अर्थमें बाधा आती है।

फलसहित नियोगकी मीमासा—यदि कहो कि श्रुतिवाक्यका अर्थ है फल सहित नियोग, तो इस पक्षमें तात्पर्य यह निकला कि फलार्थिता ही प्रवर्तक रही, नियोग प्रवर्तक न रहा। श्रुति वाक्यको सुनने वाले पुरुषने जो फलकी चाहकी तो फलकी चाह रूप भाव ही यज्ञमे प्रवर्तन कराने वाला रहा, इससे अतिरिक्त नियोग अर्थ और कुछ न रहा, क्योंकि देखो कि अब नियोगके बिना भी फलार्थितासे प्रवृत्ति देखी जाती है। यदि कहो कि पुरुषके वचनसे नियोग बन जायगा तो कहते हैं कि यह उलाहना भी उपालम्भ भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा कहा जानेपर तो यह बात बनी कि जो अपौरुषेय, अग्निहोम आदिक वाक्य हैं फिर उनसे नियोग न बना। और, इस तरह तो सर्वं खल्विद ब्रह्म अर्थात् सब कुछ यह सत्त्व समूह एक मात्र ही सत् है, ब्रह्म है, यह यह वचन जो विधि मात्रका प्रतिपादक है वह भी उपालम्भसे रहित हो जायगा। सो इस तरह वेदान्तवादकी सिद्धि होती है। तो यो जो ११ प्रकारका उस श्रुति वाक्यका नियोगरूप अर्थ निकाला गया है, वह सब प्रकारका नियोग वाक्यका अर्थ नहीं है, क्योंकि उस नियोगसे किसीकी प्रवृत्ति ही नही हो पा रही है विधिकी तरह। विधि ब्रह्म यह एकार्थक शब्द है। जैसे कि सन्मात्र ब्रह्म वह किसीकी प्रवृत्तिका कारण तो नही है। इसी तरह ये सब नियोगरूप वाक्यार्थ भी किसीकी प्रवृत्तिके कारण नही हैं। यो नियोगका अर्थ इन विकल्पोके विचार करनेपर घटित नही होता। यो उन ११ तरहके नियोगार्थको एक सामूहिकरूपसे निराकृत करनेकी बात नहीं।

शुद्ध कार्यरूप नियोग व शुद्ध प्रेरणारूप नियोगकी असगतता—अब यदि उन सभी विकल्पोमे प्रत्येक नियोगरूप अर्थको अलग-अलग विचार भी करते हैं तो भी नियोगका अर्थ सिद्ध नही होता। यदि यह नियोगवादी यह कहने लगे कि लोगोके पृथक् पृथक् नियोगार्थकी मीमासा करिये, उसमें यदि श्रुतिवाक्यका अर्थ घटित न हो तब दूषण बताइये तो अब उन समस्त ११ अर्थोंमें क्रम क्रमसे एक एक अर्थके

ऊपर विचार करते हुए नियोग अर्थका निराकरण करते हैं। नियोगवादियोंका प्रथम आख्यान है कि शुद्ध कार्यको नियोग कहते हैं किन्तु यह पक्ष घटित नहीं होता, इसका कारण यह है कि जहाँ न प्रेरणा है न कोई नियोज्य है वहाँ नियोग सम्भव नहीं हो सकता है यदि प्रेरणारहित, नियोज्य रहित होनेपर भी किसी अर्थका नियोग नाम धर दिया जाय तो वह एक इस तरहका नामकरण है जैसे कि कोई अपने कम्बलका कुदाली नाम धर दे। मगर इस तरह नाम धरने मात्रसे, जिसमें कार्य कुछ नहीं, प्रयोजन कुछ नहीं, उससे इष्टकी सिद्धि नहीं होती। दूसरा आख्यान है नियोग का कि शुद्ध प्रेरणाको नियोग कहते हैं। यह भी इस ही तरह खण्डित हो जाता है इसका कारण यह है कि जहाँ नियोज्य नहीं और फल नहीं ऐसी प्रेरणा भी प्रलाप मात्र है। जहाँ उसका कोई फल ही नहीं तो थोथी प्रेरणासे प्रवृत्त क्या होगी। और नियोज्य ही नहीं तब प्रवृत्ति कौन करेगा तो? नियोज्य और फलरहित प्रेरणाको नियोगरूप नहीं दे सकते।

प्रेरणासहित कार्यरूप कार्यसहित प्रेरणारूप, कार्यप्रवर्तकत्वरूप व कार्यप्रेरणा सम्बन्धरूप नियोगकी असंगतता—तृतीय आख्यान है नियोगका यह कि प्रेरणा सहित कार्यको नियोग कहते हैं। यहाँ पक्ष भी खण्डित हो जाता है क्योंकि जब नियोज्य कोई पुरुष नहीं है तो उसके अभावमें नियोगका अर्थ ही क्या रहा? चतुर्थ आख्यान है कि कार्यसहित प्रेरणाको नियोग कहते हैं। यह बात भी उक्त निराकरणसे निराकृत हो जाती है। नियोगका ५ वाँ आख्यान है कि उपचारसे कार्यकी प्रवर्तकताका ही नाम नियोग है यह बात भी सारहीन है क्योंकि नियोज्य प्रेरणा फल आदिककी अपेक्षा न रखकर कार्यमें प्रवर्तकपनेका उपचार ही नहीं हो सकता। भला जहाँ न कोई नियोज्य पुरुष है न प्रेरणाका भाव है। न फलका दिग्दर्शन है वहाँ कार्यमें प्रवर्तकपना कैसे सम्भव है क्योंकि कभी किसी भी समय परमार्थसे कार्य उस प्रकार उपलब्ध ही नहीं होता। नियोगका छठा आख्यान है कि कार्य और प्रेरणाके सम्बन्धको नियोग कहते हैं। यह कथन भी असंगत है, क्योंकि कार्य और प्रेरणासे भिन्न सम्बन्ध जो कि सम्बन्धियोंकी अपेक्षा न रखता उस सम्बन्धमें नियोगपनेकी बात घटित नहीं होती। यदि कहा जाय कि सम्बन्धात्मक कार्य और प्रेरणाके सम्बन्धमें नियोगपना आ जायगा तो यह भी एक कठिन अभिप्रायमात्र है क्योंकि जिसके प्रेरणा की गई है अर्थात् जिस पुरुषको प्रेरित किया गया है अथवा किया जा रहा है उस पुरुषसे निरपेक्ष सम्बन्धात्मक कार्य और प्रेरणामें नियोगपना बन ही नहीं सकता।

कार्यप्रेरणा समुदायरूप कार्यप्रेरणा विकलरूप व यन्त्रारूढरूपनियोग की असंगतता—नियोगका ७ वाँ आख्यान है कि कार्य और प्रेरणाके समुदायको नियोग कहते हैं। यह पक्ष भी कार्य और प्रेरणारूप नियोगके निराकरणकी भाँति

निराकृत हो जाता है। नियोगका ८ वाँ आख्यान है कि कार्य और प्रेरणा दोनो हीं स्वभावसे रहित नियोग होता है जो जहा न काय है न प्रेरणा है। दोनोसे रहित यदि कुछ नियोगकी कल्पना की जाती है तो वह विधिवाद हीं हुआ विधिवादसे अतिरिक्त और कुछ न रहा। नियोगका ६ वाँ आख्यान है कि यत्रारूढका नियोग कहते हैं जैसे कि स्वर्गाभिलाषी पुरुष अग्निहोम आदिक यज्ञ करें इस तरहके वाक्यसे नियुक्त होनेपर यागरूप विषयपर आरूढ हुआ ? अपनेको मानता हुआ पुरुष ही प्रवृत्ति करता है, इस कारण जो यत्रारूढ होता है उसीको ही योग कहते हैं। यह पक्ष परमात्मवादके प्रतिकूल है, क्योंकि यहाँ पुरुषके अभिमान मात्रको नियोगपना कहा गया है और पुरुषका अभिमान अविद्याके उदयके कारण होता है। जब अज्ञान समाया हुआ हो तब ही अभिमानका भाव होता है। तो परमात्मवादके प्रतिकूल अभिमान भावको नियोग कहना और उस नियोगसे कल्याणकी बात कहना यह कैसे युक्त हो सकता है ?

भोग्यरूप व पुरुषरूप नियोगकी असंगतता—१० वाँ आख्यान है नियोग का कि जो भोग्यरूप है वह नियोग है। यह बात भी अयुक्त है, क्योंकि नियोक्ता और प्रेरणासे रहित अथवा जहाँ नियोक्ता नही, प्रेरणा नही वहा भोग्यमें नियोगपना बन ही नही सकता है। नियोगवादीका अतिम आख्यान है कि पुरुष स्वभाव नियोग होता है। दो तत्त्व हैं—पुरुष और प्रकृति। तो नियोग पुरुष स्वभावरूप ही है, यह आख्यान भी घटित नहीं होता, क्योंकि पुरुष तो शाश्वतिक है अर्थात् सदाकाल रहने वाला है, नित्य अपरिणामी, सन्मात्र, चिदात्मक ब्रह्म माना गया है। यदि ऐसे ब्रह्मरूपको नियोग कहा जाय तो नियोग भी शाश्वतिक बन जायगा। जैसे कि ब्रह्म अनादि अनन्त है, एकस्वरूप है। इसी तरह ब्रह्मस्वरूप नियोग भी अनादि अनन्त और एकस्वरूप बन जायगा। इस तरह नियोगवादमे ११ तरहसे नियोगका आख्यान किया गया है वह घटित नही होता। इस कारण श्रुति वाक्यका अर्थ भावनारूप ही है।

प्रभाकर द्वारा दिये गए विधिरूप वाक्यार्थके उपालम्भमे भट्ट द्वारा विधिवादका निराकरण—उक्त प्रकार भट्टके द्वारा कहा जानेपर नियोगवादी प्रभाकर प्रश्न करता है कि इस विधिसे नियोगका निराकरण करनेपर भी वाक्यका अर्थपना तो विधिमें घटित हो गया, फिर भावना वाक्यका अर्थ है ऐसा भट्टका सिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है। इसके उत्तरमें भट्ट कहता है कि नियोग निराकरणसे विधि में वाक्यार्थपना घटित नही होता और न भावनारूप वाक्यार्थका खण्डन होता है। उक्त प्रश्न चित्तमे न रखना चाहिए क्योंकि जब विधिका भी विचार करते हैं तो विधिरूप अर्थ भी बाधित हो जाता है। जरा विचार इसपर करें कि वह विधि भी अर्थात् ब्रह्मस्वरूप क्या प्रमाणरूप है या प्रमेयरूप है, या प्रमाण प्रमेय दोनो रूप है, या प्रमाण प्रमेय दोनोसे रहित अनुभयरूप है अथवा वह विधि अर्थात् ब्रह्मरूप नियोग

क्या पुरुष व्यापाररूप है या शब्दव्यापाररूप है या पुरुष और शब्द दोनोंके व्यापारसे रहित है ? ये ८ प्रकारके विकल्प जैसे कि नियोगरूप वाक्यार्थके सम्बन्धमें किए गए थे और उन विकल्पोंका निराकरण किया गया था इसी प्रकार इन ८ प्रकारके विकल्पोंमें विधिरूप वाक्यार्थका भी निराकरण होता है। वह किस तरह सो सुनो।

विधिको प्रमाणरूप माननेपर व्याप्ति प्रदर्शन—यदि विधि प्रमाणरूप है तो अब जो सन्मात्र चिदात्मक सर्वस्व विधि है वह तो मान लिया गया प्रमाणरूप, अब बचा ही कुछ नही तो प्रमेय क्या होगा ? यदि विधिको प्रमाणरूप मानते हो तो कुछ प्रमेयरूप भी तो होना चाहिए। वह दूसरा क्या है जो कि प्रमेयरूप बने ? यदि कहो कि प्रमाणका स्वरूप ही प्रमेय है, विधिका स्वरूप ही प्रमेय बनेगा तो यह बात नही कह सकते क्योंकि जो सर्वथा निरंश है, जिसके खण्ड नही हो सकते, सन्मात्र ही जिसका समस्त कलेवर है ऐसी विधिमें प्रमाणरूप और प्रमेयरूप दो भावोंका विरोध है। जब वह विधि, वह ब्रह्म सन्मात्र अखण्ड तत्त्व प्रमाणरूप है तो प्रमेयरूप नही हो सकता अन्यथा उसका खण्ड बन गया। अंश बन गए किन्तु विधि तो निरंश है। इस कारण उसमें प्रमाणरूपता है तो प्रमेयरूपता नही बन सकती। यदि कहो कि कल्पना द्वारा उस विधिमें दोनों रूपका अविरोध हो जायगा वही सन्मात्र चिदात्मक अखण्ड विधि ब्रह्म प्रमाणरूप है और उस हीमें कल्पनायें करके चूंकि वह चित्स्वरूप है तो खुद चेत्याय भी होगा अतएव प्रमेय बन जायगा। इस तरह कल्पना द्वारा एक विधि में प्रमाणरूप और प्रमेयरूप दोनोंका अविरोध हो जायगा। तो उत्तरमे कहते हैं कि फिर इस समय शब्दका अर्थ अन्यापोह है इसका निषेध कैसे किया जा सकेगा ? जब कल्पनासे एक विधिमें प्रमाणरूप और प्रमेयरूप दोनोंका अविरोध मान लिया जाता है तब फिर शब्दके अर्थमें विधिरूप और अन्यका अपोहरूप अर्थका अविरोध रहे इसमें कौन सी आपत्ति है ? फिर अन्यापोहको शब्दार्थ क्यो नहीं माना जाता ? क्योंकि अन्यापोहवादी यह सकता है कि ज्ञानमात्र तत्त्वमें अप्रमाणपनेकी व्यावृत्ति होनेके कारण तो प्रमाणपना है और अप्रमेयपनेकी व्यावृत्ति होनेके कारण प्रमेयपना है, अर्थात् तत्त्व वही ज्ञानमात्र है और उस ज्ञानमें अप्रमाणताकी व्यावृत्ति है इस कारण प्रमाणता है और अप्रमेयपनेकी व्यावृत्ति है इसलिए प्रमेयपना है। तो अब देखिये ! ज्ञानमात्र शब्दमें ये दो अर्थ आगए ना, फिर अन्यापोहका निषेध कैसे किया जा सकेगा?

शब्दका विधिकी तरह अन्यापोह अर्थ होनेके विषयमे मीमांसा—शंकाकार कहता है कि अन्यापोह यद्यपि अन्य धर्मका परिहार करता है और शब्दके अन्यापोहका अभिधायक माना गया है अर्थात् शब्द अन्यापोहको भी कह रहा है, तब भी शब्दमे यदि वस्तुस्वरूपको बतानेका भाव नही है वह वस्तुस्वभावका वाचक नही बनता तो शब्द फिर किसी भी कार्यमें प्रवर्तक नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि शब्दके अर्थ दो मान भी लिए जायें कि शब्द विधिको भी कहते हैं और अन्यका

निषेध भी करते हैं। जैसे घट कहा तो घट शब्द घटरूप पदार्थको भी बताता है और घट शब्द यह भी बताता है कि घटके अतिरिक्त अन्य जितने पदार्थ हैं वे सब यह नहीं हैं याने घट शब्द अघटका परिहार करता है और घटका विधान भी करता है। तो यो शब्दमे दो अर्थ भरे पडे हैं तो रहें लेकिन उन दो अर्थोंमेंसे यह अन्तर तो देखिये कि घट शब्द जो घटमें प्रवृत्ति कराता है उस प्रवृत्तिका कारण विधिरूप घटका वाचकपना है। कही इस कारणसे पुरुष घटको उठाकर उसमे पानी नही भरता कि यह अघट नहीं है। इसमे पानी भरलें, किन्तु सीधा भाव यह रहता है कि यह घड़ा है, इसमे पानी भरना है, यह काम देगा तो विधि, स्वभाव, वस्तुस्वभावको कहते हैं शब्द, इस प्रधानतामे शब्द घट विषयमे प्रवृत्ति कराता है। यदि शब्द वस्तुस्वभावका वाचक न बने तो कहीभी प्रवृत्ति बन नही सकती इसकारण शब्दका अर्थ अन्यापोह नहीं है प्रवृत्ति का हेतु अन्य पोह अर्थ नही किन्तु वस्तुस्वभाव अर्थ है। इसके समाधानमे कहते हैं कि फिर तो वस्तु स्वरूपको बताने वाला होनेपर भी शब्द यदि अन्यका परिहार न बताये तो प्रवृत्ति नही कराता है। अन्यके परिहारपूर्वक, फिर तो किसी भी जगह प्रवृत्ति न बन पायगी। तो यो विधि भी शब्दका अर्थ मत बने। जैसे कि शकामे यह कहा था कि शब्द यदि वस्तु स्वभावका वाचक नही बनता तो प्रवृत्ति नही बनती, तो यह भी देखा जा सकता है कि शब्द यदि अन्यका परिहार न बनाये तो भी प्रवृत्ति नही बन सकती। तो विधि भी शब्दका अर्थ मत बने।

श्रुतिवाक्यमे परमपुरूषकी ही विधेयता होनेका प्रश्न और उसका उत्तर कोई यह कहे कि फिर तो परम पुरुष ही विधेय होगया याने शब्दके द्वारा परम पुरुष ही कहा गया और करना भी क्या है? वह एक परम पुरुष स्वरूप ही सारा कार्य है इसलिए परम पुरुषसे अन्य कुछ सम्भव ही नही तभी तो अन्यके परिहारसे प्रवृत्ति होती है, यह बात घटित नही है। तो समाधानमे कहते हैं कि यदि परम पुरुष से अतिरिक्त कुछ नहीं है और इसी कारण किसी अन्यके परिहार पुर्वक प्रवृत्ति नहीं होती तो फिर इस श्रुति वाक्यसे कि द्रष्टव्यो ऽयमात्मा श्रोतव्यो निदध्यासितव्य अरे भाई यही आत्मा दिखना चाहिए, यही आत्मा सुनना चाहिए, यही आत्मा उपासनामें लाना चाहिए आदिक वाक्यसे फिर नैरात्म्य अर्थात् आत्माके अस्तित्वको न मानने वाले भावोके परिहारसे ही आत्मामे प्रवृत्ति फिर न हो सकेगी। याने आत्माका जब उपदेश किया जा रहा है कि आत्माको देखो तो सुनने वाला यह भी तो समझता है कि आत्मासे अतिरिक्त जो बातें हैं उन्हे मत देखो। तो उन बातोका परिहार करते हुए ही तो उनके आत्मामें प्रवृत्ति होती है। यदि अन्य परिहारकी बात नही लायी जाती है तो जो नैरात्म्य आदिक नास्तिक दर्शन हैं उनमें भी प्रवृत्तिका प्रसग आ जायगा। यदि कहो कि नैरात्म्य आदिक जो नास्तिक दर्शन हैं, जो आत्माका अस्तित्व ही नही मानते वे दर्शन तो अविद्यासे कल्पना किये गये हैं इस कारण नैरात्म्य दर्शनो मे प्रवृत्ति न होगी। तो उत्तरमें कहते हैं कि फिर अन्यके परिहारसे प्रवृत्ति कैसे न हुई?

जो आत्मामें प्रवृत्ति करनेका उपदेश किया जाता है तो उसे सुनकर श्रोता यह समझता है कि आत्माको देखनेका यत्न व अनात्माको छोड़ना शकाकार कहता है कि जब ब्रह्म स्वरूपकी विधि करदी परम ब्रह्मस्वरूपका दर्शन किया जारहा, उसका अस्तित्व माना जारहा तो ऐसे परमब्रह्मस्वरूपका विधान ही अविद्यासे मानेगए अन्य नैरात्म्य आदिक दर्शनोंका परिहार कहलाने लगा, अर्थात् परम ब्रह्मस्वरूपका अस्तित्व बताना ही अन्य ब्रह्मविपरीत नैरात्म्य आदिक दर्शनोका परिहार अपने आप हो गया तो, उत्तरमे कहते हैं कि फिर इस तरह अन्यापोहवादियोंका अन्यापोह ही स्वरूप याने विधि, क्यो न बन जाय। जैसे कि कहते हो कि अस्तित्वके माननेका ही नाम अन्यका परिहार है तो यों भी कहा जा सकता कि अन्यके परिहार करनेका ही नाम वस्तुका अस्तित्व है तो फिर अन्यापोह ही अर्थात् अन्यका परिहार करना ही स्वरूपका विधान क्यो न बन जायगा ? यदि यह कहो कि स्वरूपका विधिका तो अन्यापोहवादसे विरोध है इस कारण अन्यका परिहार करना ही स्वरूपका विधान नही बन सकता। तो उत्तरमें कहते हैं कि यो तो विधिवादियोके विधिवादका भी विरोध होनेसे विधिस्वरूपका विधान ही अन्यका अपोहन नहीं बनेगा याने जैसे अन्यापोहवादका विरोध होनेसे अन्यापोहका स्वरूप विधि नही माना जाता वैसे ही विधिवादसे विरोध होनेसे फिर विधिवादसे अन्यापोहनका मानना भी मत बनो।

अन्यापोहका प्रतिभासान्त प्रविष्ट होनेका विधिवादीका पक्ष — शकाकार कहता है कि विधिवादसे अन्यापोहका मानना बन जाता है, यह कहना केवल वचनमात्र है क्योकि परमार्थसे प्रतिवादीने अन्यापोहको माना ही नही। विधिवादीका कथन है कि अन्यापोह भी प्रतिभास समानाधिकरण है अतएव अन्यापोह भी प्रतिभास के अन्दर ही प्रविष्ट है, परम पुरुषपना होनेसे, प्रतिभास स्वरूपकी तरह। जैसे प्रतिभासका स्वरूप प्रतिभासका ही तो समानाधिकरण है इस कारण प्रतिभासमे ही सामिल है इसी प्रकार अन्यापोहको भी प्रतिभासमे ही सामिल कर लिया जाता है। फिर अन्यापोहका मानना क्या रहा ? विधिवादका कहना है कि प्रत्येक पदार्थको, प्रतिभास स्वरूपको, अन्यापोहको यदि प्रतिभास नहीं मानते तो व्यवस्था नहीं बनती। अगर अप्रतिभास माननेपर भी व्यवस्था बन जाय तो इसमें बडा दोष आता है। आकाशपुष्प, वन्ध्यापुत्र आदिक जो असत् हैं वे अप्रतिभासमात्र हैं, असत् ही तो है। फिर उनकी भी व्यवस्था बन जाय। इस कारण विधिवादका यह कथन है कि अन्यापोह चूकि प्रतिभाससमानाधिकरण है इस कारण प्रतिभासमें ही सामिल है। हाँ शब्द ज्ञानके नाते अथवा एक अनुमान ज्ञानके नाते अन्यापोहका प्रतिभास हो रहा है तो भी प्रतिभास समानाधिकरण होनेसे प्रतिभासनसे कुछ अन्तर नही है, अतएव प्रतिभास स्वरूप परम पुरुषसे भिन्न अन्यापोह नही। और, वह शब्दज्ञान अथवा अनुमानज्ञान भी प्रतिभासमात्र होनेसे पुरुषसे अन्य नही। न तो अन्यापोह प्रतिभाससे पृथक् है और अन्यापोहका ज्ञापक शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान भी प्रति-

भास स्वरूपसे भिन्न नही है।

अन्यापोहवादकी ओरसे विधिवादके पक्षका निराकरण—अब उक्त शका होनेपर समाधानमें कहते हैं कि फिर तो इस समय उपनिषद्वाक्य अथवा प्रतिभास स्वरूपको सिद्ध करने वाला अन्य कोई चिन्ह या साधन भी कैसे सिद्ध हो सकता है ? वह भी प्रतिभासमात्रसे जुदो चीज नहीं रह सकती। और, जब लिंग और उपनिषद् वाक्यमे जुदे न ठहरे तब फिर प्रतिभास स्वरूपकी, ब्रह्मस्वरूपकी प्रतिपत्ति बुद्धिमानोके द्वारा कैसे समझी जा सकती है ? इस कारण एकान्त करना कि जो कुछ भी है वह प्रतिभास स्वरूप होनेसे परम पुरुषमात्र है। चाहे अन्यापोह हो या अन्य कुछ हो, ऐसा माननेपर तो प्रतिभास स्वरूपकी भी सिद्धि नही हो सकती। शकाकार कहता है है कि उपनिषद् वाक्य अथवा प्रतिभास स्वरूपको सिद्ध करने वाला कोई साधन लिंग परम ब्रह्मकी ही तरङ्ग है और तरङ्ग तरङ्गीको अभेदरूपसे ही माना गया है। उन तरङ्गोके द्वारा तरङ्गी परम पुरुषका ज्ञान भी कर लिया जाता है। ऐसा कहने पर समाधानमे कहा जाता है कि यदि परम ब्रह्मसे अभेदरूपसे परिकल्पित वितर्कसे उपनिषद वाक्य अथवा लिङ्गसे यदि परम ब्रह्मकी प्रतिपत्ति मान ली जाती है तो इसका तात्पर्य यह हुआ ना, कि परिकल्पित वाक्यसे प्रतिपत्ति मानी। तो भला यह तो बतलाओ कि परिकल्पित वाक्यसे अथवा लिंगसे पारमार्थिक परम ब्रह्मका ज्ञान कैसे किया जा सकता है ? यदि परिकल्पित साधनसे पारमार्थिक साध्यकी प्रतिपत्ति मान ली जाती है तब तो एक परिकल्पित धूमसे चाहे वह भाप हो, मायामयी धूम हो या उस जातिका अँधेरा हो, किसी भी प्रकारके परिकल्पित धूमसे पारमार्थिक अग्नि आदि अनेक साधनोकी प्रतिपत्ति हो जायगी। शकाकार कहता है कि उपनिषद वाक्य और परम ब्रह्मत्वको सिद्ध करने वाला लिंग पारमार्थिक ही है वह परम ब्रह्म स्वरूप होने से पारमार्थिक ही कहा जाता है। तो समाधानमे कहते है कि तब तो फिर जैसे उपनिषद वाक्य और लिंग पारमार्थिक माना है और साध्य भी पारमार्थिक माना है तो ये सब लिङ्ग अथवा साधन साध्यसम हो गए। जैसे कोई कहे कि यहाँ अग्नि है, अग्नि होनेसे तो यह साध्यसम कहलाया। यह अनुमानकी विधि न हुई पारमार्थिक परम ब्रह्मकी सिद्धि करनेके लिए पारमार्थिक ही वाक्य लिङ्ग साधन मान लिया गया तो वह साध्यसम हो गया। फिर वह पारमार्थिक पुरुषद्वैतकी, परम ब्रह्मका कैसे व्यवस्था कर सकता है ? और भी समझिये कि जैसा उपनिषद् वाक्य लिङ्ग प्रतिपाद्य जनो के लिए प्रसिद्ध है उस प्रकारका तो पारमार्थिक नही है। जैसे लोग जानते हैं शिष्य आदिक समझते है प्रयोगसे वैसा तो पारमार्थिक नही है अन्यथा याने इस तरह अगर मान लिया जाय तो द्वैत प्रसग होगा अर्थात् प्रतिपाद्य जनोको, लोगोंको इस सम्बन्धमे जिस जिस प्रकारका बोध है वे सब अनेक हैं, फिर परमार्थ अद्वैतकी सिद्धि कैसे होगी? इस कारण परमार्थ सिद्ध चाहने वाले पुरुषोको पारमर्थिक उपनिषद वाक्य और लिङ्ग मानना चाहिए।

परमब्रह्मसिद्धिसाधनभूत लिङ्ग व उपनिषद्वाक्यमें चित्स्वभावत्वका अनवकाश–अब यह देखिये कि उपर्युक्त पद्वाक्य और लिङ्ग वे हैं सब अचित्स्व भाव। वाक्य अथवा जो भी साधन परमब्रह्मकी सिद्धिके लिए बताये जायें वे सब उचित स्वभाव हैं क्योकि चित्स्वभाव यदि इन वाक्योको और साधनोको मान लिया जाता है तो फिर यह परसम्वेद्य न रहेगा अर्थात् हम इन साधनोको दूसरेके लिए समझ यें तो दूसरा समझ ही न सकेगा, क्योकि इन साधनोको मान लिया चित्स्वभाव, तो जो चित्स्वभाव होता है वह परसम्वेद्य नहीं होता। इस बातको इस तरह भी समझें कि यदि वह वाक्य और साधन चित्स्वभाव मान लिया जाता है तो यह बतलावो कि वह प्रतिपादकके चित्स्वभावरूप है या प्रतिपाद्यके चित्स्वभावरूप है? एक समझाने वाला गुरु है और एक समझने वाला शिष्य है तो समझाने वालेके चित्स्वभावरूप है वह साधन वाक्य या समझने वाले शिष्यके चित्स्वभावरूप है? यदि कहो कि जो समझा रहा है उसके चित्स्वभावरूप है वह साधन और वाक्य तब तो यह दोष स्पष्ट ही है कि उसे दूसरा फिर जान नहीं सकता। जैसे कि प्रतिपादक चेतनके जो सुख उत्पन्न होता है उस सुखका दूसरा तो सम्वेदन नही कर सकता। तो इसी प्रकार प्रतिपादकके चित्स्वभाव रूप है यदि वह साधन अथवा वाक्य तो वह दूसरेके द्वारा सम्वेद्य नहीं हो सकता है। यदि कहो कि वह साधन और उपनिषद वाक्य प्रतिपाद्यके चित्स्वभावरूप है, जिसे समझाया जा रहा है और शिष्य समझना चाहता है उस चेतनके स्वभावरूप है तब तो फिर प्रतिपादकके द्वारा वह सम्वेद्य नही हो सकता जब वह साधन और वाक्य शिष्यके चित्स्वभावरूप बन गया तो उसे अन्य कोई क्या सम्वेदन करेगा? तो प्रतिपादकने जब उस साधन और वाक्यका सम्वेदन ही न कर पाया तो समझानेकी बात ही क्या रह सकती है यदि कहो कि परम ब्रह्मस्वरूपकी सिद्धि करने वाला लिङ्ग और वाक्य दोनो के चित्स्वभावरूप है और प्रतिपाद्यके भी चित्स्वभावरूप है। ऐसा माननेपर फिर जो अन्य प्राश्निक लोग हैं, उनके द्वारा सम्वेद्य न हो सकेगा। जैसे कि प्रतिपादकका सुख और प्रतिपाद्यका सुख इसको प्राश्निकलोग क्या जानें? उसके प्रतिपादक और प्रतिपादन मे जैसे प्रतिपाद्यका सुख नही आ सकता इसी प्रकार प्रतिपाद्य और प्रतिपाद्यके चित्स्व भावरूप जो साधन है, वाक्य है वह भी अन्य लोगोके सम्वेदनमे नही आ सकता है।

परमब्रह्मसिद्धिसाधनभूत साधन व वाक्यको सकलजनचित्स्वभावरूप माननेपर प्रतिपादक प्रतिपाद्य प्राश्निकादि भेदोकी असिद्धि होनेसे पठन पाठनादिव्यवहारका लोप– यदि कहो कि फिर यह मान लीजिये कि वह साधन और वाक्य जो परमब्रह्मकी सिद्धिके लिए उपस्थित किया गया है समस्त मनुष्योंके चित्स्व भावरूप है अर्थात् प्रतिपादकके चित्स्वभावरूप है, प्रतिपाद्यके चित्स्वभावरूप है और प्राश्निकोंके लिए चित्स्वभावरूप है। समाधानमें कहते हैं कि ऐसा माननेपर तो प्रतिपादक, प्रतिपाद्य दर्शक आदिक भेदोकी उत्पत्ति नही हो सकती, क्योंकि परमब्रह्मस्वरूप सिद्धिके लिए उपस्थित किया गया साधन अथवा श्रुतिवाक्य जब सभीके चित्स्व-

भाव रूप बन गया तो अविशेषता हो गयी, उनमें कोई अब अन्तर न रहा। फिर यहाँ यह भेद कैसे हो सकता है कि यह प्रतिपादक है, यह प्रतिपाद्य है और यह प्राश्निक है। शंकाकार कहता है कि प्रतिपाद प्रतिपाद्यक आदिक जो भेद हैं वे तो जो भेद है वे तो अविद्यासे उपकल्पित हैं, इस कारण कोई दोष नहीं है। तो इसके समाधानमें कहते हैं कि तब तो फिर जो ही प्रतिपादककी अविद्या है और वह प्रतिपादकपनेसे कल्पना कराती है तो अविद्या तो यही है ना? एक सो वही अविद्या प्रतिपाद्यके भी और प्राश्निक लोगोंमें भी समानरूपसे है तब उनमें भी प्रतिपादकत्वकी कल्पना करा दे। अर्थात् जब अविद्याने ही यह कल्पना करायी है कि यह समझाने वाला है यह समझने वाला है और ये प्राश्निक लोग हैं तो यह बतलावो कि अविद्या तो सबपर छायी है, अथवा समझने वालेकी अविद्या तो सबमें अविशेष है फिर इस अविद्याने प्रतिपादकमें ही क्यों कल्पना कराई है कि यह प्रतिपादक है? प्रतिपाद्यमें और उन दार्शनिकोंमें क्यों नहीं कल्पना करा देती कि यह प्रतिपादक है? अटपट उल्टे सीधे कल्पनायें क्यों नहीं करा बैठती? तथा जब प्रतिपादक प्रतिपाद्य और दार्शनिक आदिकमें भेद नहीं है तो अविद्यामें भी अभेद हो जायगा और अविद्यामें यदि भेद मानते तो फिर प्रतिपादक आदिकमें भी भेद बनेगा। तो क्या अविद्याओंमें भेद है? हाँ अगर भेद मान लेते हो अविद्यामें तो भेद व्यवस्था बनायी जायगी। शंकाकार कहता है कि अनादिकालीन अविद्यासे ही यह कल्पना हुई है या रची गई है अविद्या? और, उसमें जो भेद है वह पारमार्थिक नहीं है। अविद्याओंका भेद भी अनादि अविद्यासे उपकल्पित है। पारमार्थिक नहीं है। समाधानमें कहते हैं कि फिर तो परमार्थसे अभिन्न रही अविद्या। अविद्यामें भेद अविद्यासे ही उपकल्पित किया गया है तो इसका भाव यह रहा कि अविद्यामें अविद्याने ही भेद किया है परमार्थसे भेद नहीं है। और, जब परमार्थसे अविद्यामें भेद न रहा तो वही साकर्य सग होता है कि प्रतिपादक प्रतिपाद्य दार्शनिक आदिक सभी लोग एक बन बैठे और जब सब एक हो गए तो वहां यह भेद नहीं बन सकता कि यह समझाने वाला है और ये समझाने वाले हैं और फिर कौन ब्रह्मस्वरूप को समझायेगा कौन समझेगा?

प्रतिपादकादिभेद करने वाली अविद्याको अविद्योपकल्पित माननेपर प्रतिपादिकादिभेदकी पारमार्थिकता सिद्ध होनेसे पुरुषाद्वैतकी सिद्धिकी वाधितता—अब शंकाकार कहता है कि अविद्या भी प्रतिपादक आदिकमें अविद्याकी उपकल्पना करनेसे बनी है। इस कारण अविद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है इन विकल्पों को नहीं सह सकती, याने अविद्या नीरूप है उसकी कोई मुद्रा ही नहीं। उसकी कोई वजूद ही नहीं, अस्तित्व ही नहीं, केवल प्रतिपादको आदिकमें अविद्याकी कल्पना हुई है। उससे अविद्या मानी गई है सो वह अविद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है? इन विकल्पोंमें नहीं आ सकती। तो समाधानमें कहते हैं कि फिर तो बलपूर्वक यही सिद्ध हुआ ना कि प्रतिपादक आदिक पारमार्थिक हैं, क्योंकि जब अविद्या भी अविद्यासे उप-

कल्पित हो गयी यह समझाने वाला है इस प्रकारका भेद होना अविद्या मान ली गई और इस अविद्याकी कल्पना भी अविद्यासे हुई, तब अविद्या भी असिद्ध है। इसका अर्थ है कि अविद्या कुछ नही वे प्रतिपादक आदिक वास्तविक हैं और अविद्याकी अविद्याकल्पित माननेपर विद्यापनकी विधि अवश्यभावी है, याने प्रतिपादक गुरु प्रतिपाद्य शिष्य ये सब पारमार्थिक सिद्ध होते हैं और इस तरह प्रतिपादक आदिकसे भिन्न उपनिषद वाक्य हैं। यदि प्रतिपादक आदिकसे भिन्न उपनिषद वाक्य न माना जाय तो एक साथ सभीका सम्वेदन नही हो सकता तो इससे सिद्ध हुआ कि परमब्रह्मकी सिद्धि करने वाले उपनिषद वाक्य अथवा साधन ये बहिर्वस्तु हैं अचित्स्वभाव हैं घट आदिक की तरह। तब प्रतिभासाद्वैतकी सिद्धि नही हो सकती। जैसे परम ब्रह्मकी सिद्धि करने वाला साधन वाक्य यह वास्तविक है, पृथक है इसी प्रकार घट पट आदिक ये समस्त पदार्थ भी पृथक् हैं। फिर प्रतिभासाद्वैतकी व्यवस्था नही बन सकती। एक मात्र परमब्रह्म ही है, इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। प्रतिभास भी है अगर प्रतिभास्य कोई भिन्न पदार्थ नही है तो प्रतिभास स्वरूपकी सिद्धि भी नहीं की जा सकती है।

कथंचित् भेदमे ही समानाधिकरण्यकी उपपत्ति होनेसे प्रतिभासाद्वैतकी असिद्धि— इस प्रसंगमे विशेष यह भी एक बात है कि प्रतिभास समानाधिकरणपना कथंचित् भेदमें रह सकता है। यह कहना कि जो प्रतिभास समानाधिकरण है वह प्रतिभासमें ही सामिल है। प्रतिभाससे अन्य कुछ नही है। यहाँ ऐसी हठ करने की बात बनती नही। कि प्रतिभास समानाधिकरण भी प्रतिभाससे भिन्न रहे। प्रतिभास अलग है, प्रतिभास अलग है। ऐसा भेद होनेपर भी प्रतिभास समानाधिकरणपना रह सकता है। जैसे कि कहा जाता है कि घट प्रतिभासित हो रहा है तो प्रतिभास करने वाला पुरुष घटको प्रतिभासमे ले रहा तो यहाँ दोनो चीजें भिन्न है और प्रतिभास समानाधिकरण बन गया जो ऐसा कहा जाता है कि घट प्रतिभासित होता है वह प्रतिभासका विषय है। तो यह तो विषय और विषयीके अभेद उपचारसे कहा जाता है। जैसे कि एक किलो अनाजको लोग कह देते हैं कि यह एक किलो है तो वह किलोमें और किलोके बराबर हुए अनाजमें अभेदका उपचार किया गया है। और तब कहा गया है कि यह एक किलो है। एक किलो तो है जो लोहा पीतल का है वही है। जैसे केला बेचने वालेको लोग केला ही कहकर पुकारते हैं ऐ केला आवो, तो वह केलामें और केला वालेमे सम्बन्धके कारण अभेदोपचार किया गया है। इस कारण उपचरित समानाधिकरणसे अथवा याने उपचारसे माने गए समानाधिकरणसे अथवा याने उपचारसे उपचरितमे एकत्वकी सिद्धि सर्वथा नही होती। याने जैसे केलामें और केला वालेमें उपचारसे समानाधिकरणत्व माना और उसे भी केला कहकर ही पुकारो तो इससे कही केला और केला वालेमे एकत्वकी सिद्धि न हो जायगी। फिर कोई पूछे कि मुख्य समानाधिकरणपना फिर कैसे सिद्ध हुआ? तो उत्तरमे कहते कि ज्ञान प्रतिभासित होता है। इस व्यवहारमे मुख्य समानाधिकरण है अर्थात् प्रति-

भासने वाला भी ज्ञान है और प्रतिभासमे आया हुआ भी ज्ञान है तो एक ही आधार हुआ दोनोका, एक ही वस्तु हुआ दोनोका, एक ही वस्तु हुआ दोनोका स्रोत, उसे समानाधिकरपना यह बनेगा कि सम्वेदन प्रतिभास रहा है। इसमे मुख्य समानाधिकरण्य नही है, उपचारमे हैं। घट-घटकी जगह है, ज्ञान ज्ञानज्ञानकी जगह है। भिन्न वस्तु है विषयी भावके कारण उपचारसे कहा गया है यह कि घट ज्ञानका विषय है। और मुख्यतया देखा जाय तो घटा कर जो सम्वेदन है वह ज्ञानका विषय है। इसी कारण व्याधिकरणपनेका व्यवहार यह भी यह गौण माना जायगा कि यह सम्वेदन का प्रतिभासन है। व्याधिकरणका व्यवहार यह तो मुख्य मान लिया जायगा कि यह घटका प्रतिभासमान है याने घटका आधार दूसरा है प्रतिभासका आधार दूसरा है। भिन्न भिन्न दो होनेपर भी यह घटका प्रतिभास है। इसमे समानाधिकरण्य तो उपचारसे है और व्याधिकरणत्व मुख्यतासे है और सम्वेदन प्रतिभास रहा है, यहा समानाधिकरण्य मुख्यतासे है और यह सम्वेदनका प्रतिभास है। यहा व्याधिकरणपना गौण है। इस तरह कथचित् भेदके विना समानाधिकरण भी तो नही बन सकता। इस कारण प्रतिभास और प्रतिभासमे कथचित् भेदकी सिद्धि है। एकमात्र सर्वव्यापी ब्रह्म है। वह प्रतिभास स्वरूप है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। यह बात नही बन सकती।

कथचित् भेद व कथचित् अभेदमे ही समानाधिकरण्यकी उपपत्ति— जैसे कि सफेद कपडा है यह कहा, अब यदि सफेद और कपडा ये दोनो सर्वथा अभिन्न हो जायें तो समानाधिकरणपना नही बन सकता। जैसे कपडा—कपडा इसमे क्या समानाधिकरणपना है ? क्योकि यह तो सवथा एक है, सर्वथा एकमें समानताका व्यवहार भी नही किया जा सकता, सो सवथा एकमे समानाधिकरणपना नही बनता। इसी तरह सवथा अभेदमें भी समानाधिकरणपना नही बनता। जैसे हिमालय और समुद्र ये अत्यन्त जुदे हैं, वे कहा एक समानाधिकरणमे आ सकते हैं ? इससे मानना चाहिए कि कथचित् भेद हो वहा ही समानाधिकरणपना बनाया जा सकता है। यो एकमात्र यह सारा विश्व परम ब्रह्म ही है, इसकी सिद्धि नही हो सकती है। पुरुषाद्वैतवादी याने जो मात्र ब्रह्मको मानते है उनका कहना यह है कि जो कुछ भी है वह प्रतिभासके अन्दर सामिल है, प्रतिभासमात्र है, प्रतिभाससे अन्य कुछ नही है। तब एक पुरुषमात्रकी ही सत्ता चाहने वालेसे यह पूछा गया कि तुम्हारा वह ब्रह्म (पुरुष) प्रमाण है या प्रमेय ? वह ब्रह्म (पुरुष) प्रमाणस्वरूप है तो फिर प्रमेय बतलाओ कि क्या है ? क्योकि प्रमेयके बिना प्रमाणका स्वरूप कुछ नही रहता। कोई चीज ज्ञेय हो तब तो ज्ञानका स्वरूप बनेगा। तो प्रमेय कुछ हो तब प्रमाणका स्वरूप बनेगा और तुम मानते हो कि सब कुछ एक ब्रह्म है और वह प्रमाणरूप है तो प्रमेयके बिना प्रमाण क्या बनेगा ? यदि यह कहो कि प्रमाणका जो स्वरूप है वही प्रमेय है, ज्ञान का जो स्वरूप है वही ज्ञेय है, वही प्रतिभासमात्र एक ब्रह्म, वही ज्ञाता, वही ज्ञेय है,

तब फिर एक ब्रह्म कहाँ रहा ? उस तुम्हारे एक ब्रह्ममें दो रूप आ गए। वही प्रमाण रूप भी बना, प्रमेयरूप भी बना। अब सर्वथा एकत्व तो न रहा। और, जब ब्रह्मरूप मे दो रूप आ गए तब फिर पदार्थमें यो दो रूप क्यो नही मान लेते ? स्वचतुष्टयसे सत् है, परचतुष्टयसे असत् है अथवा पदार्थमें अपना स्वभाव है और अन्यका अपोह है, क्षणिकवादी अन्यापोह मानता है कि शब्दका अर्थ अन्यापोह है। जैसे कहा घट तो इसका अर्थ है कि अघट नही है। तो शब्दमे फिर अन्यापोह अर्थको क्यो मना किया जाता है ? केवल विधिरूप ही क्यो मानते हो ? इसपर बहुत शङ्का—समाधान होते-होते अन्तमें यह बात निकली कि सर्वथा यदि कोई भिन्न है तो उसमें समानाधिकरण नही बनता, समानाधिकरणकी बुनियादपर ही वस्तु एक माना जाता है। जैसे सफेद कपडा। तो सफेदका जो आधार है वही कपडेका आधार है। एक आधार होवे तो उसे एक माना जाता है। तो समानाधिकरण सर्वथा भिन्न चीजोमें नहीं होता। जैसे हिमालय और विन्ध्याचल ये सर्वथा अभिन्न हैं, इनमें समानाधिकरण न होगा और, सर्वथा अभेद हो, एक हो वहाँ भी समानाधिकरण नही बनता। जैसे पट और पट कपडा और कपडा उसमें क्या समानाधिकरण ?

प्रतिभास्यकी अर्थान्तरता व शब्दकी अन्यापोहनपूर्वक प्रवर्तकता होने से श्रुतिवाक्यके प्रमाणरूप—विधि अर्थकी असगतता प्रतिभासमान जो अन्यापोह है वह चाहे प्रतिभास समानाधिकरण है, लेकिन प्रतिभास भेदसे उसमें भेद है, यह बात सिद्ध हुई ना ? तब फिर शब्द अन्यापोहको भी विषय करने वाला हुआ। घट बोला तो घटका विषय यह भी हुआ कि अघट नहीं है और घटका विषय घट है यह तो मान ही रहे हो तब फिर शब्दको केवल विधि विषयक ही बताना यह कैसे सिद्ध हो सकता है ? ब्रह्मवादका यह सिद्धान्त है कि जो कुछ उपदेश किया गया है अर्थ उसका एक परम ब्रह्म है। जैसे कहा कि स्वर्गकी चाह करने वाला यज्ञ करे तो इस का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ है परम ब्रह्म। क्योंकि इसमे एक चेतनकी बात कही है और वह ब्रह्मस्वरूप है। तो कुछ भी शब्द हो, कोई भी वाक्य हो कितने भी ग्रन्थ हों, उन सबका अर्थ एक परम पुरुष है, ऐसा केवल एक विधिको ही विषय करने वाला शब्द है यह मानन वालेके प्रति दोष दे रहा है क्षणिकवादी कि शब्दका अर्थ केवल विधि विषय ही कैसे कहा जा रहा, अन्यापोह भी उसका अर्थ माना। अन्यथा अर्थात् यदि केवल विधिको ही विषय करने वाला मानते हो शब्दको तो फिर शब्दमें यह ताकत कहासे आयी कि अन्यका परिहार करके किसी एकमें लग जाय। जैसे किसी बालकसे कहा कि इन खिलोनोंमेंसे घोडा खिलौना उठा लाओ तो अब वह अन्य खिलोनोंको छोड करके उस घोडा खिलोनोंको लानेकी प्रवृत्ति करते हैं, तो वह प्रवृत्ति वह तभी तो कर सकता जब उस घोडा शब्दका अर्थ यह भी हुआ कि अन्य खिलौना नहीं। तो जब शब्दार्थ विधिको ही बताते, फिर तो शब्दका परिहार करके किसी एकमे प्रवृत्ति कराते, यह बात नही बन सकती। अत केवल विधि ही शब्दका

अर्थ है, विषय है यह बात युक्ति सगत बनेगी । यदि विधिको ही प्रमाणपना मानते हो कि जो वाक्य बोला है, श्रुतिवाक्य कि स्वर्गका भी पुरुष यज्ञ करे । इस वाक्यका अर्थ केवल ब्रह्मस्वरूप मानते हैं और उसे मानते हो प्रमाणरूप तो फिर प्रमेय बताना चाहिए । उस हीको प्रमेय कल्पना करनेपर जैसे उस विधिमे दो रूप आ गए प्रमाण रूप और प्रमेयरूप तो ऐसे ही शब्दमे भी दो रुप आ पडेंगे । अन्यापोहरूप अर्थ और विधिरूप अर्थ । यदि शब्दका अर्थ अन्योपोह नही मानना चाहते तो अपना पूर्वपक्ष बताइये कि ब्रह्मको प्रमाणरुप माननेपर फिर अन्य प्रमेय क्या होगा ? इसमे यह पक्ष युक्तिसगत न रहा कि श्रुतिवाक्यका अर्थ विधिरुप है, ब्रह्मस्वरूप है । पुरुषाद्वैतमात्र है और वह प्रमाणरूप है ।

प्रमेयरूप विधिको भी श्रुतिवाक्यार्थ माननेकी असगतता यदि कहो कि वह विधि प्रमेयरुप है तो प्रमेयरुप कल्पना करनेमे भी तो यह बताना चाहिए कि प्रमाण फिर क्या है ? सब कुछ एक ब्रह्म है और उसे कहते हो प्रमेयरुप तब फिर प्रमाण बताइये । प्रमाणके बिना प्रमेय क्या चीज होगी ? उस हीको प्रमाणरूप कहो, उस ही प्रमेयरूप कहो । यहा एक ब्रह्ममे ये दो स्वभाव नही हो सकते क्योकि जो सर्वथा अपरिणामी है, एक स्वभावी है उसमे दो रूप न आयेंगे । यदि कहो कि कल्पना के वशसे हम उस प्रमेयरुप विधिको, प्रमेयरुप परमब्रह्मको प्रमाणरुप मान लेंगे तो ऐसे विकल्पमें अन्यापोहवादका सम्बन्ध आ जाता है । अर्थात् जैसे एक ब्रह्मको जो कि प्रमेयरुप है उस हीको मान लिया प्रमाणरुप तो जब दो रुप आ गए तो शब्दका अर्थ भी दो रूप क्यो नही मान जायगा कि शब्द द्वारा किसी बातका अस्तित्व बताना है और अन्य बातोका परिहार करना है । अत श्रुति वाक्यका अर्थ परमब्रह्म है और वह प्रमेयरूप है यह विकल्प युक्ति सगत नही होगी ।

प्रमाण प्रमेयोभयरूप व अनुभयरूप विधिको भी श्रुतिवाक्यार्थ मानने की असगतता—श्रुतिवाक्यके परिकल्पित अर्थभूत विधिको, ब्रह्मस्वरूपको प्रमाण प्रमेयोभय मानना भी असगत है । क्योकि श्रुतिवाक्यका अर्थ प्रमाणरूप ब्रह्म माननेपर जो दोष दिया और प्रमेयरूप ब्रह्म माननेपर जो दोष दिया वे सब दोष उभयरूप मानने पर आते हैं अत श्रुतिवाक्यका अर्थ ब्रह्मरुप है और वह प्रमाण प्रमेय दोनो रुप है यह पक्ष भी सगत नही बैठता । इसी प्रकार श्रुति वाक्यके अर्थ विधिको अनुभयरूप माना जाय अर्थात् वह न प्रमाणरूप है न प्रमेयरूप है तो ऐसी कल्पनामे तो गधेके सीगकी तरह अवस्तु ही रहा वाक्यार्थ । जो बात न ज्ञानरूप है न ज्ञेयरूप है, न प्रमाणरूप है न प्रमेयरूप है, तो फिर रहा क्या ? असत् अवस्तु । क्योकि वह परम ब्रह्म प्रमाण स्वभावसे रहित हो और प्रमेय स्वभावसे रहित हो तो इसके अतिरिक्त अन्य स्वभाव की कोई व्यवस्था नही बनती । जब वह परम ब्रह्म न प्रमाणरूप रहा न प्रमेयरूप रहा तो उसमें फिर स्वभाव ही क्या रहा ? असत् हो गया । और, प्रमाण प्रमेयस्वभाव

रहित ब्रह्ममे यदि कुछ व्यवस्था ही बनाते हो तो फिर अटपट व्यवस्था बनेगी। कहो प्रमातामे प्रमेयपना सिद्ध हो जाय, प्रमेयको प्रमाणपना सिद्ध हो जाय जिस चाहेको जो चाहे कह दिया जाय। जब वह नि स्वभाव है, उसमें कोई स्वभाव ही नही है तो उसमे क्या व्यवस्था ? जब प्रमाणपना न रहा यो वह वस्तु ही कुछ न रही। अत विधिको न प्रमाणरूप सिद्ध किया जा सका न प्रमेयरूप न उभयरूप और न अनुभय रूप सो श्रुतिवाक्यका अर्थ विधिरूप, ब्रह्मस्वरूप मात्र करना अयुक्त है।

शब्दरूप, अर्थरूप, उभयरूप, अनुभयरूप भी विधिकी असिद्धि होनेसे श्रुतिवाक्यको अर्थ विधिरूप ब्रह्मस्वरूपमात्र माननेकी असगतता—अब शका कार कहता है कि श्रुतिवाक्यका अर्थ है तो विधिरूप कुछ भी कहा जाय—अमुक कर्तव्य करना चाहिए इसका अर्थ क्या हुआ ? परम ब्रह्म। भोजन करना चाहिए, इसका क्या अर्थ हुआ ? परम ब्रह्म। घूमने जाना चाहिए, इसका अर्थ क्या हुआ ? परम ब्रह्म। कुछ भी बोला गया शब्द है उसका अर्थ हुआ परमब्रह्म क्योंकि जिसने अर्थ लगाया जिसको कहा गया, जिसकी परिणतिके लिये बात कही जा रही है वह सब है चेतन, और चेतन है यह परमब्रह्मरूप। इस तरह श्रुतिवाक्यका अर्थ है ब्रह्मरूप, विधिरूप, किन्तु वह ब्रह्म शब्दव्यापाररूप है। तो उत्तरमें कहते हैं कि तब तो उसका अर्थ शब्द भावना ही हुआ उसीको ही विधि कहो, ब्रह्म कहो क्योंकि वह तो शब्द व्यापाररूप माना जा रहा है। शब्दकी ही बात रही। यदि कहो कि वह पुरुष व्यापाररूप है तो वह विधि अर्थ भावनारूप हो गई। और, जब विधि न शब्दव्यापाररूप सगत हुआ न पुरुष व्यापाररूप सगत हुआ तो उसे उभय व्यापाररूप कहना भी सगत नही हो सकता। और, इसी तरह उसे अनुभय व्यापार रूप भी नही कह सकते कि श्रुतिवाक्य का अर्थ है ब्रह्मरूप और वह शब्द व्यापार, पुरुष व्यापार दोनोसे रहित है। यदि विधि ब्रह्म अनुभय व्यापार वाला है, दोनों व्यापारोसे रहित है तो यह बताओ कि वह ब्रह्म क्या विषय स्वभावरूप है या फलस्वभावरूप है ? याने जानना है कुछ, करना है कुछ विषय है कुछ ब्रह्म या फलरूप ब्रह्म है ? यदि कहो कि शब्दका अर्थ है ब्रह्म और वह है अनुभयव्यापाररूप तथा विषयस्वभावरूप तो शब्दके बोलनेके समयमें वाक्यकालमें वह तो मौजूद है नही तो निरालम्बन शब्दवादका प्रसग हुआ। याने शब्द बोलते जावो उसका अर्थ कुछ नही। यदि कहो कि वह विधि फलस्वभावरूप है तो इसमें भी वही दोष है, क्योंकि जो शब्द बोला उसका अर्थ मानते हो फलरूप, जैसे कहा कि स्वर्गाभि-लाषी यज्ञ करें तो इसका अर्थ मानते हो स्वर्गफलरूप तो जिस समय वचन बोला उस समय स्वर्ग कहाँ ? फिर वह शब्दका अर्थ कैसे बना ? क्या कोई शब्दका अर्थ ऐसा होता कि जो न हो और उसका वाचक शब्द बन जाय ? शब्दका अर्थ तो सन्निधानमें होता है, चाहे वह किसीरूप हो। यदि कहो कि नि स्वभावी विधि है, ब्रह्ममें कोई स्वभाव नही है और वही है श्रुतिवाक्यका अर्थ तो इसका अर्थ है कि श्रुतिवाक्यका कुछ भी अर्थ नही सो पूर्वोक्त प्रतिपादनोंसे निर्णय हुआ कि श्रुतिवाक्यका अर्थ परम-

पुरुषरूप मानना अयुक्त है ।

ग्रन्थके वक्तव्यका मूल आधार—इस ग्रन्थमे समन्तभद्राचार्य आप्तकी मीमासा कर रहे हैं क्योंकि जितने भी उपदेश हैं, जिसपर हमे चलना है, जब तक हम यह न जान जायें कि उन उपदेशोका प्रयोग प्रामाणिक आत्मा है, आप्त है तब तक उस उपदेशमे न हमारी आस्था हो सकती और न हम उस उपदेशपर चल सकते हैं, इस कारण धर्मपालन चाहने वालोको यह निर्णय सबसे पहिले करना होगा कि आप्त कौन है, देव कौन है ? देव, शास्त्र, गुरु इन तीनका सम्बन्ध धर्मपालनमे अनिवार्य है । जब तक देवके देवत्वका परिचय न हो कि यह है समीचीन देव, जब तक यह बात निश्चित न हो तब तक उपदेशमे हमारी आस्था नही बन सकती । अतएव आप्तका निर्णय करना बहुत आवश्यक है और इस आप्तकी मीमासामे समन्तभद्राचार्यसे मानो (उत्थानिकाकी कल्पनामें) भगवानने कहा कि तुम कहा आप्त ढूढते हो ? यह मै हूं आप्त । देखो—मेरे पास देवता आते हैं, मैं आकाशमे चलता हूँ, छत्र चमर हमपर ढुलते हैं, मैं ही आप्त हू । तो समन्तभद्राचार्य परीक्षा प्रधान होनेसे कहते हैं कि इस कारणसे आप आप्त नही हैं, क्योकि ये बातें मायावी पुरुषोमें भी पायी जाती हैं । तब फिर मानो भगवानने टोका—फिर समन्तभद्र, हम इसलिए आप्त हैं कि हमारे शरीरमें पसीना, भूख, प्यास, मल मूत्र आदिक नही है हमारा पवित्र देह है और देवता लोग पुष्प वृष्टि करते हैं इस कारण हम आप्त हैं, तुम कहा आप्तको ढूढते फिरते हो ? तो वहा समन्तभद्रका यह उत्तर था कि इस कारण भी आप महान नही है । यद्यपि ऐसा देह जो मल, मूत्र, पसीना आदिकसे रहित है, वह मायावियोमे नही पाया जाता है, लेकिन रागादिमान देवोमे तो पाया जाता है । जिन जिनके निर्मल शरीर हैं वे वे आप्त हैं ऐसी व्याप्ति बनानेमे देवगतिके जीव भी आप्त बन बैठेंगे । तब तीसरी बारमे मानो भगवानने यह कहा कि फिर हमको इस कारण आप्त समझो कि हमने एक तीर्थ (धर्म) चलाया है । तो उसपर समन्तभद्रका यह उत्तर हुआ कि तीर्थ चलाने वाले तो अनेक महापुरुष हुए हैं, अनेक दर्शन हैं, अनेक सिद्धान्त हैं, अनेक धर्म प्रचलित हैं, उन सबके कोई न कोई प्रणेता यद्यपि आप्त तो है, किन्तु तीर्थ चलानेके कारण आपको किसीको बडा माना जाय तो यहाँ यह विसम्वाद है कि तीर्थ चलाने वाले पुरुषोके और अनेकों उनके ही सिद्धान्तमे परस्पर विरोध है याने एक दूसरेसे भी विरोध है और खुदके ही सिद्धान्तमे पूर्वापर विरोध है । इस कारण तीर्थ चलानेके कारण कोई गुरु नही बन सकता है । फिर भी हम यह मानते हैं कि कोई एक गुरु तो उनमेसे है ही मगर तीर्थ समुदाय चलाये इस कारणसे कोई आप्त नही बन सकता ।

श्रुतिवाक्यके अर्थोका विसवाद बतानेका मूल प्रसग—तीर्थंकरसमयोमें परस्पर विरोध होनेसे सबके आप्तता नही, यह बात सुनकर मीमांसक सिद्धान्तानु-

किसी काममें न लगे। जैसे नियोगवादका खण्डन करते हो अप्रवर्तक कहकर उसी प्रकार इस विधि (ब्रह्म) का भी खण्डन हो जायगा।

प्रसगकी भूमिका और विधिके विषयमे सत् असत् उभयके अनुभवके प्रष्टव्य चार विकल्प—इस प्रकरणमे यह बात कही जा रही है कि मीमासकोके आगममें भी इनमे मानने वाले परस्पर विरुद्ध अनेक अर्थ लगाते हैं। तो जब उन वेदवाक्योके अर्थ प्रवक्ता परस्पर विरुद्ध लगाते है तो परस्पर विरोध होनेसे उनमे भी प्रामाणिकता न रही। उसी सिलसिलेमे नियोगवादी प्रभाकर भावनावादी भट्टसे यह शका कर रहा कि श्रुतिवाक्यके अर्थपर मीमासा करते करते जब यह बात झलक उठी कि श्रुतिवाक्योका अर्थ ब्रह्म स्वरूप है तब फिर श्रुतिवाक्यका अर्थ ब्रह्मस्वरूप है रहा, भावना अर्थ न रहा। तो भट्ट ब्रह्मस्वरूप अर्थका निराकरण करनेके लिए कह रहा है। जैसे कि कहा कि स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे अब इसका अर्थ तीन लोग तीन तरहसे लगाते हैं। फिर इन तीनोमेसे एक एकके परस्पर अनेक विरोधी है। ब्रह्मवादी तो कहता है कि स्वर्गका भी पुरुष यज्ञ करे, इसका अर्थ केवल ब्रह्मस्वरूप है। इसमें केवल ब्रह्मस्वरूप झलका। कौन करे यज्ञ ? वह है चेतन। उसकी बात कहो। वह है ब्रह्मरूप। तो सभी वाक्योका अर्थ ब्रह्मरूप है। तो भावनावादी भट्ट कहता है कि उन सबका अर्थ भावना बनाना है भावक्रिया है। नियोगवादी यह कहता है कि नियोगार्थ है, वाक्यने किस पुरुषको प्रेरणा की कि कौन यज्ञ करे। उस यज्ञसे वह नियुक्त हुआ नियुक्त मायने कायरत। नियोग मायने कार्यका करना रूप अर्थ है। तो जब नियोगवादीने भट्टपर आक्षेप किया कि तब तो श्रुतिवाक्यका अर्थ ब्रह्मरूप ही रहा तब भट्ट कह रहा है कि यदि श्रुतिवाक्यका अर्थ विधि है तो यह बतलावो कि वह ब्रह्मस्वरूप सत् होता हुआ वाक्यार्थ है या असत् होता हुआ या उभय होता हुआ, या अनुभय होता हुआ ?

सत् असत् उभय अनुभय स्वरूप विधिकी असिद्धि—यदि विधि सत् होता हुआ ही है तो वह फिर किसीका विधेय नही हो सकता। यज्ञ करना चाहिए इसका अर्थ माना ब्रह्मस्वरूप और वह है सत्। सत् मायने स्वय सिद्ध परिपूर्ण। तो जब उस वाक्यका अर्थ सिद्ध हुआ, पूर्ण हुआ तो अब करनेको क्या रहा ? जैसे ब्रह्म स्वरूप, वह करनेकी तो चीज नही है क्योकि वह सत् है। तो जो है वह विधेय क्या ? जैसे कोई कहे कि भातका भात बनाओ एक बार भात पका या। अब उसका भात क्या बनाना ? जो चीज सिद्ध है उसकी क्या साधना ? बनी बनायी हुई रोटीका फिर दुबारा क्या बनाना ? बन चुकी सिद्ध है, इसी प्रकार श्रुतिवाक्यका अर्थ विधि यदि सिद्ध है तब फिर किसी भी पुरुषके लिए वह करनेको चीज न रही। ब्रह्मस्वरूप की तरह। यदि कहो कि उन वाक्योसे जो अर्थ निकलता है, स्वर्गका भी यज्ञ करे इस में जो अर्थ निकला वह निकला तो ब्रह्मस्वरूप मगर वह असत् है। यज्ञ करे ऐसा

कहकर जो यह अर्थ निकला वह असत् है अतएव वह कालकी चीज है। जो चीज नहीं है उस चीजको तो लिया जाता है। तो असत् होता हुआ यदि वह विधि है तो भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि असत् है। जो सर्वथा असत् है वह क्या किया जाय? जैसे गधेके सींग असत् चीज हैं। व विधेय तो नहीं हैं इसी प्रकार श्रुतिवाक्यका अर्थ असत् है विधिरूप है तो असत् विधि फिर की नहीं जा सकती। यदि कहो कि वह पुरुष स्वरूपसे तो सत् है और दर्शन आदिक रूपसे असत् है। स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे इस वाक्यमें जो एक स्वरूपार्थ निकला वह स्वरूप ब्रह्मस्वरूपसे जो सत् है परन्तु उसमें यज्ञका अनुष्ठानका स्वरूपका दर्शन नहीं हो रहा इसलिए असत् है और ऐसा सत् असत्‌रूप विधेय बन जायगा। तो उत्तरमें कहते हैं कि प्रथम तो इससे यह बात सिद्ध होती है कि ये अपेक्षासे सत् और असत् हुए। तो इसमें स्याद्वादका आश्रय लेना पड़ा। और, यदि सर्वथा उभयरूप मानते तो वह ही दोष इसमें है जो सत् माननेमें यदि कहो कि श्रुति वाक्यका अर्थ विधिरूप है और वह न सत् है न असत् है अनुभयरूप है तो समाधानमें कहते हैं कि यह बात तो अपने आप विरुद्ध होनेसे खण्डित है। किसी भी चीजको जब यह कहा कि सत् नहीं है तो अर्थ यही तो बनेगा कि वह असत् है। और जब यह कहा कि वह असत् नहीं है तो अर्थ यही तो निकलेगा कि वह सत् है। सर्वथा सत्का निषेध करनेसे सर्वथा असत्की सिद्धि होती है और सर्वथा असत्का निषेध करनेसे सर्वथा सत्की विधि बनती है। हाँ अपेक्षा दृष्टिसे उन दोनोंका निषेध करेंगे, तो इसमें स्याद्वादका आश्रय लेना पड़ा। तो फिर श्रुतिका वाक्यार्थ विधि ही कैसे बना? शब्दोंका यही विधि भी हुआ अन्यापोह भी हुआ। शब्द सब प्रकारसे अथवा अर्थ रखते हैं इस कारण श्रुत वाक्यका अर्थ विधि ही हो यह बात नहीं बनती। ऐसा भट्ट भावना अर्थका निराकरण न हो जाय इस आशंकासे श्रुतिवाक्यका अर्थ स्वरूप है। इसका निषेध कर रहे हैं।

श्रुतिवाक्यके अर्थरूप विधिके सम्बन्धमें फलरहितता व फलसहितता के विकल्पोंकी मीमांसा — और, भी बतलाओ कि वह विधि रहित है या फल सहित है? वेद वाक्योंसे जो अर्थ निकला वह माना है स्वरूपरूप ब्रह्मरूप, तो वह जो अर्थ निकला वह फलरहित अर्थ है या फलसहित? यदि कहो कि उसका अर्थ फल रहित विधि है तो फिर वह प्रवर्तक नहीं हो सकता। जैसे कि फल रहित नियोगको प्रवर्तक नहीं माना था इसी प्रकार फल रहित विधि भी प्रवर्तक नहीं हो सकती। यदि कहो कि विषय ही ऐसा है जो पुरुषाद्वैत है केवल एक स्वरूप ब्रह्म है उसमें तो कोई भी किसी भी तरहसे प्रवर्तक नहीं बन सकता है। तो उत्तरमें कहते कि तब तो भाव यही हुआ ना, कि विधि अप्रवर्तक है। तो अप्रवर्तक विधि सर्वथा वाक्यका अर्थ कैसे कहा जा सकता है। जैसे कि अप्रवर्तक नियोगको वाक्यका अर्थ नहीं कहा भट्टने उसी प्रकार अप्रवर्तक विधि भी वाक्यका अर्थ न होगा, अन्यथा अप्रवर्तक होनेसे नियोग भी वाक्यार्थ बन जायगा। फिर तो जब यह वाक्य सुना कि अरे आत्माका ही दर्शन करना चाहिए,

आत्माको ही सुनना चाहिए, आत्माको ही जानना चाहिए और आत्माकी ही उपासना करनी चाहिए। इस वाक्यसे सुनने वाला क्या करे ? आत्माके दर्शनमें लगे कि न लगे लगना चाहिये ना, लेकिन कैसे लगे, क्योंकि विधिको अप्रवर्तक मान लिया। ब्रम्ह अप्रवर्तक है अर्थात् किसीको किसी काममें लगाता नही है। श्रुतिवाक्यका अर्थ ऐसा अप्रवतक विधि हैं वह किसीको किसी काममे लगाता नही है, तो इन वाक्योका फिर अर्थ क्या रहा ? और किसलिए इस वाक्यके अर्थका अभ्यास किया जाय? जब आत्मा के देखनेकी प्रवृत्ति हो ही नही सकती, जाननेकी और उसमे मग्न होनेकी प्रवृत्ति हो ही नही सकतीं, क्योकि श्रुति वाक्यका अर्थ बता रहे हो, अप्रवतक विधि ब्रह्मस्वरूप जो कि प्रवर्तन न करे, फिर इन वाक्योका क्यो अभ्यास करना चाहिए ? यदि कहो कि फलरहित है विधितो इसका अर्थ यह हुआ कि लोककी प्रवृत्ति फल चाहनेके कारण ही होती है। फिर इस विधिकी कल्पना करना व्यर्थ है। जैसे कि बताया गया था कि यदि नियोग फल सहित है तो फलकी चाहसे ही लोगो को यज्ञ आदिकमे प्रवृत्ति हुई, नियोगका कथन करना व्यर्थ है इतनेपर भी यदि विधिको वाक्यका अर्थ मानते हो तो नियोग भी वाक्यका अर्थ क्यो न हो जायगा ?

नियोगकी असिद्धिके सम्बन्धमे विधिवादी द्वारा दिये जाने वाले आक्षेप व समाधान—अब विधिवादी कहता है कि जैसे घट पट आदिक ये अन्य पदार्थके रूपसे याने भिन्नपनेसे प्रतिभासमे नही आते, क्योकि सर्वं एव ब्रह्म, सब कुछ एक प्रतिभास स्वरूप ब्रह्म है, वहाँ घट पट क्या अलग चीज हैं । तो जैसे घट पट आदिक अन्य पदार्थ रूपसे प्रतिभासमे नही आते। तब इस ही प्रकार नियोज्य मान पुरुष व विषय यज्ञादि और नियोक्तृधर्म अग्निष्टोम इत्यादिरूपसे भिन्नता की व्यवस्था नही हो सकती इसलिए नियोग वाक्यका अर्थ नही हो सकता। नियोग वाक्यका अर्थ तब बनता जब कोई नियोज्य पुरुष हो अर्थात् जो हुक्म दिया है जो आदेश किया है उस पालनेके लायक कोई पुरुष हो उसे कहते है नियोज्य। जैसे किसीकी नियुक्ति की तो नियोज्य कौन हुआ ? जिसको नियुक्त किया गया और नियोक्ता कौन हुआ ? जिसने उसकी नियुक्तिकी और विषय क्या हुआ कि जिस कामपर नियुक्तिकी। इसी तरह स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे तो इसमे नियोज्य कौन हुआ ? स्वर्गाभिलाषी और नियोक्ता कौन हुआ ? वह वेद वाक्य, वही तो लगाये रहता है कि ऐसा करे और नियोज्यमान विषय क्या हुये ? वे अनुष्ठान यज्ञ आदिक कर्म। तो वहाँ विधिवादी यह कह रहा कि नियोज्यमान विषय कुछ नही, नियोज्य मनुष्य कुछ नही और नियोक्ता भी कुछ अलग नही। सब एक ब्रह्मस्वरूप है, पदार्थान्तरपनेसे याने भिन्नपनेसे यह कुछ भी प्रतिभासमें नही है। फिर नियोग वाक्यका अर्थ कैसे बन जायगा ? नियोगवादी उत्तर देता है कि यह बात तो विधिमे भी कही जा सकती है। जब श्रुतिवाक्यका अर्थ केवल ब्रह्मस्वरूप किया जा रहा है तो वहाँ भी पूछ सकते हैं कि घट पट आदिककी तरह विधि भी पदार्थान्तररूपसे प्रतिभासमे नही आ रहा। तब यह विधाप्यमान है मायने

हुवाये जाने योग्य है यह अवश्य करणीय है इस प्रकार अभिमन्यमान है और यह विधायक है उसका विधान करने वाला है आत्मा तथा यह विषय है यज्ञादि इत्यादिरूपसे यहाँ भी यह भेद व्यवस्थित नहीं रह सकता तब विधि वाक्यका अर्थ कैसे बनजायगा?

विधिवादी द्वारा दत्त दूषणका स्मरण—अब इस ही विषयका कि विधिवादमें भी विधाप्यमान विषय और विधायकत्व धर्मकी भेदव्यवस्था नहीं बन सकती, स्पष्टीकरण करते हुए पहिले उनके उदाहरणमें घटित करते हैं। नियोगवादी कह रहा है कि जैसे विधिवादी स्वरूपवादी नियोग वाक्यार्थके सम्बन्धमें यह दोष दे सकते हैं कि देखो, जैसे कि नियोज्य पुरुषके अर्थमें याने नियोगमें अनुष्ठेयता नहीं बन सकती, क्योंकि नियोग तो सदा सिद्ध है सो नियोगका सिद्धत्व होनेके कारण फिर उसका अनुष्ठान नहीं हो सकता। जो चीज सिद्ध है उसका बनाना क्या? यदि सिद्ध चीज भी बनाई जाय, सिद्धको भी बनानेकी आवश्यकता है, तब फिर उसके बनाये जानेका काम कभी समाप्त ही नहीं हो सकता। जैसे रोटी सिद्ध है, कोई कहे कि सिद्ध होनेपर भी उसे बनाया जा सकता तो दुबारा बनाये। अब सिद्ध हो गयी फिर भी बनाई जा सकती, सिद्ध हो गई फिर भी बनाई जा सकती यों कभी अनुष्ठानका विराम ही न हो सकेगा। याने जो चीज सिद्ध है उसका भी अनुष्ठान मान लिया जाय तो कभी भी अनुष्ठानका विराम नहीं हो सकता, क्योंकि सिद्ध कहते ही उसे हैं कि जिसके किसी भी प्रकारकी असिद्धि न हो। सब बात पूर्णतया बन चुकी हो। और, मानो कि अभी असिद्ध है तो वहाँ कभी नियोज्यत्व हो ही नहीं सकता, क्योंकि असिद्धमें नियोज्यत्वका विरोध है। जो असिद्ध है उसे कहाँ नियुक्त करेंगे? कोई कहे कि अमुक कामके लिए आदमीकी जरूरत है तो कहा जाय कि वन्ध्याके लड़केको नियुक्त कर लो। तो जो असिद्ध है वन्ध्याका दूध पीने वाला बेटा जब कुछ है ही नहीं तो नियोज्य कैसे कहा जा सकता है? यदि असिद्ध रूप भी नियोग व नियोज्य हो जाय तो वन्ध्यासुत आदिके भी नियोज्यत्व बन बैठेगा। यदि कहोगे कि सिद्धरूपसे नियोज्यत्व है और अर्थरूपसे उसकी अनियोज्यता है तब एक ही पुरुषमें सिद्ध और असिद्ध दो स्वरूप आ गए। तब उस हीमें यह विभाग नहीं कर सकते कि यह इस काममें लगाने योग्य है अथवा इस काममें लगाने योग्य नहीं है। यदि दोनों रूपोंका सांकर्य न मानेंगे तो भेद सिद्ध हो जायगा। नियोज्य और कोई है अनियोज्य और कोई है, फिर आत्मामें सिद्ध रूपपनेका और असिद्ध रूपपनेका सम्बन्ध नहीं बन सकता, क्योंकि उनका परस्पर कुछ उपकार ही नहीं है। जब सिद्धरूप व असिद्धरूपको भिन्न-भिन्न मान लिया तो उपकारका अभाव होनेसे सम्बन्ध ही नहीं रहा। और उपकारकी यदि कल्पना करते हो तो उपकारमें कोई उपकार्य होता है। जिसका उपकार किया जाय, उपकार किया जाने योग्य हो उसको उपकार्य कहते हैं। यदि आत्मा उपकार्य है तब फिर आत्मा नित्य नहीं रहा। आत्मा यदि सिद्ध रूप है तो वह उपकार्य हो नहीं सकता। यदि असिद्धरूपको उपकार्य मानते हो तो जो जो असत् है, आकाश फूल, गधेके सींग आदि ये सब भी

उपकार्य बन जायें। सिद्ध और असिद्ध रूपको भी यदि कथंचित् असिद्धरूप मानते हो तो प्रकृत प्रश्नकी निवृत्ति न हो सकनेसे कोई व्यवस्था नही बनती। सो वहाँ अनवस्था दोष आता है। यदि यह उपालम्भ भट्ट नियोगवादियोको दे रहे अथवा स्वरूपवादी ब्रह्मवादी यह दोष नियोगवादियोको दे रहे तो नियोगवादी कहता है कि ये ही सब बातें स्वरूपवादमे भी लगनेसे ब्रह्मस्वरूप भी निराकृत हो जाता है अर्थात् श्रुतिवाक्यो का अर्थ ब्रह्मस्वरूप नही, यह सिद्ध हो जाता है। अथवा भावनावादी भट्ट कर रहे हैं कि जैसे नियोग अर्थमे व्यवस्था नही बनती ऐसे ही विधि अर्थमे भी व्यवस्था नही बनती। विधिवादमे विधिनियोजनकी व्यवस्था कैसे नही बनती, इस मर्मको अब सावधान होकर सुनो।

विधिवादके आक्षेप देनेका समाधान—जैसे कि नियोगपक्षमें नियोज्यत्वादिका विरोध है ऐसे ही विधायमान पुरुषके धर्ममे याने आत्मका दर्शन श्रवणादि अवश्य करणीय है ऐसी अभिमन्यतामे भी सिद्ध पुरुषके दर्शनश्रवणमननादि नियोजन का विरोध है। जैसे पढना, तो पढना यह सिद्ध करनेमे कोई पठ्यमान होना चाहिए, कोई पाठक होना चाहिए और पाठ्य विषय होना चाहिए। तीनके बिना पढ़ना नही बनता। कुछ भी प्रवृत्ति हो, तीनके बिना नहीं बनता। नियोक्ता, नियोज्य, नियोज्यमानका विषय। व्यापारमे भी कुछ काम कराना है किसीको वहा भी ये तीन बातें आयेंगी। नियोक्ता हुआ वह कर्मक। मालिक और नियोज्य हुआ कोई सेवक और नियोज्यमान विषय हुआ वह सब काय जिसका कि सम्पन्न करना है। विधिको भी कहा है कि जो विधि है, विधान है, अस्तित्व है एकस्वरूप है उसीको तो विधि कहते हैं। तो उस विधिमे भी विधाव्यमान पुरुष और विधायक कोई वाक्य और विधि समान विषय, वहा भी तीन बातें होनी चाहिएँ। तो विधाव्यमान पुरुषके धममे विधि मे भी यह बात कही जा सकती कि वह पुरुष सिद्ध है, निष्पन्न है तब फिर उसमे क्यो कहते हो कि दर्शन करो, श्रवण करो, मनन करो ध्यान करो ? वह पुरुष तो पूरा ही है। जिस पुरुषको, श्रुति वाक्यसे समझा रहे हो कि आत्माको देखो, आत्मा को सुनो, आत्माको जानो। तो जिसको कह रहे हो वह तो सिद्ध पुरुष है। तब दर्शन श्रवण मनन, ध्यान इन सबका विरोध है। कहना ही न चाहिए और यदि उनका विधान करते हो याने सिद्ध पुरुषके भी दर्शनका श्रवणका विधान बता रहे हो तो उस श्रमका कही उपरम, विश्राम भी न हो सकेगा याने निर्विकल्प होना यह स्थिति कोई पा हो न सकेगा। जब सिद्ध हुएको भी अभी कुछ बनानेका काम बताया जा रहा तो बननेसे बाद भी याने सिद्ध होनेके बाद भी फिर बननेका काम पडा। फिर कभी भी दर्शन श्रवण आदिक विधानोका विराम हो ही न सकेगा। यदि कहो कि विधिरूपसे तो है वह ब्रह्म, पुरुषरूपसे तो है वह स्वरूप, श्रुतिवाक्यका अर्थ, लेकिन दर्शन आदिक रूपसे वह असिद्ध है। तो कहते हैं कि जब दर्शन ही नही हो रहा तो उसका विधान भी नही किया जा सकता। जो चीज दिखती नही उस निर्माण

क्या हो सकता ? जैसे कछुवाके रोम । कछुवाके रोम जो दिखते ही नहीं हैं तो उनका क्या करेंगे ? कोई कहे कि कछुवाके रोमोकी ब्रुस बना लो । तो उसमें किसीकी प्रवृत्ति है क्या ? दर्शन ही नहीं है, तो सी तरह उस विधि ब्रह्मस्वरूपको दर्शनकी दृष्टिसे असिद्ध मानते हो तो उसका विधान नहीं बन सकता । यदि कहो कि सिद्धरूपसे तो विधाय्यमान पुरुषका विधान है और असिद्धरूपसे अविधान है । तो इसके उत्तरमें सुनिये ! अब उसमें दो रूप आ गए—सिद्धरूप और असिद्धरूप सो दोनोंका सांकर्य हो गया । अब यहाँ विभाग न बन सकेगा कि यह सिद्धरूप है अथवा असिद्धरूप है ? इन दोनो रूपोंमें यदि साकर्य न मानेंगे तो भेद बन गया । फिर सिद्धरूप अलग रहा, असिद्धरूप अलग रहा । अब इसका एक पुरुषमें संबंध नहीं बन सकता ।

तीर्थंकृत्सम्प्रदायमें परस्पर विरोधकी एक प्रासंगिक दृष्टि—और भी अन्य बात देखिये, हे विधिवादी ! जैसे कि नियोग पक्षके परिचयकी अशक्यताका दूषण यों दिया गया था कि योगरूप विषयके नियोगमें निष्पन्नता नहीं है सिद्धि नहीं है तो इसका अर्थ है—स्वरूपका अभाव है । फिर वाक्यके द्वारा नियोग अर्थ कैसे जाना जा सकता है ? यह दूषण विधिमें भी समानरूपसे है । फिर श्रुति वाक्यका अर्थ विधि भी कैसे बन सकता है ? यदि श्रुति वाक्यका अर्थ नियोग नहीं बनता है तो श्रुति वाक्यका अर्थ विधि भी नहीं बनता, भावना भी नहीं बनता । तब देखो कि अपौरुषेय आगमकी दुहाई देकर जो प्रामाणिकता सिद्ध करनेपर उतरे थे उनमें भी प्रामाणिकता न रही, यों ही याने तीर्थविच्छेदक सम्प्रदायोकी तरह जितने भी तीर्थ सम्प्रदायको चलाने वाले लोग हैं, उनके वचनोंमे परस्पर विरोध है, तब कैसे कहा जाय कि यह प्रामाणिक है, यह सम्वादक है, यह आप्त है । तो प्रभुने तीर्थ (सम्प्रदाय) चलानेके कारण किसीको भगवान मान लिया जाय यह बात युक्त नहीं है । वहाँ विचारना होगा कि उन तीर्थ चलाने वालोंमें है तो कोई एक आप्त पर वह तीर्थ चलानेके कारण नहीं है, उनमे और दृष्टिसे कुछ बात सोचनी चाहिये ।

अनुष्ठेयताकी समस्या रखकर विधिवाद व नियोगवादके आक्षेप समाधान—अब विधिवादी और नियोगवादीमे या नियोगवादका आश्रय करके भावना वादीमे परस्पर वार्ता चलेगी । विधिवादी कहता है कि विषयपने रूपसे प्रतिभासमान पुरुषके हो तो विषयत्व हुआ, सो चूँकि वह पुरुष निष्पन्न है इस कारण पुरुषका धर्म जो विधि है अवश्यकरणीय दर्शनादीक है उसकी असभवता नहीं होती । तो उत्तरमे कहा जा रहा है कि फिर तो यज्ञ पूजनका आश्रयभूत द्रव्य आदिककी सिद्धि होनेसे द्रव्यादिक विषयता होनेसे यजनाश्रय द्रव्यादिका धर्म नियोग कैसे सिद्ध न होगा । क्यों कि; जिसरूपसे विषय विद्यमान है उसरूपसे उसका धर्म नियोग भी विद्यमान है । इतनपर भी नियोगको अनुष्ठानका अभाव कहोगे अर्थात् नियोग यदि नहीं मानोगे यज्ञ का अनुष्ठान नहीं मानोगे तो जिस रूपसे वह विधिका विषय है उस रूपसे पुरुषके

धर्मरूप विधिका भी अनुष्ठान कैसे हो सकता है ? अर्थात् श्रुतिवाक्यका अर्थ यदि ब्रह्मस्वरूप है तो ब्रह्मस्वरूप तो सिद्ध है, स्पष्ट है, तो निष्पन्न हुए का अनुष्ठान क्या ? स्वर्गाभिलाषीको यज्ञ करना चाहिए इस शब्दको सुनकर विधिवादी यह कहे कि इसका अर्थ तो ब्रह्मस्वरूप है । तो बतावे वह कि करना चाहिए, क्या करना चाहिए ? क्या ब्रह्मस्वरूप करना चाहिए ? जो परिपूर्ण है, निष्पन्न है उसका अनुष्ठान कैसा ? यदि विधिवादी यह कहे कि जिस अंशसे विधि नहीं है, निष्पन्नता नहीं है उस रूपसे विधि का अनुष्ठान हो जायगा याने विधिका करना, आत्म दर्शनादिकी अनुष्ठानाभि मन्तव्य बन जायगा तो सुनिये यह बात नियोगमें भी समान है । वहाँ भी यह कह सकते हैं कि जिस अंशसे निष्पन्नता नहीं है उस अंशसे नियोगमें भी अनुष्ठान हो जायगा ?

अप्रतीयमानता होनेसे नियोगार्थकी अननुष्ठेयताका आक्षेप समाधान

इस प्रसगमें विधिवादी प्रश्न करता है कि नियोग तो असत् है, है नहीं फिर उसका अनुष्ठान कैसे होगा ? क्योंकि नियोग तो अप्रतीयमान है, नियोग अर्थ निकला ही नहीं, प्रतीतिमें नहीं है । तो जैसे खर विषाण, आकाश कुसुम ये असत् हैं, तो क्या इनका कुछ अनुमान किया जा सकता है ? आकाश पुष्पोंकी फूलमाला बना ले कोई या गधेके सींगका धनुष बना ले कोई, यह बात की जा सकती है क्या ? तो उत्तरमें नियोगवादी या नियोगवादका आश्रय करके भावनावादी कहता है तब फिर इसी प्रकार विधि भी अनुष्ठेय नहीं हो सकता । अर्थात् विधिका भी अर्थ किया नहीं जा सकता, उसका कोई प्रयोग नहीं बन सकता । यदि कहो कि वह विधि, वह ब्रह्मस्वरूप प्रतीयमान तो है मगर अनुष्ठेय रूपसे अभी असिद्ध है इस कारण ब्रह्मस्वरूपका अनुष्ठान बन जायगा । याने ब्रह्मस्वरूप प्रतीयमान तो हो रहा है, किन्तु उस रूप बनना, उसमें मग्न होना उसका जो स्वरूप है उस रूप परिणति हो जाना इस रूपसे अभी सिद्ध नहीं है इस कारण ब्रह्मस्वरूपमें विधिमें अनुष्ठेयता बन जायगी तब तो फिर नियोग भी उस ही तरह अनुष्ठेय बन जाय । अर्थात् वह नियोग प्रतीयमान है । समझ रहे हैं स्वर्गके अभिलाषी हैं तो यज्ञ करना चाहिए, इसमें कार्यकी बात कहो, प्रेरणा दी गई पर अभी अनुष्ठेयरूपसे असिद्ध है । किया नहीं गया इसलिए नियोग भी अनुष्ठेय हो जायगा, उसमें भी कोई दोष नहीं है ।

अनुष्ठेयताके विकल्पोंसे विधिवाद व नियोगवादमें आक्षेप समाधान

अब विधिवादी कहता है कि नियोग तो अनुष्ठेय रूपसे ही बन सकता है याने कर्तव्यपनेसे ही यह व्यवस्था हो सकती है कि यह नियोग है अन्य नहीं, प्रतीयमानपनेके रूपसे नियोगत्वकी व्यवस्था नहीं बन सकती क्योंकि प्रतीयमानता याने लोगोंको उस सम्बन्धमें जानकारी होना, प्रतिभास होना यह तो समस्त वस्तुओंमें साधारण है, प्रत्येक प्रकृति प्रत्ययोंमें शब्दोंमें पाया जाता है सो नियोगमें तो अनुष्ठेयताकी बात प्रधान होना चाहिए । सो यह बताओ कि वह अनुष्ठेयता प्रतिभात है या अप्रतिभात

है याने प्रतिभासमें आई हीं नहीं है। यदि अनुष्ठेयताको मानते हो तो फिर नियोग अन्य क्या चीज रही जिसका कि अनुष्ठान करना चाहिए। यदि अप्रतिभात है तो उसकी अवस्थिति ही कुछ नहीं। तो नियोगवादी उत्तर देता है कि इस तरह तो विधि भी, ब्रह्मस्वरूप भी प्रतीयमान होनेके कारण प्रतिष्ठाका अनुभव नहीं कर सकता किन्तु विधीयमानता होनेसे याने आत्मा देखना या हुये सुनना चाहिए इत्यादि कर्तव्यपनेसे ब्रह्मस्वरूपकी प्रतिष्ठा हो सकती है केवल प्रतीयमान होनेसे नहीं। और, वह विधीयमानता अनुभूत है या अननुभूत? यदि विधीयमानता अनुभूत है तो फिर विधि अन्य क्या वस्तु रही जिसको कि उपनिषद्वाक्योंसे सुना जाय। यदि विधीयमानता अननुभूत है तो उसकी अवस्थिति ही कुछ नहीं। विधिवादी कहता है कि यह आत्मा देखा जाना चाहिए, सुना जाना चाहिए, इसका मनन करना चाहिए, इसकी उपासना करनी चाहिए। इस तरहके जो वेदवाक्य हैं श्रुतिवाक्य हैं उनसे यह प्रतीति होती है कि मेरे ये आत्मदर्शन आदिक कर्तव्य हैं, और इस प्रतीतिके कारण विधि बराबर सही बन गयी, उसका कैसे निराकरण किया जा सकता है? तो नियोगवादी कहता है कि तब फिर इस समय याने विधिकी प्रतीति कालमें अग्नि-होत्रादि वाक्यके द्वारा मैं अग्निके काममें नियुक्त हुआ हूँ ऐसी प्रतीति नहीं है क्या? जब श्रुतिवाक्यका उपदेश हुआ कि स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे तो सुनने वाला यह प्रतीति रखता कि करना चाहिए, करनेका यत्न करता है। तो उस समय देखो उस वाक्यके द्वारा यह पुरुष याग आदिक विषयोंमें नियुक्त हुआ है। तो इस उपदेशके विषयरूप याग आदिक विषयमें लग गया हूं ऐसी प्रतीति तो वहाँ भी है, फिर नियोग का निराकरण कैसे करते हो?

नियोग प्रतीतिके अप्रमाणत्वका आक्षेप समाधान – यदि विधिवादी कहे कि अग्नि होत्रादि वाक्यसे याग आदिकमें मैं नियुक्त हुआ हूं यह प्रतीति अप्रमाण है तो हम भी यह कह सकते हैं कि विधिकी प्रतीति भी अप्रमाण है, कदाचित् कहो कि विधिकी प्रतीति तो पुरुष दोष रहित वेदवचनसे उत्पन्न हुई है, अर्थात् अपौरुषेय आगम में जो वचन हैं उन वचनोंसे ब्रह्मस्वरूपकी प्रतीति हुई है इस कारण वह अप्रमाण नहीं हो सकता। तब फिर इस ही कारण नियोगकी प्रतीति भी अप्रमाण मत हो, क्योंकि उन्हीं वेद वाक्योंसे नियोगकी भी प्रतीति उत्पन्न हुई है। तो श्रुतिवाक्य दोनोंके लिए एक हैं फिर भी नियोगका विषयका यागादि द्रव्यका धर्म नहीं मानते हो तो विधि भी विषयका, पुरुषका धर्म नहीं होगा। इसके साथ ही यह भी तो निश्चय नहीं किया जा सकता कि विधायक विधिलक्षणार्थ प्रतिपादक शब्दका धर्म विधि है अर्थात् जो कुछ शब्द बोला वह कहलाया विधायक शब्द, और उसका धर्म विधि ही है, ब्रह्मस्वरूप ही है, सन्मात्र ही है, यह निश्चित नहीं किया जा सकता अन्यथा इस तरह तो नियोग के भी नियोक्तृ शब्दका धर्मपना आ जायगा। यदि कहो कि शब्द सिद्धरूप है अतः उसका जो धर्म है, नियोग है, वह कैसे असिद्ध होगा? जिससे कि फिर वेदवाक्यसे

यह अनुष्ठेय है, समझाया जाता तो उत्तरमे कहते हैं कि ऐसा नही मानना चाहिए, अन्यथा विधिका सम्पादन भी विरुद्ध हो जायगा, क्योंकि वहाँ भी कहा जा सकता है कि पुरुष तो सिद्ध रूप है, फिर उसका धर्म विधि कैसे असिद्ध हो सकता जिससे कि उपनिषद्वाक्यसे विधिके सम्पादनका उपदेश किया जा सके। सो इससे विधिका भी सम्पादन उपदेश नहीं कर सकते।

विधिवादमे विषयकी अपूर्वार्थता न रहनेसे प्रमाणत्वकी असिद्धिका कथन—यहा प्रकरण यह चल रहा कि मीमासकके सम्प्रदायोमे ही तीन प्रकारके अभिप्राय वाले पुरुष हैं। एकने तो उन समस्त वेदवाक्योंका अर्थ भावना रूप माना है, जैसे कि कुछ धर्मात्मा कहते हैं कि हर बातमे कि भावना ही ली गई है। करनेकी बात उपचार व्यावहार क्रियाकाण्ड है, पर वास्तविकता भावनामे है। और, एक अभिप्राय नियोगवादका है जो कहता है कि भावनासे क्या ? जो उपदेश किया गया, जिस कार्य के लिये हुक्म दिया गया उससे प्रेरणा लो, उस कार्यमें लगो उसमे लग जाओ, तो तीसरा सम्प्रदाय यह कहता कि न इसमे कुछ भावनाकी बात है, न कुछ क्रियाकाण्डकी बात है किन्तु एक ब्रह्मस्वरूपके दर्शनकी बात है। प्रत्येक वाक्यको सुनकर यही दर्शन करो, यही प्रतीतिमे लावो कि बस एक चित्स्वरूप ही कहा गया है। तो नियोगवाद और विधिवादके परस्पर आक्षेप समाधानकी चर्चामे यह कहा जा रहा कि जब ब्रह्मस्वरूप प्रसिद्ध है, प्रतीत है, मना किये जानेकी बात नही है तो इस रूपसे क्यो कहा जा रहा कि अमुक काम करो ? सीधा ही ब्रह्मस्वरूपको बताने वाला वचन हो। तो जो ब्रह्मस्वरूप प्रसिद्ध है उसका भी यदि सम्पादन किया जाय तो फिर बारबार सम्पादितका भी सम्पादन करिये। सम्पादित होनेपर फिर उसका निर्माण करिये। यो सम्पादनकी प्रवृत्ति चलते ही रहना चाहिए। कभी विराम न होना चाहिए। फिर उपनिषद वाक्यमें प्रमाणता कैसे आयगी ? क्योंकि अब उसमें अपूर्वअर्थता तो न रही। ज्ञान प्रमाण वह होता है जो स्वको और अपूर्व अर्थको जानता है। वही वही बात बारबार जानी गई तो उसमे प्रमाणता नही ठहर सकती। कोई नया अर्थ होना चाहिए। अब उस प्रसिद्ध विधिका भी सम्पादन किया, बारबार उसका सम्पादन किया तो यह वेदवाक्य क्या कह रहे, वही वही अर्थ तो उनमे प्रमाणता नहीं आ सकती। नई बात की जाय, धारावाही ज्ञान न हो तो प्रमाणता आयगी और यदि उसको प्रमाण मानते हो तो नियोग वाक्य भी प्रमाण हो जाओ, क्योंकि नियोग अर्थमें और विधि अर्थमें जो प्रक्रियायें अपनायी गयीं आक्षेप दिया जाता है, वह दोनो जगह समान है।

गौणरूपता या प्रधानरूपताके विषय करनेके विकल्पोमे विधिविषयत्व का निराकरण—अच्छा अब यह बतलाओ कि श्रुतिवाक्यका विधिवादी जो यह अर्थ करता है कि उसका तो ब्रह्मस्वरूप अर्थ है, यह वाक्य तो विधिमात्रको विषय करता

है तो यह वाक्य जो विधिको विषय करता है तो क्या गौणरूपसे विषय करता हुआ यह वाक्य उस विधिमें प्रमाण माना जायगा या प्रधानरूपसे विधिको विषय करता हुआ वाक्य विधिकी सिद्धिमें प्रमाण माना जाय ? यहां ये दो विकल्प किए गए हैं कि आप कहते हो कि कुछ भी वाक्य बोले श्रुतिवाक्य धम वाक्य, उसका अर्थ है, एक ब्रह्मस्वरूप। तो ब्रह्मस्वरूप उसका विषय है। तो जो शब्द बोला गया वह शब्द गौणरूपसे ब्रह्म स्वरूप अर्थ बताता हुआ विधिकी सिद्धिमें प्रमाणरूप है या प्रधान रूपसे शब्द अपना अर्थ ब्रह्मस्वरूपको बताता हुआ प्रमाणरूप है। यदि कहो कि गौण-भावसे बताता हुआ प्रमाणरूप है तब स्वर्गाभिलाषी-पुरुष अग्निहोत्र यज्ञ करे यह भी प्रमाणरूप हो जाय क्योंकि अब तुम मान रहे हो कि श्रुति वाक्य गौणरूपसे स्वरूपको विषय करता है और वह प्रमाण है तो श्रुति वाक्यके दो अर्थ हो गए नियोग अर्थ और स्वरूप अर्थ और, स्वरूप अर्थको गौणरूपसे मान रहे तो नियोग प्रधान बन गया और विधिका, ब्रह्मस्वरूपका विषय करना गौण बन गया। तो जब विधि गौण बन गया, श्रुति वाक्यका अर्थ ब्रह्मस्वरूप होना प्रधान न रहा तब तो या तो भावना अर्थ, प्रधान बन गया या नियोग अर्थ प्रधान बन गया। जैसे कि मीमांसा भट्ट श्रुति, वाक्यका अर्थ भावना मानता है वह प्रधान हो गया और प्रभाकर नियोग अर्थ मानते हैं तो उनका नियोग विषय प्रधान हो गया तो नियोग प्रमाण बन जाय, भावना प्रमाण बन जाय पर विधि प्रमाण न हो सका।

नियोग और भावनाके असिद्धिपयत्वके अभावका व विधिके सत्यत्व असत्यत्व विकल्पोमे अनवस्थितिका कथन - अब विधिवादी जरा विचार करे देखे कि भावना और नियोग ये दोनो असत् पदार्थोंको विषय करते हुए प्रवृत्ति नही कर रहे, क्योंकि सवथा असत् होते भावना और नियोग और उनकी फिर प्रतीति मानते तो खरगोशके सींग आदि की भी प्रतीति बन जाय। तो भावना नियोग असत् को विषय नही करता। उसमें विषय है, परिणाम बनानेकी और प्रयत्न करनेकी धुन है और सत्वरूपसे उस भावना और नियोगका विधिमे अविनाभाव सिद्ध है इसलिए वाक्यका अगर ब्रह्म स्वरुप अर्थ है वाक्य ब्रह्मस्वरुपको विषय करता है गौणरुपसे इसमें हम विवाद नही करते लेकिन कर्मकाण्डकी यज्ञकार्यकी, पूजन, ध्यान आदिक की पारमार्थिकता नही है, यह बात नही कह सकते वेद वाक्योंमें ये सब विधान बताये गए हैं कि इस प्रकार क्रियाकाण्ड करो, यज्ञ आदिक करो, यह बात अपरमार्थ हो केवल एक ब्रह्मस्वरुप पारमार्थिक हो यह बात नही बन सकती। वह पारमार्थिक है। अब विधिवादी कहता है कि ब्रह्मस्वरुप ही उस वाक्यका प्रधानरुप ही उस वाक्य का प्रधानरुपसे अर्थ है और प्रधानरुपसे हो ब्रह्मस्वरुपको विषय करने वाला वेदवाक्य प्रमाण है। तब नियोगवादी कहता है कि यह कहना यो अयुक्त है कि ऐसा कहनेमे कि देखो वेदवाक्यने ब्रह्मस्वरुपका प्रधानरुपसे विषय किया तो, इसके मायने यह है कि वेदवाक्य भी सत्य है और ब्रह्मस्वरुप भी सत्य है तो द्वैतका अवतार हो गया सो

चीज़ें तो मान ली गई वाक्य और ब्रह्मस्वरूप, विषय और विषयी । तब द्वैतपना तो आ ही गया और यदि कहो कि वह ब्रह्म सत्य नही है, विधि सत्य नही हैं तो फिर प्रधानता किसको लेना । इसका यह प्रधानरूपसे विषय है, ऐसा कहनेमे दोनों यदि सत्य हैं तभी तो प्रधानताका अनुभय नही कर सकता है उसमे प्रधानता नही समा सकती । जैसे अविद्याका विलास वह सत्य है ही नही । तो उसमे कहीं प्रधानता तो नही दी जा सकती । और उस तरह यहा मानते हो तुम विधिको असत्य तो फिर वेदवाक्यमें विधिका प्रधानरूपसे विषय नही कह सकते ।

विधिवादी द्वारा श्रुतिवाक्यके अर्थरूप विधिस्वरूपका समाधन समर्थन

अब यहाँ विधिवादी कहता है कि भाई तुमने विधिका स्वरूप भले प्रकारसे समझ नहीं पाया । देखो—तभी आप द्वैतमे पहुँच गए । प्रतिभास मात्रसे पृथक् विधि कोई कार्यरूपसे प्रतीत नही होता, जैसे कि घट कार्यपनेसे प्रतीत होता है, श्रुति वाक्योंमे किसी कर्तव्यके विधानका हुक्म दिया है अथवा सलाह दी है वह कार्यरूपसे कुछ अलग हो वह प्रतिभासमात्र ब्रह्मस्वरूपसे पृथक् हो सो बात नही है । अथवा कहिये जैसे कि घट पट आदिक ये कोई प्रतिभासमात्रसे प्रथक् चीज नही है । प्रतिभास स्वरूप हैं अब साथ ही यह भी देखिये कि वह विधि ब्रह्मस्वरूप कोई प्रेरकरूपसे निश्चित नही किया जा रहा है जैसे कि वचन प्रेरकरूपसे प्रतीत होते हैं, अथवा वचन प्रेरक नहीं होते । वचन एक परिणति है । बोल दिया ठीक है । प्रेरणा वचनोको सुनकर जो पुरुष अपने आपमे लगाता है वह उसकी करतूत है । वचन प्रेरक नही हुआ करते । कर्म साधनरूपसे विधिकी यदि प्रतीति हो तब तो यह कहा जा सकता है कि कार्यपने के रूपसे तब प्रेरकतारूपसे ज्ञान हुआ है, पर जहा कर्म साधन, कारणसाधन रूपसे प्रतीति नही हो रही वहाँ कार्यपनेकी व प्रेरकताकी बात नही आती । तो फिर क्या सो सुनो, तब श्रुतिवाक्यमें यह कहा गया कि अरे आत्मन् ! देखो यह ही आत्मा निरखना चाहिए, सुनना चाहिए, जानना चाहिए और अभेदरूपसे उपासनामे लगाना चाहिए । इन शब्दोके सुननेके बाद एक ऐसा अभिप्राय जगता है कि मैं किसी अवस्था विशेषसे प्रेरित हुआ हूँ । किसी विलक्षण अवस्थाके भावसे प्रेरित हुआ हूँ इस प्रकारका जिसको अहकार जगा, अभिप्राय बना उससे वह स्वय आत्मा ही तो प्राप्त होता है । तब कहा कि अरे आत्मन् ! अपने आत्माको जानो तो सुनने वालेने अपने आप में अपने आपकी एक विशेष अवस्थाके लिए प्रेरणा ही तो पायी । वह आत्मा ही प्रतिभासमें रहा । उस हीका नाम विधि है । और उसका जो ज्ञान है बस वही विषयरूपसे सम्बन्ध कहलाता है । अर्थात् आत्माको जाने ऐसा कहकर कोई उस आत्माका ज्ञान करता है तो उसने अपने आपको विषय रूपसे सम्बन्धित कर लिया । वहा दूसरी बात क्या आयी ? तो इस तरहसे विधिको हम प्रधानरूपसे श्रुतिवाक्यको विषय मानते हैं तो उसमे कोई दोष नहीं आता क्योंकि उस ही प्रकारके वेदवाक्यसे प्रतिभासमे क्या आया ? आत्मा ही और किस रूपसे आया ? विधायकरूपसे । आत्माको

जानना चाहिए ऐसा सुनकर जानने वाला कौन हुआ ? यही । जाननेमें क्या आया ? यही । तो यही विषय बनता है अर्थात् वही किया जाता है, वही करने वाला होता है । क्योंकि उस आत्माका दर्शन श्रवण, चिंतन, ध्यान ये सब विधीयमान रूपसे अनुभवमें आते हैं । और फिर उस प्रकार स्वयं आत्माको देखनेके लिए, सुननेके लिए, समझनेके लिए, ध्यान करनेके लिए फिर वह प्रवर्तित होता है । उस प्रकार अगर प्रवृत्ति न मानी जाय आत्माकी तो मैं इन सबसे प्रेरित हुआ हू ऐसा परिज्ञान अप्रमाणिक हो जायगा इसलिए विधि असत्य नहीं है जिससे कि विधिकी प्रधानतामें विरोध आये और विधिको सत्य माननेपर द्वैतकी सिद्धि भी नहीं होती क्योंकि वह विधि विधान कार्य आत्मा स्वरूपको छोडकर और कुछ है भी तो नहीं, वह ही एक स्वरूप उस तरहसे प्रतिभासित होता है, ऐसा विधिवादियोंने अपना मतव्य रखा ।

वाक्यमे नियोगार्थकी ध्वनि होनेसे स्वरूपमात्रके वाक्यार्थत्वका निराकरण—श्रुतिवाक्यका अर्थ विधिरूप स्वरूपमात्र मानने वाले वेदान्तियोंके द्वारा स्वरूपका ही वाक्यार्थपना सिद्ध करनेका प्रतिपादन सुनकर भट्ट मीमासक कहते हैं कि वह सब उक्त कथन असत्य है अर्थात् श्रुतिवाक्यका अर्थ स्वरूपमात्र है, परम ब्रह्म मात्र है, यह बात असगत है क्योंकि नियोग भावना आदिक भी श्रुतिवाक्यके अर्थ भी निश्चयात्मक ढङ्गसे प्रत्यय हो रहा है । देखिये जब द्रष्टव्य अय आत्मा, यह श्रुति वचन सुना, अर्थात् आत्माको देखना चाहिए । इस वचनसे भी नियोग अर्थ निकल रहा है । जैसे कि स्वर्गाभिलाषी पुरुषको अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिए इस श्रुतिवाक्यमें मैं नियोग अर्थ निकलता है । किसी पुरुषको इस वाक्यने कुछ कहा, प्रेरणाकी, कार्य लगाया, यह जैसे वाक्यका अर्थ निकलता है उस ही की तरह यह आत्मा देखना चाहिए, इन वचनोसे भी नियोग अर्थ ही निकलता है । वह कैसे ? तो नियोगका यही अर्थ है ना कि इस वाक्यमेसे नियुक्त हुआ हूँ इस प्रकारका समस्त निरवशेष योग अर्थात् किसी कार्यमें लगानेका सम्बन्ध प्रतिभास हो उसे नियोग कहते हैं । जब यह वाक्य सुना कि यह आत्मा देखा जाना चाहिए तो इस वाक्यसे दर्शनमें श्रवण आदिक में आत्माका सम्बन्ध जुटाया गया । सुनने वाला अब उस अतस्तत्त्वके प्रति झुका तो कहीं नियुक्त ही तो हुआ । इसमें रंच मात्र भी अयोगकी आशका न करना चाहिए क्योंकि इस वाक्यको सुनने वालेने अपने आत्मामे यह ज्ञान किया है, निर्णय किया है कि आत्मदर्शन, आत्मश्रवण आदिक ये अवश्य कर्तव्य हैं क्योंकि अन्यथा अर्थात् यदि सुनने वालेन अपने मनमें यह निर्णय न किया हो कि श्रुतिवाक्यने हमको इस कामके लिए नियुक्त किया कि आत्माको देखो—इस तरह यदि नियोग अर्थ नहीं निकलता तब फिर उस वाक्यके सुननेसे इस मनुष्यकी प्रवृत्ति उस आत्मदर्शनमें कैसे बन सकती है ? जो भी वाक्य बोला गया जैसे लोक व्यवहारमें यह वाक्य कहा कि जावो मदिर में प्रभुमूर्तिके दर्शन करो, तो सुनने वाला उस वाक्यसे यह भाव लाया ना कि इस उपदेशने हमको मदिरमें दर्शनके लिए लगानेकी बात कही और तभी वह मंदिर जाता

है। यदि उस वाक्यका नियोग अर्थ न निकले तो वह कभी मदिर दर्शनमे, उस वाक्य में जो कहा गया उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि नियोगकी बात चित्तमे न आये कि इस वाक्यने क्या कहा, इसने मुझे किस कामके करनेके लिए नियुक्त किया तब फिर मेघ गर्जे उससे भी इस पुरुषकी उस कार्यमें प्रवृत्ति हो बैठे। जब बिना निर्णयके प्रवृत्ति करने लगे याने इस वाक्यने मुझको यह कहा, इस कार्यमें मुझे लगनेका कर्तव्य बताया ऐसा सुबोध न जगे और कार्य करने लगे यो अब तो सुबोध हुए बिना भी कार्य करनेकी बात कह रहे ना। तो जब मेघ गरज रहे हो उससे कोई सुबोध तो होता नही, मत हो, किन्तु सुबोधके बिना भी उसकी प्रवृत्ति हो जानी पड़े ऐसा प्रसग आयगा।

शब्दका अन्यव्यवच्छेदार्थ न माननेपर अर्थप्रवृत्तिका अभाव—और, भी सुनो—यहां भट्ट वेदान्तवादियोसे कह रहा है कि शब्दका अर्थ यदि विधि विधि ही हो, अस्तित्व और करना विधि विधि ही मात्र शब्दका अर्थ हो अन्य परिहारकी बात न हो जैसे कि यह श्रुति वाक्य बोला गया कि अरे यह आत्मा देखा जाना चाहिए तो इस शब्दसे तुम केवल आत्माकी द्रष्टव्यताकी विधि कर रहे हो याने इस श्रुतिवाक्यने यह अर्थ बताया कि आत्माको देखा जाना चाहिए। इतना विधि मात्र अर्थ कर रहे हो और उसमे यह नहीं मानते कि इस शब्दने यह भी ध्वनित किया कि आत्माको छोडकर अन्य पदार्थ न देखना चाहिए। अन्य पदार्थकी अद्रष्टव्यताका व्यवच्छेद भी शब्द करते हैं, पर ऐसा तुम मानते नही, केवल शब्दका अर्थ विधि विधि ही मानते हो तो ऐसा माननेपर तो वाक्य किसी जीवकी प्रवृत्तिका कारण बन ही न सकेगा। जैसे कहा कि आत्मा देखा जाना चाहिए और इसका अर्थ यदि यह नही समझते कि आत्माको छोडकर अन्य पदार्थ नही देखना चाहिए तो वह आत्मदर्शनकी प्रवृत्ति भी न कर सकेगा क्योंकि बुद्धिमानोकी प्रवृत्ति प्रतिनियत विषयकी विधिसे बधी हुई रहती है और प्रतिनियत विषयके विधानमे प्रवृत्ति होना यह बात अन्य विषयके विधानमे प्रवृत्ति होना यह बात अन्य विषयके परिहारका अविनाभावी है। जैसे यह कहा कि चटाई बनाइये, तो उस सुनने वाले सेवकने चटाई बनानेका अर्थ समझा और साथ ही यह भाव समझा कि इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही बनाना है। तो चटाईमे कर्तव्यता की विधि पट आदिककी कर्तव्यताका परिहार किये बिना हो नही सकता। अन्यथा फिर तो आदेशका कुछ अर्थ ही न रहा। कुछ भी बात किसीको आज्ञारूप कही तो उसमे विधि अथ और प्रतिषेध अर्थ दोनो ही अन्तर्गत हैं। यह काम करो इसके मायने यह भी है कि इसके अलावा अन्य कोई काम न करो। तो चटाईमे कर्तव्यताकी विधि पट आदिककी कर्तव्यताका परिहार किये बिना नही हो सकता। और वह चटाई बना नही सकता। तो इससे यह सिद्ध हुआ ना कि शब्दका अर्थ केवल विधि विधि ही नही है, अन्य परिहार भी अर्थ है।

विधिको परपरिहार सहित माननेपर शब्दार्थके विधिप्रतिषेधात्मकत्व

की सिद्धि—यहाँ वेदान्ती कहता है कि शब्दका अर्थ तो विधि है किन्तु वह विधि परपरिहारसहित है, तो शब्द जिस कामको करनेकी विधि कहे, कर्तव्य बताये, वह समझ गया—यह काम किया जाना है, पर उसकी विधि अन्यके परिहार सहित है। अन्य न कुछ किया जाय तो उस आदेश्य कर्तव्यकी विधि बनती है। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि तब तो शब्दका अर्थ विधिप्रतिषेधात्मक हो गया अर्थात् शब्दका अर्थ यह भी हुआ कि अमुक बात कहो, अमुक कतव्य कहो और उसमें यह भी अर्थ आया कि इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही करना है। अन्यकी कर्तव्यताका परिहार अर्थ भी पड़ा हुआ है। तो जब शब्दका अर्थ विधिप्रतिषेधात्मक हुआ तो विधिकी एकान्तवादमें प्रतिष्ठा कहाँ रही अर्थात् जो तुम यह एकान्त कर रहे हो कि शब्दका अर्थ केवल विधि है, सद्भाव है, उसकी अब प्रतिष्ठा कैसे रही ? शब्दका अर्थ विधि है और अन्यापोह है। जैसे कि प्रतिषेधके एकान्तकी प्रतिष्ठा नहीं है। क्षणिकवादी जैसे मानते हैं कि शब्द का अर्थ विधि नही, किन्तु अन्यापोह है, दूसरी बातका, अवाच्यका परिहार करना यह शब्दका अर्थ है तो जैसे उनके प्रतिषेधके एकान्तवादकी सिद्धि नही है इसी तरह विधि के एकान्तवादकी भी सिद्धि नही है।

विधिप्रतिषेध दोनोंमे विधि अर्थकी प्रधानता होनेसे विधिको शब्दार्थ माननेपर नियोग भावनामे दोनोमे नियोग अर्थकी प्रधानता होनेसे नियोगके वाच्यार्थत्वकी सिद्धि—यहाँ विधिवादी कहता है कि शब्दमें भले ही दो अर्थ भरे पड़े हो विधिरूप और अन्य परिहाररूप, लेकिन अन्य परिहार तो गौणरूप है। जैसे कहा—चटाई बनाओ ! तो उसमें लगा हुआ अर्थ है, तात्पर्य है यह कि चटाईको छोड़कर अन्य कुछ मत बनाओ, किंतु चटाई बनाओ ! ऐसी उस विधिकी कर्तव्यकी बात प्रधान है और अन्य दूसरेकी बात गौण है सो अन्य परिहारके गौण होनेके कारण प्रवृत्तिका कारण तो विधि ही बनेगा। शब्दमें विधि अर्थ है और तात्पर्यरूपसे अन्य परिहार भी अर्थ है, किन्तु पुरुष जब कभी शब्द सुनकर उस वाक्य अर्थमें प्रवृत्ति करते हैं तो विधिकी प्रधानतासे ही करते हैं, इस कारण शब्दका अर्थ विधि ही है, अन्य परिहार तो आनुषंगिक अर्थ है। इसपर भट्ट कहते हैं कि इस प्रकार प्रधान और गौणकी व्यवस्था बनाकर गौणको अर्थ न मानकर प्रधानको अर्थ माना जा रहा है तो इस तरह अर्थात् प्रधानताका आश्रय करके विधिको शब्दार्थ माना जा रहा है तो उस प्रधानताके आश्रयकी पद्धतिसे यहाँ भी शुद्धकार्य आदिकरूप जो ११ प्रकारके नियोग अर्थ बताये गये हैं उनकी व्यवस्था कैसे न हो जायगी ? जब गौण अर्थकी अपेक्षा करके प्रधानको उसका अर्थ माना जानेकी विधि पद्धति बना दी गई तो उस श्रुतिवाक्यमें सम्बन्ध तो अनेक बातोंका है। जैसे कहा कि स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे तो इसमें नियोज्यकी भी बात बताई गई। जिसको कार्यमें लगाया जाता है उसे नियोज्य कहते हैं। और, इस कार्यमें लगे यो मुख्यतया बताया गया है शुद्ध कार्यरूप नियोग किसीने अर्थ लगाया शुद्ध प्रेरणा आदिक किसीने अर्थ लगाया नियोगके लिए यहाँ प्रधान गौण

को व्यवस्था बराबर है। देखो शुद्ध कार्यकी ही प्रवृत्तिका कारण होनेसे प्रधानता बनी और नियोज्य पुरुष है, नियोक्ता है आदिक अन्य बातोका शुद्ध कार्यरूप नियोगमे गौणपना रहा। तो गौणको छोडना प्रधानका आश्रय करना इस पद्धतिसे जो प्रधान बना है वह शब्दका अर्थ है तब नियोग भी श्रुतिवाक्यका अर्थ बनता है, इस ही तरह प्रेरणा आदिक स्वभाव वाला नियोग है यह भी अर्थ किया गया है। श्रुति वाक्यके ११ प्रकारके नियोगरूप अर्थ हैं। तो जब यह अर्थ लिया जाय कि शुद्ध प्रेरणाका नाम नियोग है तो उस समय उस प्रेरणामे प्रधानताका अभिप्राय आया और फिर उस प्रेरणाके अलावा अन्य जो अर्थ हैं उनमे गौणपनेका निश्चय हो तो जहा गौण और प्रधान ये दो बाते आयीं वहा गौणको शब्दका अर्थ न मानना और प्रधान मानना इस पद्धतिमे शुद्ध प्रेरणा आदिक नियोग बन जाता है। तो इस तरह शब्दका अर्थ नियोग सिद्ध हुआ है।

नियोगमे स्वपराभिप्रायवश प्रधानत्व, अप्रधानत्व होनेसे असिद्धता माननेपर विधिमे भी स्वपराभिप्रायवश प्रधानत्व अप्रधानत्व होनेसे विधि की भी असिद्धता—अब इस प्रसगमे विधिवादी शका करता है कि श्रुति वाक्यका अर्थ नियोग तो किया ही नही जा सकता। कारण यह है कि नियोगके जो अर्थ बताये गए हैं अनेक शुद्ध काय, शुद्ध प्रेरणा आदिक, इन अर्थोंमे अपने अपने अभिप्राय मे किसीको प्रधानता दी है तो दूसरेके अभिप्रायसे वही अर्थ अप्रधान बन जाता है। जैसे नियोगका ११ अर्थ मानने वाला प्रत्येक अपने माने गए अर्थको प्रधान बतावेगा। तो अन्यके अभिप्रायसे वह गौण भी है। अथवा भट्ट तो श्रुति वाक्यका अर्थ भावना रूप करता है और प्रभाकर श्रुति वाक्यका अर्थ नियोगरूप करता है तो भट्टकी दृष्टिमे भावना प्रधान है तो प्रभाकरकी दृष्टिमे भावना गौण है तो अब उन दोन मेंसे किसी एकके भी स्वभानकी व्यवस्था न बनेगी, क्योकि उनमें परस्पर विरोध है। तब उन दोनो अर्थोंमेंसे किसी भी एक अर्थको स्वभावार्थ न कहा जा सकेगा। इस आशकापर भावनावादी भट्ट बुद्धमतका माध्यम लेकर उत्तर दे रहा है कि फिर तो यदि आप लोगोका माना गया पुरुषाद्वैत ब्रह्मस्वरूप विधिरूप अर्थ प्रधान है तो सौगतोकी दृष्टिमें आये हुए क्षणिकवादमतका आश्रय करनेसे आपका विधि अर्थ अप्रधान बन जायगा तो आपके स्वभावकी भी तो व्यवस्था न रही कि विधि अर्थ ही प्रधान है। आप कहते हैं कि शब्दका अर्थ विधि है और वह प्रधान है लेकिन सौगत कहता है कि शब्दका अर्थ विधि नहीं है, किन्तु अन्यापोह है। तो वही बात अपने अभिप्रायसे प्रधानरूप है किन्तु परके अभिप्रायसे तो गौण रूप हुई। वहा भी कोई व्यवस्था न बन सकी तो विधिकी प्रधानता भी प्रतिष्ठा नही पा सकती। कहाँ रहा विधिप्रधान? आप मानते रहो अपने घरमें कि शब्दका अर्थ विधि है और वह प्रधान है, पर जब जन समुदायके, दार्शनिक समूहके बीच अपना मतव्य रखो तब पता पडेगा, कि इसमे तो विवाद है। तो जैसे नियोग और भावनाके विवादकी बात कहकर एक भी अर्थको व्यवस्थित न

बताया तो यहाँ विधिवाद और अन्यापोहवाद इनका भी विवाद पड़ा हुआ है। तो यहाँ भी कोई प्रधान नहीं रह सकता है।

विधिके प्रधान अर्थ मानकर विधिको शब्दार्थ सिद्ध करनेके प्रयासमें भावना नियोग व अन्यापोहमें भी प्रधानत्व होनेसे वाक्यार्थकी सिद्धिका प्रसग—अब विधिवादी जो कि स्वभावका अर्थ केवल सद्भावात्मक ही मानते हैं, अन्य परिहार नहीं मानते, वे कहते हैं कि बात असलमें यह है कि समस्त वाक्योंमें प्रधानता तो विधिकी ही है। जैसे कहा कि पुस्तक लावो तो सुनने वालेने तो साक्षात् प्रधानरूपसे इस पुस्तक अर्थको समझा। अब उसमें यह भी भाव पड़ा है कि पुस्तकके अलावा अन्य कुछ नहीं लाना है। तो पड़ा रहो अर्थ, लेकिन प्रवृत्तिका जो कारणभूत बने ऐसा अर्थ तो विधि ही है इसी कारण समस्त वाक्योंमें विधिकी ही प्रधानता है। प्रतिषेधकी प्रधानता नहीं है। क्योंकि प्रतिषेध अर्थ प्रवृत्ति करानेका कारण नहीं हो सकता। जैसे किसीसे कहा कि जल लावो तो वह जलमें प्रवृत्ति करनेकी इच्छा रखता हुआ कोई पुरुष विधिको ही तो खोजेगा जलके अस्तित्वको ही तो खोजता है। जलमें अन्य चीजके प्रतिषेधकी खोजमें तो कोई नहीं लगता। जैसे कहा कि जल लावो तो सुनने वाला जलको निरखता है। जलका निश्चय रखता है। जल लाता है। कहीं सुनने वाला उस जलमें यह भी तकता है क्या कि इसमें कोई अन्य चीज तो नहीं मिली है? अन्य परिहारकी तो वह खोज करता नहीं। यदि किसी कर्तव्यमें किसीके अस्तित्वके परिचयमें परके प्रतिषेधके खोजकी समाप्ति ही नहीं हो सकती, क्योंकि पर-रूप तो अनन्त हैं। जल लावो इसके अर्थ अन्यापोह रूपमें कितने हुए? जल याने कपड़ा, अग्नि चौकी, बैंच आदिक नहीं। कितने नहीं। उनकी कोई गिनती थोड़े ही हो सकती है, क्योंकि पदार्थ समस्त अनन्त हैं। उनमेंसे एककी विधि की तो परिहारके विषयभूत अनन्त हो गए। कोई सी भी वस्तुका हुक्म दिया तो उस विवक्षित वस्तुमें यदि पररूपके अभावका विचार करने लगे तो तो उस विचारकी समाप्ति ही नहीं हो सकती और फिर दूसरा दोष यह है कि परका परिहार करके वस्तुको जाननेकी विधि मेंतो अनवस्था दोष आयगा। कहीं टिकाव हो नहीं हो सकता कैसे अनवस्था बनेगी? व्यवस्था क्यों न बन सकेगी सो सुनो—एक पदार्थकी बात कही गई। जैसे जल लाओ अब उसमें अन्य पदार्थके परिहारकी बात आयी, किसका हारकी बात आयी, कि किसका परिहार करना? अग्निका ही सोपरिहार करना। अग्नि मतलाओ यह अग्नि नहीं है यों जब अग्निका परिहार करेंगे तो अब अग्निका जानना भी परिहारसे होगा इस जलमें अग्निका परिहार करना है तो जब अग्निको जानेंगे तभी तो अग्निका परिहार करेंगे और, अग्नि कब जानेंगे जब अग्निके सिवाय अन्यका परिहार करेंगे तो अग्निके सिवाय अन्य क्या हुआ? जल आदि अब जल जाननेमें अग्निका परिहार करते हो तो अग्निके जाननेमें जलका परिहार करना पड़ेगा। तो इस तरह पर परिहारका ही प्रतिषेध न किया जा सका।

परिहार्यको न जानकर क्रमसे परपरिहारकी अशक्यता बताकर विधिवादी द्वारा अन्यापोहके शब्दार्थत्वके निराकरणका प्रयास—यहाँ विधिवादी अन्यापोहके निराकरणमे अपना मतव्य रख रहा है। देखो—हे अन्यापोह वादियो ! तुम जो पररूपका निषेध करते हो, किसी विवक्षित वस्तुके ज्ञानके अवसरमे जो अन्य का प्रतिषेध करते हो तो यह बतलावो कि वह अन्यका प्रतिषेध क्रमसे किया जा रहा है या एक साथ किया जा रहा है ? जैसे जल कहा तो जल अर्थमे जलस अतिरिक्त अन्य सबका परिहार कर रहे हो तो उन सबका परिहार यदि क्रमसे करते हो ता यह बतलावो कि जिस पररूपका परिहार क्रमसे कर रहे हो उस पररूपका निर्णय न करके परिहार करते हो या जाने गए उस पररूपका प्रतिषेध करते हो ? पररूपका जाने बिना तो पररूपका क्रमसे प्रतिषेध किया जाना शक्य नही है, क्योकि जाने बिना निषेध करनेकी पद्धति कही सुनी भी गई है क्या ? ऐसा प्रतिषेध तो निर्विषय हुआ। जो बात ज्ञानमे नही आ रही उसका निषेध करना इसका क्या अर्थ है ? कोई विषय ही नही। तो क्रमसे परपरिहारके विकल्पमे परको न जानकर पर पदार्थोंका प्रतिषेध किया जाना शक्य नही है। और न पर पदार्थको जानकर क्रमसे परपदार्थका प्रतिषेध किया जाना शक्य है, क्योकि परकी प्रतिपत्ति कब होगी, जब उसके अतिरिक्त अन्यरूप का प्रतिषेध होगा। अन्यरूपको भी जानें तभी प्रतिषेध बनेगा तो उसका जानना कब होगा जब अन्य पररूपका प्रतिषेध होगा। तो यो प्रतिषेधमे ही अनवस्था आती है, सो परिहार्यको बिना जाने क्रमसे परपरिहार करनेकी बात नही बन सकती।

युगपत् परपरिहारकी मान्यतामे दोष बताते हुए विधिवादी द्वारा अन्यापोहके शब्दार्थत्वका निराकरण—यहाँ अन्यापोहके विरुद्ध विधिवादी यह पूछ रहे कि शब्दका अर्थ जो अन्यका निषेध करना मानते हो—किसी शब्दके बोलनेपर, जैसे कि जल कहा तो जलके कहनेपर जलका प्रतिभास तुम जलके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंका निषेध करके मानते हो तो उन पररूपोका प्रतिषेध क्रमसे किया जायगा, यह पक्ष तो अयुक्त रहा। अब यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करते हो कि उसमें समस्त पररूपका प्रतिषेध एक साथ किया जाता है, जैसे जल कहा तो जलके अतिरिक्त जितने भी परपदार्थ हैं—अग्नि, धुवाँ, धूल आदिक उन समस्त पररूपोका प्रतिषेध है तो समस्त पररूपका प्रतिषेध एक साथ किया जाता है ऐसा माननेमे तो इतरेतरा दोष आता है। जब समस्त पररूपका प्रतिषेध सिद्ध हो ले तब जिज्ञासित पदार्थोंकी विधि सिद्ध होगी। जिसको हम जानना चाहते हैं उस पदार्थका सद्भाव कब सिद्ध होगा ? जल कहा तो जलका सद्भाव कब सिद्ध होगा ? जब समस्त जल भिन्न पररूपोका प्रतिषेध हो ले और जब जलकी सिद्धि हो ले तब हम जान जायेंगे कि वे सब जल नही है और उनका हमें निषेध करना है। सो जिज्ञासित पदार्थको विधि सिद्ध होनेपर उसके परिहारमे अन्य पदार्थके परिहारसे उस पदार्थकी प्रतिपत्तिपूर्वक समस्त पररूप का प्रतिषेध सिद्ध होगा। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे कहा—जल तब इसका अर्थ

मानना कि अजलका निषेध, तो जब अजलका निषेध कर पावेंगे, जलसे भिन्न समस्त पदार्थोंका निषेध कर चुकेंगे तब तो जल जान पावेंगे और समस्त पर पदार्थोंका निषेध कब कर पायेंगे जब कि यह जानेंगे कि यह जल नहीं है। इसका निषेध करते हैं तो इसमें जल, यह तो सबसे पहिले जानना ही पड़ेगा। तो यों इसमें इतरेतराश्रय दोष आता है। इस कारण यह सिद्ध होता है कि शब्दका अर्थ अन्यापोह नहीं है, किंतु विधि ही है। इसी प्रकार विधिवादी मण्डन मिश्र अपना पक्ष रख रहे हैं।

विधिवादीके परपरिहारार्थ निराकरणका निराकरण—विधिवाद मडनमिश्रके उक्त कथनके उत्तरमे भावनावादी भट्ट कहते हैं कि यह सब कथन बिना विचारे कहा हुआ है, युक्तिसगत नहीं है, क्योंकि सर्वथा विधि भी प्रवृत्तिका कारण नहीं बन सकती। शब्दका अर्थ केवल विधि विधि ही हो, हाँ हाँ ही हो, अन्यका परिहार न हो तो केवल विधि अर्थमे भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। देखो सभी मनुष्य जब इष्ट वस्तुमें प्रवृत्ति करनेका मन करते हैं, किसी इष्ट विषयमें प्रवृत्ति करना चाहते हैं तो वे वहाँ अनिष्ट परिहारको जरूर देखते हैं। अर्थात् किसी शब्द द्वारा जो इष्ट अर्थ वाच्य हुआ उसमे साथ ही साथ यह भाव है कि अनिष्टमें हमें प्रवृत्ति नहीं करना। यदि अनिष्ट परिहार उसके साथ न लगा हो तब फिर अनिष्टमें भी प्रवृत्ति हो जायगी। तब इष्ट पदार्थका व्याघात हो जायगा जैसे कहा कि घड़ी उठा लावो और वहाँ आगे अगलबगल निकट पुस्तक चौकी आदिक अनेक चीजें रखी थीं तो घड़ी उठाने वालेके चित्तमे यह भी है कि घड़ीके अतिरिक्त अन्य चीजोंका न उठाना उनका परिहार करना यह अर्थ उसके मनमे समाया हुआ है यदि नहीं समाया हुआ है तो इसका अर्थ यह है कि वह अनिष्ट परिहार भी न कर पायगा तो अनिष्टमें भी प्रवृत्ति हो जायगी। घड़ी उठानेका आदेश करनेपर आग क्यों नहीं उठा लेता? तो उसके भावमें दोनो अर्थ समाये हैं इष्ट प्रवृत्ति और अनिष्ट परिहार।

अनिष्टप्रतिषेधकी, अन्यापोहकी प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सिद्धि हो जानेका कथन—अब अन्य बात भी सुनिये अनिष्ट प्रतिषेधके बारेमें जो बहुतसे विकल्प किए प्रतिवादीने कि अनिष्ट प्रतिषेध किस प्रमाणसे जाना जा सकता है? सो भाई अनिष्ट प्रतिषेध प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणकी तरह किसी भी वाक्यसे जान लिया जा सकता है। जैसे कि प्रत्यक्षसे अनिष्ट प्रतिषेध भी हो गया ऐसे ही शब्दसे भी वाक्यसे भी इष्टविधान और अनिष्ट प्रतिषेध हो ही जाता है, जान ही लिया जाता है क्योंकि केवल विधिके ज्ञानसे ही अन्यके प्रतिषेधका ज्ञान हो जाता है। जैसे कहा गया कि उस कमरेसे घड़ा उठा लावो कमरेमें देखकर कहता है कि वहाँ घड़ा नहीं है। तो देखा क्या उसने घड़ा नहीं यह देखा कि कमरा देखा? कमरा देखा तो जैसे प्रत्यक्षसे कमरेका ज्ञान हुआ तो केवल कमरेका ज्ञान होनेका ही अर्थ है कि घड़ा नहीं, इसका भी ज्ञान हुआ सो घड़ा नहीं, यह भी देखा। यह व्यवहार लोग निशंक होकर किया ही करते हैं।

केवल भूतलके ज्ञान होनेसे ही घटके अभावका ज्ञान होना सिद्ध हो जाता है। तो देखिये प्रत्यक्षसे विधि भी सिद्ध है और प्रतिषेध भी सिद्ध है। घडेका अभाव प्रत्यक्षसे जान लिया गया कि नही ? प्रत्यक्षसे केवल कमरेको जान लेनेका ही अर्थ है घडेके अभावका जान लेना। देखो यह जानने वाला पुरुष किसी भी पदार्थको जानता हुआ, पाता हुआ पररूपोसे सकीर्ण नही पाता है। अर्थात् जैसे जलको जाना तो वह जल अग्नि आदिकसे मिला हुआ है ऐसा तो नही जानता। केवल जानता है, उठा लाने की भी बात नही कह रहे और अन्य नहीं है इसकी भी बात नहीं कह रहे हैं। जल रक्खा है और केवल जलको जान रहा है तो जलको किस ढगसे जान रहा है ? जलमे और कोई चीज नही पडी हैं। आग, धूल लोहा पत्थर आदिक अन्य चीजें नही मिली भई हैं। इस ही ढगसे तो जलको जान रहा। तो, लो, देख लो, यदि प्रत्यक्षसे जलको जाननेमे जलातिरिक्त अन्य पदार्थोंकी असकीर्णता भी जान ली गई, अर्थात् यह जल समस्त पररूपोसे विभक्त है। पदार्थ एकत्व विभक्तरूप होता है। कुछ भी पदार्थ जाना, वह अपने रूपसे है और परस्वरूपसे विभक्त है, असकीर्ण है। जब वस्तुस्वरूप यो है तो किसी भी वस्तुको जाननेके साथ ही यह जान ही लिया गया कि विधि भी जानी और निषेध भी जाना। तो जब प्रत्यक्षसे ही परका परिहार जान लिया जाता है तो उसमें यह पूछना कि किस प्रमाणान्तरसे जाना, अन्य प्रमाणान्तरसे प्रतिषेध सिद्ध करनेकी जरूरत क्या ? और, जरूरत हो तो कर लीजिए। प्रत्यक्षसे भी पर-परिहार सिद्ध होता है सुननेसे भी, युक्तियोसे भी, आगमसे भी, जो अर्थ निकलता है है वह परपरिहार सहित ही अर्थ है।

वस्तुकी परसे सर्वथा असकीर्णताकी मीमासा—अब यहा शकाकार पूछता है कि तो क्या कोई भी पदार्थ समस्त पररूपसे असकीर्ण ही है, पूर्णतया विलक्षण ही है ? इसपर स्याद्वादका आश्रय लेकर समाधान किया जा रहा है कि पदार्थ सर्वथा परसे असकीर्ण भी नही है। कोई वस्तु पररूपसे बिल्कुल असकीर्ण हो, बिल्कुल भिन्न हो तो इसका भाव यह हुआ कि जैसे जल कहा और जलके पररूप क्या हुए ? अग्नि आदिक। तो अग्नि आदिक पररूपसे जल क्या सर्वथा विलक्षण है ? अगर सर्वथा विलक्षण मान लिया जाता तो अग्निमे सत्त्व धर्म है और अग्नि आदिक पररूप से भिन्न मानते हो सर्वथा जलको तो इसके मायने है कि जलमें सत्त्व न रहा। तो पररूपसे यदि विवक्षित वस्तु सत्त्व प्रमेयत्व आदिक रूपसे भी असकीर्ण हो जाय विलक्षण हो जाय भिन्न हो जाय, तो फिर विवक्षित वस्तुका असत्त्व हो जाता है। जल अग्निसे भिन्न है या नही ? भिन्न है। क्या बिल्कुल भिन्न है ? तो जब यदि अग्निसे बिल्कुल भिन्न है तो अग्निमे सत्त्व धर्म है और उससे भिन्न मान लिया जलको तो क्या अर्थ हुआ कि जलमे सत्त्व नही है। तो सत्त्व प्रमेयत्व आदि साधारण गुणोंकी अपेक्षासे विवक्षित वस्तु पररूपोंसे सदृश भी है।

अन्यपरिहाररूप अर्थके निर्णयमे इष्टप्रवृत्तिके अभावका कारण—

अब देखिये ! उक्त प्रकारसे वस्तु जब विधिप्रतिषेधात्मक सिद्ध हुई है तब अनिष्ट पर-पदार्थोंसे कथंचित् व्यावृत्ति और कथंचित् अव्यावृत्ति स्वरूप, किसी पदार्थको किसी प्रमाणसे जानने वाला, पाने वाला अभिलाषी पुरुष परपरिहारकी पद्धतिसे भी प्रवृत्त होता है अर्थात् वह समझ रहा है कि सत्त्व प्रमेयत्व आदिक धर्मोंमें तो सदृश है इष्ट पदार्थ और असाधारण धर्मकी दृष्टिसे विसदृश है यह इष्ट पदार्थ । यह तो वस्तुस्वरूप की बात कही है । अब प्रवृत्तिकी बात देखिये ! जो पुरुष भी किसी शब्दको सुनकर उस शब्दके वाच्यभूत अर्थमें प्रवृत्ति करता है तो उसके अभिप्रायमें यदि अन्य परिहारका निर्णय न हो तो किसी भी वस्तुमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता । और, प्रवृत्ति करनेकी बात तो जाने दो, ज्ञान भी किसी वस्तुका होता है तो विधि और अन्य परि-हार दोनों सहित होता है । जिसने जाना कि यह घड़ी है वह चाहे मुखसे न बोले अन्य कुछ न विवरण करे, पर उसके ज्ञानमें यह समा चुका है कि यह अन्य कुछ नहीं है, ऐसा परपरिहारका निर्णय है डटकर तब वह घड़ीको घड़ीरूपसे जान पा रहा है । तो विधिकी तरह अन्यापोह भी प्रवृत्तिका कारण है । इस कारण विधि ही प्रधान है, श्रुतिवाक्यका अर्थ विधिरूप ही है क्योंकि वह प्रधान अर्थ है यह युक्तिसंगत बात नहीं।

वाक्यसे व प्रत्यक्षसे वस्तुके विधिप्रतिषेधात्मकताकी सिद्धि—और भी इस प्रसंगमें विचारिये—जो विधिवादियोंने अपने आगमकी यह साक्षी दी है कि देखो आगममें भी लिखा है कि प्रत्यक्ष विधातृ होता है अर्थात् वस्तुकी सत्ता मात्रका जताने वाला होता है, परके निषेध करनेरूप नहीं होता, और, इसी प्रकार उपनिषद्वाक्य भी केवल विधिको बताने वाला होता है, सन्मात्र द्योतक होता है, परका निषेध करने वाला नहीं होता, यह कहना ठीक नहीं बनता, क्योंकि यह नियम सम्भव नहीं है । यदि यह नियम मान लिया जाय कि प्रत्यक्ष और उपदिष्टवाक्य ये पदार्थके सन्मात्र स्वरूपको ही बताते हैं, निषेध करने वाले नहीं हैं, तो यह बतलाओ कि विद्या अविद्या से भिन्न है या एकरूप है ? एकरूप कहना तो बनेगा नहीं, ऐसा मानते ही नहीं । और, यदि कहेंगे कि विद्या अविद्यासे भिन्न है तो विद्या अब दोनों स्वरूप हो गयी ना ? विद्यास्वरूप भी है और अविद्या परिहार स्वभावी भी है । तो विद्याके कहते ही अविद्या का परिहार हुआ तब यह नियम तो न बना कि प्रत्यक्ष और उपनिषद्वाक्य केवल विधि विधिको ही सिद्ध कराते हैं । जब यह नियम न बना, तो कोई पूछे यह विद्या है ? हाँ विद्या है । यह अविद्या है ? हाँ अविद्या है । यों कुछ निर्णय ही न हो सकेगा विद्याका स्वरूप ही न बनेगा । और इससे सिद्ध है कि प्रत्यक्ष विधिको भी जानता है और निषेधको भी जानता है, अन्यथा वह दार्शनिक एक भोली भाली बच्चीकी तरह अज्ञानी ही रहेगा । जैसे एक कहावत है—किसी मूर्ख छोटी बच्चीसे पूछा, जिसका नाम दूमावाई है, क्या दूमावाई तू स्वसुराल जायगी ? हाँ जाऊँगी । क्या माइके जायगी ? हाँ जाऊँगी । उसे कुछ बोध ही नहीं है, जिस चाहेको हाँ कहलवा दिया । इसी तरह प्रत्यक्ष यदि विवेक वाला नहीं है अर्थात् परका निषेध और विवक्षितकी विधि दोनोंके

ज्ञानकी कला नहीं है, तो उस प्रत्यक्षसे भी सही ज्ञान नहीं बन सकता। अन्यथा यही दोष आयगा। विद्याका क्या विद्या स्वरूप है ? हाँ, क्या अविद्या स्वरूप है ? हा। क्या निर्णय आयगा ? इससे सिद्ध है कि प्रत्यक्ष केवल विधिको नही कहता, विधि और परप्रतिषेध दोनोको जताने वाला है। और तभीं इष्ट वस्तुमे प्रवृत्ति होती है इष्ट पदार्थ अनिष्ट परिहारको लिए हुए है। इससे सिद्ध है कि शब्दका अर्थ केवल विधि ही नही है।

परपरिहाररूप अर्थका उपयोग करके परपरिहाररूप अर्थका निषेध करनेमें स्वस्थताका अभाव—आश्चर्यकी बात तो देखिये कि यह विधिवादी जो कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे अथवा उपनिषद्वाक्यसे केवल विधि ही अर्थ निकालता है तो वह अविद्यासे पृथग्भूत सन्मात्रको किसी प्रमाणसे जानता हुआ ही यही तो सिद्ध कर रहा है, दुनियाको कि प्रत्यक्ष केवल सन्मात्रको नही जताता, किन्तु परपरिहारको भी जताता है। विधिवादियोका इष्ट ब्रह्मस्वरूप सन्मात्र तत्त्व अविद्यासे निराला है कि नही ? निराला है। तो जब सन्मात्रको जाना तो उसके साथ-साथ यह ज्ञान बना हुआ है कि ज्ञान तो यह है और यह अविद्यासे परे है। तो उसने प्रत्यक्षको विधिनिषेधात्मक रूपसे उपयोगमे लिया किन्तु बोलते हैं यो कि प्रत्यक्ष केवल विधिको सिद्ध करता, निषेध करने वाला नही है, तो बताओ कि वह स्वस्थ कैसे कहा जाय ? तन्दुरुस्त तो नही है, अज्ञानी है, अज्ञानरोगसे पीडित है। देखो अविद्याका विवेक जिसमे है अर्थात् अविद्यासे प्रथकपना जिसमे है ऐसा है वह सन्मात्र ब्रह्म। तो सन्मात्र ऐसा शब्द बोलते ही यह ध्वनित कर दिया कि अन्य कुछ नही। मात्र प्रत्यय कहाँ लगता है ? जहाँ केवल वही है, अर्थात् उसके सिवाय अन्य कुछ नही है। तो सन्मात्रमे परम शून्यपना सिद्ध है। तो सन्मात्र है विद्यारूप और उसका पररूप हुआ अविद्या तो सन्मात्र कहते ही इस ज्ञाताने अविद्याका प्रतिषेध भी साथ-साथ जाना। तो बोलचालमे उपयोग कर रहे हैं विधि प्रतिषेधात्मक अर्थका, किन्तु मुखसे नही कहा जाता। यह कैसा विवेक है ? जैसे कि स्याद्वादका निषेध करने वाले पुरुष बोल चालमे व्यवहारमे, लेनदेनमे उपयोग तो कर रहे स्याद्वादका पर मुखसे स्याद्वादके समर्थन न करनेकी हठपर तुले हुये हैं। कथञ्चित् नित्य और कथंचित् अनित्यकी श्रद्धा किए बिना कोई रोटी भी बना सकता है क्या ? जैसे आटेकी रोटी बनाना है तो उसके ज्ञानमें कथचित् नित्यानित्यात्मकता बसी हुई है। चाह वह कह न सके, समझा न सके, लेकिन उसे यह बोध है कि इससे रोटी बनेगी अर्थात् एक नई चीज बनेगी। रोटी बननेपर भी चीज तो रहती है ना वह ? आटा उपादान वह रहा, यह भी जान रहा और नई परिणति होगी यह भी समझ रहा तब तो वह रोटी बना सकेगा किसी कार्यको नये स्याद्वादका उपयोग लेकिन एकान्तवादकी वासना होनेसे या एकान्त मन्तव्य जाहिर कर देनेसे कि इसका तो यह मंतव्य है, उसे मुखसे कहनेको उनके साहस नही होता, यही बात इस प्रत्यक्षके सम्बन्धमें है कि अन्य परिहारार्थका निषेध करने वाला विधिवादी शब्द कहकर अन्य परिहाररूप अर्थका

उपयोग तो किये जा रहा है पर माननेको तैयार नहीं हो पा रहा कि प्रत्यक्ष विधिकी तरह अन्य परिहारको भी ध्वनित करता है। अब बतलाओ कि यह स्वरूप कैसे कहा जाय ?

भावाभावात्मकविषयप्रत्यय होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाणमें विधातृत्वकी तरह निषेद्धृत्वकी भी सिद्धि—और भी देखिए, सोचिए प्रत्यक्ष आदिकमें निषेद्धृत्वका अभाव है याने ये प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण निषेद्धा नहीं हैं इस बातपर कैसे विश्वास है ? प्रत्यक्ष प्रमाण निषेद्धा नहीं है, यह तो विरुद्ध वचन है। सन्मात्र विद्यामय ब्रह्म है ऐसा कहकर उसने परिचय तो यही बनाया कि वह विद्यामय सन्मात्र है, अविद्यारूप नहीं है। तो विधि और परप्रतिषेध इन दोनोंरूप शब्दका अर्थ है। उसमें से केवल विधि अर्थका मानना युक्त नहीं है। क्योंकि, देखिए, जिस प्रमाणसे विधिका ज्ञान होता है वही प्रमाण अभावको विषय करने वाला है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाणसे विधिका ज्ञान होता है तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही अभावका भी ज्ञान होता है। अब यहाँ विधिवादी आशंका रखता है कि प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणके विधातृत्वकी प्रतिपत्ति ही निषेद्धृत्वके अभावकी प्रतिपत्ति कहलाती है, अतः प्रत्यक्षादिक प्रमाण निषेद्धा कैसे हो सकते हैं। तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणसे विधिस्वरूप सद्भावकी ही सिद्धि होती है सो विधिके सद्भावकी सिद्धि होनेका ही नाम निषेधके अभावका ज्ञान कहलायेगा याने प्रत्यक्ष तो विधातृ है और विधातृ होनेका ही नाम निषेधका अभाव है। इससे प्रमाण निषेधका विषय नहीं करता, किन्तु प्रमाण जिसको विषय करता है उसका ही अर्थ है निषेध्यका अभाव। उत्तरमें कहते हैं कि तब तो यही बात सिद्ध हुआ ना कि प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण भाव और अभाव दोनोंका विषय करने वाले हैं। फिर तो विधिवादियोंके द्वारा कहा गया विधि वाक्यार्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि प्रमाण तो विधि और निषेध दोनोंका ही विषय करने वाला है और जब श्रुतिवाक्यका अर्थ विधिरूप सिद्ध नहीं हो सकता तो नियोग ही वाक्यका अर्थ है यह बात स्वयं उत्पन्न हो जाती है और फिर इससे प्रभाकरके मतकी सिद्धि होती है।

विधि व नियोग अर्थका निराकरण करते हुए भावनाको वाक्यार्थ सिद्ध करनेका भावनावादीका प्रयास—प्रत्यक्षादि प्रमाणसे केवल विधिकी सिद्धि न होनेसे नियोगार्थकी सिद्धिकी बात सुनकर प्रभाकर कहता है कि तब तो नियोग ही वाक्यका अर्थ बनो ! नियोगको छोड़कर फिर अन्य किसीमें वाक्यार्थपनेकी कल्पना ही क्यों करते हो ? भावनावादी भट्ट कहता है कि यह कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि जैसे धात्वर्थ वाक्यका अर्थ है इस तरह प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार प्रभाकरके द्वारा जिसका स्वरूप कहा गया है ऐसा नियोग भी वाक्यका अर्थ है इस रूपसे प्रतीत नहीं होता। विधिवादीने धातुका अर्थ सन्मात्र विधि कहा है। तो उक्त प्रकारसे जिसका कि वस्तुमें वर्णन किया गया वह सन्मात्र विधि वाक्यका अर्थरूपसे नहीं सिद्ध होता इस

ही प्रकार नियोग भी वाक्यार्थरूपसे सिद्ध नही होता, क्योंकि सभी जगह आगममे वेदमे सभी जगह उन सब वैदिक लौकिक वाक्योमे भावना ही वाक्यके अर्थरूपसे प्रतीत होती है। भावनाका अर्थ क्या है ? यज्ञ आदिक क्रियामे कर्तापनको प्राप्त प्रवृत्त्य आदि वस्तुकी प्रयोजक क्रियाका भावना कहते है। वह भावना दो प्रकार की है। शब्द-भावना और अर्थभावना। शब्दभावनाके स्वरूपमे लिङ आदिक कर्ता है अर्थात् लिङ् लोट तव्य ये श्रुतिवाक्यमे किसी कामके लिए कर्ता माने जाते हैं। जैसे—श्रुतिवाक्यने कहा कि यज्ञ करना चाहिए तो अब उसके प्रति जो भावना लगी, उस क्रियामे जो व्यापार करनेका भाव बना, यत्न बना उसका करने वाला कौन ? यह वाक्य। और, वाक्यमे भी लिङ लोट तव्य ये प्रत्यय हैं। इनमे जो प्रत्यय लगा है उसमेसे आदश अर्थ निकला कर्तव्य अर्थ निकला। तो ये लिङादिक प्रत्यय शब्दनिष्ठ भावनाको बनाते हैं। और यह अर्थ भावना उससे याने शब्द भावनासे अन्य ही हैं अर्थात् शब्द भावना और अर्थ भावना ये जो दो भावनाके भेद हैं इनका अपना २ स्वरूप है। अर्थ भावना सर्वार्थी है। यजन आदिक सभी अर्थ इसके हैं। यह अर्थ भावनामे भिन्न यो है कि धात्वर्थरूप भावना समस्त अर्थका प्रतिपादन करने वाली है और यह शब्दभावनासे जुदा है तथा समस्त आख्यातोमे विद्यमान है। आख्यातका अर्थ है कि जितने प्रसिद्ध समय सम्बन्धित भूत, भविष्य, वर्तमान सम्बन्धित जो धातुके अर्थ है उन सबमे यह विद्यमान है। तो इन दो भावनाओमेसे शब्दभावना शब्दव्यापाररूप है और उस शब्द व्यापारसे किस तरह प्रगति होती है कि शब्दके द्वारा श्रुतिवाक्यके द्वारा जैसे कि कहा स्वर्गकामी अग्निस्टोमसे यज्ञ करे तो इस शब्दके द्वारा पुरुषका व्यापार उत्पन्न किया जाता है। भावनाका अर्थ है कुछ उत्पन्न की जाने वाली बात। भू धातुसे णिजन्तमे भावना बना। जैसे पहुँचना—पहुचाना। पहुँचना तो स्वतन्त्र कर्ताका क्रियारूप अर्थ है और पहुँचाना यह णिजन्त है अर्थात् प्रेरणात्मक है। उत्पत्ति कराई गई है तो इसी तरहसे होना और हुवाना—होनेका नाम भवन है और हुवानेका नाम भावना है। तो शब्दके द्वारा पुरुषका व्यापार उत्पादित किया जाता है और पुरुषके द्वारा धात्वर्थ उत्पादित किया जाता है। इसी प्रकार धात्वर्थके द्वारा धात्वर्थका फल उत्पादित किया जाता है। तो यहाँ शब्दभावनामे यों फलकी प्राप्ति हुई।

फलमे धात्वर्थका अनुषङ्ग मानने वालोके प्रति धात्वर्थके अर्थकी तीन विकल्पोमे पृच्छना – शब्दव्यापार, अर्थव्यापार व धात्वर्थ व फलके प्रसगमे यह दोष नही दिया जा सकता कि पुरुषव्यापारमें शब्दव्यापार गर्भित हुआ धात्वर्थमे पुरुष व्यापार गर्भित हुआ और उन दोनोकी तरह फलमे धात्वर्थ भावना गर्भित हो जाय यह प्रसंग नही आ सकता है। यद्यपि धात्वर्थ फलको उत्पन्न करता है फिर भी उसका अनुषंग न बनेगा कि फलमे धात्वर्थ लगे। धात्वर्थमें पुरुष व्यापार अनुषक्त हो और पुरुष व्यापारमे शब्दव्यापार अनुषक्त हो। क्योंकि ऐसा माननेकी शंकामे यह पूछा जा सकता है कि वह धात्वर्थ क्या सन्मात्र है या यजन पूजन आदि

यादिकरूप है या नियोगरूप है ? इन तीन विकल्पोंमेंसे धात्वर्थको किस रूप मानोगे ? जिस धात्वर्थको तुम फलमें गर्भित रखना चाहते ।

सन्मात्ररूप धात्वर्थको वाक्यार्थ माननेके विकल्पकी मीमांसा—यदि धात्वर्थको सन्मात्ररूप मानते हो तो धात्वर्थमें विधिरूपताका प्रसंग हो जायगा । अर्थात् वह धात्वर्थ केवल विधिरूप ही रह जायगा । फिर नियोग अर्थ उसमेंसे न निकल सकेगा । जो भावस्वरूप सन्मात्र है वह कारकोंसे अछूता है । ऐसा धात्वर्थ अन्य अर्थसे रहित और अपने आपमें भी अन्तर्गत विशेषोंसे रहित भावमात्र रहा । सन्मात्र रहा तब धात्वर्थसे विधिमात्रकी सिद्धि हुई नियोग सिद्ध नहीं होता । जिस सत्तामात्र अर्थके धात्वर्थसे निकलनेका प्रसंग आया उस सत्ताको प्रतिपादक अर्थ कहते हैं और वही धात्वर्थ बन गया । धातुमें जो शब्द बनता है प्रत्यय जब तक न लगे तब तक उसका शुद्ध भावरूप अर्थ होता है । हम किसी शब्दसे कुछ करनेकी बात जानें, कुछ प्रेरणात्मक ऐसी स्थिति बनानेके लिए प्रकृतिमें प्रत्यय लगाना पड़ता है । जैसे कहा राम, तो उसका अर्थ कुछ न निकला । शुद्ध अर्थ जाना गया सन्मात्र जाना गया । और, जब कहा रामेण, जब उसमें प्रत्यय लगाया तब रामके द्वारा कुछ किये जानेकी बात विदित आयी । ज्ञानमें तो जो सन्मात्र है वह प्रतिपादकका अर्थ है और वह सत्ता ब्रह्मस्वरूप है । जिस सत्ताका त्व और तल् आदिक प्रत्यय दर्शन किया करता है । जैसे मनुष्य कहा तो वहाँ कोई मनुष्य ग्रहण हुआ । और जब त्व शब्द लगा, मनुष्यत्व तो उससे उसका भावमात्र सन्मात्र ग्रहणमें आया । तो केवल भावको सूचना करने वाले त्व और तल प्रत्यय होते हैं जैसे मनुष्यत्व और मनुष्यता । तल्का बनता है ता । मनुष्य कहनेसे कुछ व्यक्ति आया ध्यानमें, लेकिन जब उसमें त्व प्रत्यय होता है तब व्यक्ति गौण होता है और एक सन्मात्र जातिमात्र, भावमात्र अर्थ बुद्धिमें आता है । तो इस प्रकार यदि धात्वर्थको सन्मात्ररूप मानते हो तो उससे विधिरूप अर्थ सिद्ध होगा और इस तरह विधिरूप सिद्ध होना चूंकि युक्तिसंगत नहीं है सो इस बातका निराकरण नियोगवादीने स्वयं किया ही है । ऊपरके प्रकरणमें इसलिये विधिवादके निराकरण करनेके अर्थ हमारी दिलचस्पी नहीं है । यहाँ तो इतना मात्र कह रहे हैं कि धात्वर्थको यदि सन्मात्र मानते हो तो उससे नियोगकी सिद्धि नहीं होती केवल एक विधिरूपकी सिद्धि होती है ।

यजनादि अर्थरूप धात्वर्थको वाक्यार्थ माननेके विकल्पकी मीमांसा—अब यदि दूसरा विकल्प ग्रहण करते हो कि धात्वर्थ है सन्मात्रसे जुदा यजनादि अर्थरूप । जैसे कहा कि यज्ञ करे, तो उस यजेत क्रियाका अर्थ सन्मात्र नहीं, किन्तु यज्ञ करे क्रियाकाण्डका अर्थ निकलता है । उस विकल्पके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा धात्वर्थ भी प्रत्ययार्थसे शून्य होता हुआ किसीका प्रतीत नहीं, जब तक उसमें प्रत्यय न लगे तब तक वाक्यसे उस धात्वर्थका ज्ञान नहीं होता । जैसे यह कहना है कि देवदत्तने जंगलसे

गायको हरली। अब यहाँ प्रत्यय तो जुडेना, और केवल प्रकृति प्रकृतिका प्रयोग करे देवदत्त, गाय तृ, तो क्या अर्थ होगा उसका ? तो जब तक प्रत्यय न लगे तब तक प्रत्यर्थका बोध नही होता, प्रत्ययसहित ही उस धात्वर्थका उस वाक्यसे प्रत्यय याने बोध होता है। जब प्रत्ययार्थ विशेषणभूत अर्थका वाक्यसे बोध होता तो प्रत्ययथा की बात यहाँ अधिक दृष्टिमें देनी है। प्रत्यार्थ शून्य होकर धात्वर्थ कुछ हो जाय यह किसी भी वाक्यसे प्रतीत नही होता। अब यहाँ प्रश्न किया जा रहा है कि धात्वर्थमे प्रत्यय भी प्रतिभासमान हुआ जैसे कि कहा गायको तो को लगाये विना गायका प्रयोजक अर्थ तो नही ध्यानमें आता कि क्या कहा जा रहा उस गायके प्रति। तो प्रत्यार्थ धात्वर्थमे प्रतिभासमान हो रहा, प्रत्यय लगानेसे धातुका अर्थ प्रतिभासमान हुआ तो यो प्रतिभासमान होकर भी प्रत्यार्थ प्रधान नहीं है, किन्तु धातुका शुद्ध अर्थ प्रधान है। क्योंकि कर्म करण आदिक कारकोकी तरह धात्वतरमे भी प्रत्ययका सद्भाव पाया जाता है। इस प्रश्नका यह तात्पर्य है कि 'पूजे" इस प्रकारका एक धातुरूप बोला गया तो इसमे जो प्रत्यय (ए) लगा है उस प्रत्ययके विना पूजेका कुछ भाव नही प्रतिभास में आता और, प्रत्यय शून्य धातुका कोई मतलब नही निकलतातो भी याने धातु प्रयोग में प्रत्ययका अर्थ भी प्रतिभासमान हैं तथापि प्रत्ययका उस ए का जैसे पूजे उसमें प्रत्यय तो अनेक क्रियावोमे लगते हैं जैसे पढे, लिखे, जावे आदिक। तो किसी वाक्यमे धातु प्रधान हुआ, प्रत्यय प्रधान नही हुआ। जैसे कि कर्म और करण ये भी धातुवो में लग जाते हैं। शब्दोमे जैसे कर्ता कारकमें प्रथमा विभक्ति लगती है कर्म कारकके द्वितीया विभक्ति लगती है। तो विभक्ति प्रधान न रही, मूल शब्द प्रधान रहा। इस प्रश्नपर उत्तर देते हैं भट्टजन कि फिर तो धातुका अर्थ यजनादिक भी प्रधान मत होओ। जब यह कह रहे हो कि धातुमे जो प्रत्यय लगा है वह प्रत्यय अर्थ प्रधान नही है क्योंकि प्रत्यय तो अन्य अन्य धातुवोमें भी लग बैठता है, लगाया जाता है तो इस युक्तिके अनुसार धातुका अर्थ यजनादिक भी मत हो, जो शब्दमें धातुमे मूल अर्थ ध्वनित होता है वह भी प्रधान न रहेगा, क्योंकि प्रत्यान्तरमे भी उन धातुओका सद्भाव रहता हैं। तब प्रकृत जो प्रत्यय हैं, लिङ्ग लोट् तव्य आदिक इनके अभावमें भी वह आक्षेप समान देखा जा रहा है, अर्थात् इस प्रसगमें विधिवादी और भावनावादीका आक्षेप समाधान तुल्य है अतएव दूषण बराबर है। फिर यह नही कहा जा सकता कि प्रत्यार्थ प्रधान नही है। तो इस प्रकार धात्वर्थ यजनादिकरूप भी सिद्ध नही होता। यहा जो धात्वर्थकी परीक्षा ३ विकल्पोमे की गई थी कि वह धात्वर्थ क्या सन्मात्र है या यजन आदिकरूप है, या क्रियामात्र है ? उन विकल्पोंमेसे दो विकल्पोका निराकरण कर दिया गया कि वह धात्वर्थ है, न सन्मात्र है न यजन आदिक मात्र है।

धात्वर्थके तृतीयविकल्पका याने क्रियारूप नियोगके वाक्यार्थरूपताका खण्डन—फलमे धात्वर्थका अनुपग नही होता, इस बातको सिद्ध करनेके लिए धात्वर्थ

शब्दको प्रवर्तक माननेपर शब्दसे अगृहीतसकेत पुरुषमे प्रवृत्ति होनेके प्रसगका क्षणिकवादियो द्वारा दी गइ समस्या व भट्ट द्वारा समाधान— अब इस समय यहाँ क्षणिकवादी कहता है कि यदि शब्दव्यापारका नाम भावना रखते हो याने शब्द बोला गया और शब्दने पुरुषका काम करा दिया तो शब्द ही यदि किसी पुरुषसे काम कराने वाला है तो शब्दके सुनने वाले तो सब हैं। जो उस शब्दका सकेत समझते हैं उन्होने भी सुना और जो सकेत नही जानते उन्होंने भी सुना। जैसे कोई मनुष्य हिन्दीमे बोल रहा है और वहाँ कोई केवल इगलिश जानने वाला इगलिश भाषाके देशका हो तो वह अगृहीतसकेत कहलाया। तो ऐसा पुरुष जिसको कि सकेत नही मालूम है फिर वह उसका अर्थ क्यों नही जान जाता है ? यदि शब्द ही पुरुषको काममें लगाता, शब्दका व्यापार है कि आत्मामे कोई व्यापार करा देना तो शब्दको सबने सुना लेकिन जो लोग उस शब्दका अर्थ जानते, जिन्हें उसका सकेत मालूम है वे तो काममें लग जाते हैं, सो भी लग ही जायें यह नियम नही। उनके भाव हुआ, अभिलाषा हुई तो काममें लगे। तो शब्द सुनकर गृहीत सकेत पुरुषके ही व्यापार बनता है अगृहीत सकेतके व्यापार नही बनता। यह क्यो हुआ ? शब्द तो सबके लिए एक है और शब्द पुरुषका व्यापार कराता है। जैसे कोई अग्रेजीका जानकार भी सो रहा हो या बैठा हो और कोई हिन्दीका जानकार भी सो रहा हो या बैठा हो अब इन दोनोको यदि कोई लाठीसे मारता है या थोडा ककड चुभाता है तो दोनोंको उसका अनुभव हो जाता है। तो जैसे ककडका चुभना यह दोनोके लिये समान है, फिर यह क्या कारण है कि जिसने उसका सकेत ग्रहण किया उसका जो अर्थ जानता है उसका तो व्यापार होता है और जो सकेत नही जानता उसका व्यापार नही होता यदि शब्दव्यापारका ही नाम भावना हुआ तो फिर अगृहीतसकेत पुरुष क्यों नही जान जाता है ? क्यो नही उस तरहकी प्रवृत्ति करता है जैसे कि गृहीतसकेत प्रवृत्ति करता है ? मैं इस वाक्यके द्वारा इस कार्यके लिए नियुक्त हुआ हूँ, इस ढङ्गसे क्यों नही शब्द उनमे व्यापार कराते ? नियुक्तिके मायने यह है कि किसी काममें लगना, लग होजाना जैसे कोई फर्म वाला किसी मुनीमको नियुक्त करता है तो नियोक्ता हुआ मालिक, नियोज्य हुआ मुनीम और नियोग कहलाया वह काम जो उसे सौंपा गया। सो अगृहीतसकेत पुरुष भी मान जाय कि मैं इसके द्वारा यहाँ नियुक्त हुआ हूँ, तो इस ढङ्गसे अगृहीतसकेत पुरुष क्यो नही शब्दका व्यापार करने लगता है, क्योंकि अब तो शब्दको स्वभावसे नियोजक मान लिया कि शब्द ही नियुक्ति करने वाला है, कार्य कराने वाला है। तो जब स्वभावको शब्दका नियोजक माना गया तो वह शब्द जिस जिसके प्रति बोले जायें वे सब नियुक्त बन जायें, क्योंकि मैं इस शब्दके द्वारा इस कार्यके लिये नियुक्त हुआ हूँ, इस प्रकारका नियोजन करनेका शब्दमें स्वभाव मान लिया गया है। दूसरी यह बात सिद्ध हुई कि सकेतका ग्रहण करना अनुपयोगी हो गया, क्योंकि शब्द बोला गया और उस शब्दने दोनोंका काम करवा दिया। एक गृहीतसंकेत था, एक

काम करा दिया, पर क्षणिकवादी कहता है कि शब्दने काम नहीं कराया किन्तु प्रेषण और अध्येषण विधि निमन्त्रण आदिक अर्थ होते हैं तो उस अर्थका ज्ञान कराया। यदि उस ढगसे अर्थका ज्ञान कराना शब्दकी मत्ता न हो तो इस प्रकार यह पुरुष अपनेको नियुक्तपनेरूपसे प्रतीति कर ही न सकेगा। गुरुने कहा कि बच्चो पढ़ो तो इस शब्दके द्वारा मैं पठन क्रियामें नियुक्त किया गया हूँ यह जो प्रतीति हुई पढ़ो में जो प्रत्यय लगा है लोट् लकारका उससे प्रतीति होती है। और, भी देखिये नियुक्तत्व नाम है कार्यमें व्यापारित हो जानेका। मैं इस शब्दके द्वारा नियुक्त हूं। अर्थात् व्यापारित हूँ यह उसका अर्थ हुआ। जैसे कहा कि यज्ञ करो तो उसका अर्थ क्या हुआ भावना नियोगवादियोंकी ओरसे कि मैं यज्ञमे नियुक्त हू। वाक्यका नियोग अर्थ निकला। तो अब यहाँ यह देखिये कि कार्यमे व्यावृत्तपनेकी अवस्थाको अपनी ओरसे स्वीकार करके यह शब्द नियोजक नियोज्यको नियुक्त कर रहा है लेकिन कार्यका व्यापार तो आगे होगा। जैसे कहा कि बच्चो पढ़ो तो यह शब्द सुनकर कुछ देर बाद वे पढ़ेंगे। तो जो शब्दका अर्थ निकला उसका व्यापार तो भविष्यकी अवस्था है। और भविष्यकी अवस्था स्वरूपसे साक्षात् की नही जा सकती। जिस कालमे बोला है शब्द उस कालमे भावी क्रियाका साक्षात्कार तो नही है, क्योंकि यदि भावी क्रियाका, स्वरूपका साक्षात्कार हो जाय, जिस कामके लिए कहा गया है वह सब काम वाली घटना यदि विदित हो जाय उसको साक्षात्कार याने अनुभव भी हो जाय तो इसके मायने है कि शब्दसे कालमें क्रिया सिद्ध हो गयी। फिर नियोग क्या रहा? फिर नियोग सफल नही हो सकता।

शब्द निरूपित अर्थकी क्रियाकी बाध्यमान प्रतीतिकता होनेसे नियोग मे वाक्यार्थताकी असभवताका प्रश्न — जो शब्द बोला उसका वाच्य कुछ अर्थ तो है, लेकिन जो प्रयोजक शब्द है, उस काम करानेके लिए कहा गया शब्द है, वह बाध्यमानप्रतीतिक होता है, निश्चित नही होता। उसमें बाधा भी आ सके यह भी सम्भावना है। किसीसे कहा गया कि पढ़ो तो क्या वह नियमसे पढेगा? अबाध्यमान प्रतीतिक नही है। तो जितने भी प्रयोजक नियोजक आज्ञा करने वाले शब्द होते हैं वे बाध्यमान प्रतीति वाले हुआ करते हैं। तो जब भावी क्रियाकी अवस्था शब्द उच्चारणके कालमें नही है तो वह अर्थ कैसे बन जायगा? इस प्रकार ये सुगत क्षणिकवादी कह रहे हैं जिसका खुलासा अब आगे कहा जा रहा है। जो प्रयोजक होता है नियोकता होता है, काम कराने वाला होता है वह बाध्यता प्रतीतिक होता है, तो उसने जो आदेश किया उसमे निर्णय नहीं है कि यह होगा ही। उसमें बाधायें हैं। तो जिस तरह प्रयोजक अपने उस कार्यमें बाध्यमान प्रतीति युक्त होता है उसी तरह प्रयोज्य भी पुरुष भी जिसको कि बताया जा रहा है वह भी काल्पनिक है, और यह भी बात है कि शब्दमे प्रेरणा आदिककी प्रतीति भी नही युक्त होती क्योंकि शब्द बुद्धयार्थका वाचक है अर्थात् बुद्धिसे परिकल्पित है। बुद्धिमे ही तो शब्दके अर्थकी कल्पना की कि यह था, यह है, इसका यह अर्थ, तो शब्द भी कल्पित है और जो प्रयोज्य है पुरुष है जो सुन रहे है

अर्थ है इस कारणसे वाक्यका अर्थ विवक्षामें, बुद्धिमें आया हुआ ही अर्थ है, भावना नहीं है, ऐसा क्षणिकवादी कहते हैं ।

वाक्यके चार प्रकारके अर्थोंकी चर्चामें क्षणिकवादी द्वारा बुद्धिगत अर्थकी वाक्यार्थताका स्थापन करनेके प्रयासका कथन—अब यहां देखिये ! ४ प्रकारके शब्दके अर्थ बताये गए । नियोगवादी तो यह कहते हैं कि शब्दका अर्थ नियोग है, घट लाओ ऐसा सुनकर सुनने वालेने यह समझा कि मुझे घट लानेके काममें नियुक्त किया है, तो नियोग अर्थ हुआ । भावनावादी यह कहता है कि घट लाओ । इस शब्द ने उस पुरुषके द्वारा घट लिवा दिया । तो उसने भावन किया, व्यापार कराया । तो विधिवादी यह कहता है कि शब्दका अर्थ, वाक्यका अर्थ इतना ही मात्र है कि यह जान जावे कि यह स्वरूप है, सन्मात्र है, ब्रह्म है, पुरुष है । सो ज्ञानद्वैतवादी यह कहता है कि शब्दका अर्थ बुद्धिमें आया हुआ जो विकल्प है वह है, यह चीज नहीं है । इस तरह चार अर्थ आये श्रुतिवाक्यके । यहां क्षणिकवादी प्रभाकरने यह सिद्ध करनेका प्रयास किया कि वाक्यका अर्थ बुद्धिमें आया हुआ विकल्प है, भावना नहीं है ।

प्रत्यक्षकी तरह शब्दसे भी बाह्य अर्थकी प्रतीतिका कथन—अब भावनावादी भट्ट कहता है कि उक्त प्रकारसे बुद्ध्यारूढ अर्थको ही शब्दार्थ कहने वाला प्रभाकर परीक्षक नहीं है प्रत्यक्षकी तरह शब्दसे भी बाह्य अर्थकी प्रतीति होती है क्षणिकवादीने यह कहा था कि शब्दसे बाह्य अर्थ नहीं जाना जाता । किसीने कहा पुस्तक तो उस पुस्तकसे यह कागज वाली पुस्तक नहीं जानी गई किन्तु जानने वालेके ज्ञानमें जो ज्ञान हुआ विकल्प हुआ, समझ बनी उसको कहा पुस्तक । तो इसके विरुद्धमें भट्ट यह रहे हैं कि शब्दसे बाह्य अर्थ प्रतीत होता है । जैसे कि प्रत्यक्षसे बाह्य अर्थ प्रतीत होता है । देखो प्रत्यक्ष ज्ञानसे ये सब बाह्य चीजें मालूम हो रही है तो इसी तरह शब्दसे भी ये बाह्य अर्थ मालूम होते हैं । जैसे कि ज्ञाताके उपयोगकी अपेक्षा रखने वाले प्रत्यक्षसे प्रत्यक्षमें आये हुए बाह्य अर्थका ज्ञान होता है, किसी पुरुषने बाह्य अर्थका ज्ञान किया, किस ज्ञानसे किया ? प्रत्यक्ष ज्ञानसे । कैसा था वह प्रत्यक्षज्ञान कि उपयोगकी अपेक्षा रखने वाला था । हम उपयोग न लगायें और सामनेसे कुछ निकल जाय तो उस बाह्य अर्थकी प्रतीति नहीं होती इसलिए यह विशेषण दिया कि उपयोग सामग्रीकी अपेक्षा रखते हुए प्रत्यक्षसे बाह्य पदार्थमें प्रतीति हो जाती है उस ही तरह संकेत सामग्रीकी अपेक्षा रखते हुए शब्दमें शब्दविषयक अर्थकी प्रतीति हो जाती है । यदि ऐसा न माना जाय अर्थात् कोई कहे कि घट आदिक बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है तो यह बतलावो कि शब्दसे बाह्य अर्थमें प्यासे पुरुषका यह ज्ञान क्यों होता कि यह जल है और फिर जलके समीपमें जाना और उसका पान करना, लाना अथवा उसमें स्नान करना यह भी फिर घटित न हो सकेगा तो मानना ही चाहिए कि शब्दसे बाह्य अर्थकी प्रतीति होती है । यहां एक पक्षसे तो यह कहा जा रहा कि शब्दसे बाह्य अर्थका ज्ञान

नही होता, किंतु ज्ञानमे आया हुआ विकल्प ही शब्दसे जाना जाता है। तो दूसरा पक्ष यह सिद्ध कर रहा कि नहीं—नही, जैसे प्रत्यक्षसे बाह्य अर्थका ज्ञान माना है इसी प्रकार शब्दसे भी बाह्य अर्थका ज्ञान होता है।

शब्दसे बाह्य अर्थकी प्रतीति होने व न होनेकी भट्ट और प्रज्ञाकरकी परस्पर चर्चा— अब यहाँ क्षणिकवादी यह कहते है कि शब्दसे बाह्य अर्थका ज्ञान नही हुआ, किन्तु शब्दसे जो बाह्य बुद्धिमे आये हुए विकल्पका ज्ञान हुआ, फिर बाह्यमे जो पदार्थ आया उस पदार्थके सम्बन्धमे उपचारसे कहते हैं कि शब्दने इस अर्थको बताया। शब्द बाह्य अर्थका ज्ञान कराता, यहाँ यह भी नही कह सकते। जब शब्द बाह्य अर्थका ज्ञान कराता है तो बाह्य अर्थका ज्ञान होनेसे उस पदार्थमे इस पुरुषकी प्रवृत्ति होती है क्योकि वह पुरुष उसे चाहता है तो उस पुरुषकी प्रवृत्ति स्वय हुई उस पदार्थमे। जैसे प्यासे पुरुषने जलका ज्ञान किया, किसीने कहा—जल। उसने किया ज्ञान कि यह है जल। अब जलका ज्ञान करनेसे ही उस जलमे जलके अर्थकी प्रवृत्ति हुई तो शब्दने प्रवृत्ति नहीं कराई, शब्द अप्रवर्तक ही रहा भट्ट कहते हैं यह नही कह सकते, क्योकि ऐसा कहनेपर तो हम यह भी कह देंगे कि प्रत्यक्ष आदिक ज्ञान भी अप्रवर्तक रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रवृत्ति नही कराता। कैसे? यह कह दिया जायगा कि प्रत्यक्षसे ज्ञानका ज्ञान किया। फिर उस पदार्थमे पुरुषको अभिलाषा उत्पन्न हुई, तो प्रवृत्ति हुई वह अभिलाषासे प्रवृत्ति हुई, पदार्थके ज्ञानसे नही हुई प्रत्यक्षसे नही हुई, यह भी तो कहा जा सकता है। यहाँ बौद्ध यह कह रहे हैं कि शब्दसे बाह्य अर्थका ज्ञान भी मान लिया जाय तो भी उस बाह्य अर्थको उठानेके लिये पीनेके लिये, उपयोगमें लानेके लिये जो प्रवृत्ति हुई है सो उस पदार्थके ज्ञानसे ही हुए शब्दने प्रवृत्ति नही कराई। तो उसके उत्तरमें भट्ट यह कह रहे हैं कि इस तरह हम यह भी कह देंगे कि प्रत्यक्षसे जो ज्ञान हुआ उससे हुई उसमे अभिलाषा। तो अभिलाषासे प्रवृत्ति हुई, प्रत्यक्ष ज्ञानने प्रवृत्ति नहीं कराई। यदि बौद्ध यह कहे कि परम्परासे प्रत्यक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष मान लो। पदार्थमें पदार्थका ज्ञान कराया, फिर उस पदार्थमे हो गई अभिलाषा उस अभिलाषासे हुई प्रवृत्ति, तो प्रवृत्तिका साक्षात् कारण क्या है? अभिलाषा। और अभिलाषा जगनेका कारण क्या है? उसका ज्ञान। तो यो परम्परासे, वह ज्ञान प्रवर्तक मान लिया जायगा तो भट्टके फिर इस तरह वचनको भी प्रवर्तक मान लो। शब्दसे हुआ अर्थका ज्ञान फिर उस ज्ञानसे उस ज्ञाताको चाह होनेके कारण हुई प्रवृत्ति तो इस तरह उस प्रवृत्तिका परम्परा कारण शब्दको मान लिया। जो दलील तुम शब्दकी अप्रवर्तकताके लिए दोगे वही प्रत्यक्षकी अप्रवर्तकताके लिए होगा और जैसे कि प्रत्यक्षका पदार्थ क्या है? पानी आदिक। प्रत्यक्षसे जाना कि यह पानी है, और फिर प्रत्यक्षके उस पदार्थमे प्रतीति होती है उसी तरह वाक्यका; अर्थ- क्या है? भावना, और प्रेरणा। और उस ही भावना और प्रेरणामे प्रतीति अबाधित है। इस तरह शब्दका अर्थ बाह्य अर्थ है। ज्ञानाद्वैतवादियोका यह [illegible]

माया हुआ विकल्प है, यह युक्त नहीं है।

प्रत्यक्षकी भांति शब्दसे भी बाह्य अर्थकी अबाध्यमान प्रतीतिका कथन—यहाँ बौद्ध कहते हैं कि देखो जैसे कि शब्द बोला गया कि यह करो तो इस शब्दसे हुआ क्या ? कार्यमे व्यापारितपना हुआ, अर्थात् यज्ञ करो ऐसा शब्दसे यज्ञरूप कार्यमें व्यापार बना। यही है पुरुषका नियुक्तपना। कामके नियुक्त कर दिया तो यह हुआ शब्दसे मतलब। सो अब देखो कि कार्य बन जाय, यज्ञ हो गया ऐसी अवस्था उस समय तो नहीं है जिस समय कहा जा रहा यज्ञ करो। जैसे कहा कि पूजा करो तो पूजा करोमें जो अर्थ भरा है भविष्यमें होगा कि उस समय है ? पूजा सम्बन्धी कार्य भविष्यमे होगा। अभी तो कहा जो रहा है पूजा करो, तो पूजा करनेका अर्थ ही है पूजन और वह पूजन है भविष्यकी अवस्था, और उस भविष्यकी अवस्थाका अभीसे ज्ञान कैसे किया जा सकता, क्योंकि यदि भविष्यके पूजन करनेका इस समय साक्षात्कार हो रहा है तो फिर नियोग ही क्या रहो ? नियोग निष्फल रहा, लगना किस लिए ? काय तो अब भी बना बनाया है, इससे व्यापृतपनेकी प्रतीति बाध्यमान है। आपसे कहा कि पूजा करो, पता नहीं आप कर पावेंगे कि नहीं। भट्ट कहता है कि यह कथन अटपट है, क्योंकि इस तरहकी बाध्यमान प्रतीति तो प्रत्यक्ष आदिकमें भी बतायी जा सकती है। वहाँ भी यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष भी प्रवर्तकपना कहलाया प्रवृत्तिके विषयको दिखा देना। प्रवृत्तिका विषय अर्थक्रियाकारी स्नान पान आदिक करा देन वाला पानी आदि है और वह उसकी अर्थक्रियाकारिता भविष्यमें है। वह तो साधन समझादेने वाले ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्षके द्वारा साक्षात्कार नहीं हो रहा। यदि साक्षात्कार हो गया हो तो प्रवृत्ति करना निष्फल है। तो यों यह भी क्या कहा नहीं जा सकता कि प्रत्यक्षकी प्रवर्तकता भी बाध्यमान प्रतीतिक है। उसकी भविष्यमें भी बाधा सम्बन्धित है, इस कारण अर्थ अबाध्यमान है, इसमें बाधा नहीं दी जासकती यदि शब्दकी प्रवर्तकतामें दोष दिया जाता है तो वही दोष प्रत्यक्षकी प्रवर्तकतामें है।

बुद्धयारूढ अर्थको विषय कहनेपर भी तो बाह्य अर्थकी भूतार्थताकी प्रतीतिकी समीचीनता यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि यद्यपि प्रत्यक्षकी अर्थक्रियाकारिता भविष्यमे है अर्थात् प्रत्यक्षने जो पदार्थ जाना है उसका काम भविष्यमे है तो भी साधनको जानने वाले प्रत्यक्षज्ञानमे उसे प्रतिभासित ही समझिये ! अर्थात् जैसे कहा कि पानी पियो तो पानी पीना तो भविष्यकी बात है न, और कहाँ पहिले तो पानी पियो, ऐसा कहनेमें इसकी अर्थक्रिया बादमें हुई। इसी तरह जल देखा किसी प्यासे पुरुषने, अब जल देखकर प्यास बुझानेकी क्रिया तो भविष्यमें होगी, प्रत्यक्ष हुआ पहिले तो भविष्यमें क्रिया होगी तो उस क्रियाका व ज्ञानका आधार एक ही है अत अर्थक्रिया भी प्रतिभात समझिये ! जिस कारणसे शब्दसे प्रवृत्ति नहीं मानते, उसी कारणसे प्रत्यक्षसे भी प्रवृत्ति न होगी। यों भावनावादी द्वारा दिये गये दोषको मेटनेके

लिये क्षणिकवादीके द्वारा यह कहा जा रहा कि नहीं, अर्थक्रियाकारिता भी तुरन्त ही प्रतिभात है, क्योंकि प्रत्यक्षमे और अर्थक्रियामे एकत्वका अध्यवसाय है। ऐसा यदि क्षणिकवादी मानते हैं तो वही बात शब्दके पक्षमे भी सिद्ध होती है। शब्दसे ही पुरुष की भावना बनो और फिर अर्थक्रियामे व्यापृत हो जाना यह भी उस पुरुषमे बनो सो प्रत्यक्षका व भाविनी क्रियाका एक ही आधार है। इस कारणसे प्रत्यक्षकी प्रवर्तकता अबाध्यमान है तो वही बात शब्द भावनामे है। पुरुषमें और व्यापृतताकी अवस्थामें एकत्वका अध्यवसाय होनेसे शब्दसे ही अर्थक्रियाकारिता प्रतिभात हुई ऐसा मान लिया जाना चाहिए। इसपर क्षणिकवादी कहता है कि ऐसा माननेमे तो यही मान लिया गया कि बुद्धिमें आरूढ अर्थ ही शब्दका अर्थ हुआ याने विवक्षामे बुद्धिमे जो विकल्प आया वही विकल्प तो शब्दका अर्थ बना। इसपर भट्ट कहता है कि तो भी याने प्रत्यक्षका विषय बुद्धिमे आया हुआ पदार्थ है सो यहाँ अर्थ जो विषय हुआ ही है, केवल विकल्पको ही प्रत्यक्षका विषय क्यो मानते हो ? और, यदि बुद्धिमे निश्चित् किया गया बाह्य पदार्थ प्रत्यक्षका विषय नही मानते तो इसका सीधा भाव यह हुआ कि प्रत्यक्ष निराश्रय हो गया। प्रत्यक्षज्ञानने किसी भी अर्थका नही जाना। वह तो केवल स्वप्न है, बुद्धिका विकल्प है।

शब्दके प्रवर्तकत्वको असिद्ध करनेके लिये क्षणिकवादियो द्वारा प्रत्यक्ष की अप्रवर्तकताको सम्मत कर लेनेकी मीमांसा—अब यहाँ बौद्ध कहते हैं कि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो प्रत्यक्षज्ञान भी प्रवतक नही है क्योंकि ज्ञानकी प्रवृत्ति स्वय से होती है बाह्य अर्थमे नही होती, तब ज्ञानाद्वैतकी ही सिद्धि हुई। क्षणिकवादमे एक ज्ञानाद्वैतका सिद्धान्त है उनका मन्तव्य है कि जगतमें सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नही है। जो पदार्थ दिखते हैं वे सब स्वप्नवत् भ्रम हैं, जैसे कि स्वप्नमें अनेक पदाथ दिखते हैं पर वे है क्या ? कुछ भी नही। केवल भ्रम मात्र हैं। इसी तरह भ्रममे घर चौकी, पुस्तक, आदमी आदिक सब दिख रहे हैं, पर हैं कुछ नही, परमार्थसे सब ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञानमे आया तो ये पदार्थ कहे जायेंगे, ज्ञानमे न आया तो ये पदार्थ कुछ भी नही हैं। तो प्रवृत्ति जो हुई वह ज्ञानमे ज्ञानसे हुई है, बाह्य अर्थसे नही हुई, क्योंकि तत्त्व तो ज्ञानाद्वैत ही है, इसपर भट्ट उत्तर देता है—तब ज्ञानाद्वैत तक ही क्यो रहते ? पुरुषाद्वैत तक पहुचो, इसमें फिर पुरुषाद्वैतकी कैसे सिद्धि नही होती ? पुरुषाद्वैत अर्थात् ब्रह्माद्वैत। ब्रह्माद्वैत है केवल चैतन्यरूप। उसमें अन्यका विकल्प ही नहीं है। तो बाह्य अर्थको तुम मानते नहीं हो कि प्रत्यक्षसे बाह्य अर्थकी प्रवृत्ति हुई। ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञानकी प्रवृत्ति हुई। चाहे पानी पिये चाहे कुछ करे, तो इस तरह फिर एक सन्मात्र ब्रह्मकी सिद्धि मान लो। इस पर बौद्ध कहते हैं कि ब्रह्माद्वैत तो यो नही माना जा सकता कि नित्य सर्वव्यापी उस कल्पित एकका सम्वेदन नही होता, ऐसा ज्ञान नही होता, ऐसा परिचय नही हो रहा कि कोई नित्य हो, व्यापी हो और एक हो ज्ञानाद्वैतमे तो यह है कि अनित्य है ज्ञान और व्यापक नही है, एक रूप नही

है। ज्ञानाद्वैतवादी क्षणिकवादियोंका ही एक भेद है। ये लोग ज्ञानको अनित्य अन्यापक और नानारूप मानते हैं, किन्तु ब्रह्म है नित्य, सर्वगत एक। तो बौद्ध कह रहे हैं कि ऐसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता, इस कारण पुरुषाद्वैतकी सिद्धि नहीं है। इसपर यह उत्तर देता हूँ तब फिर क्षणिक निरंश एक ज्ञानाद्वैतकी भी संवित्ति कैसे हो जायगी? किसीको भी किसी भी समय नहीं होगी। तो यों ज्ञानाद्वैतकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है। इस कारणसे पुरुषाद्वैतकी तरह सम्वेदनाद्वैतकी भी सर्वथा व्यवस्था नहीं बनायी जा सकती है। जैसे कि पुरुषाद्वैत कुछ नहीं है यों ही सम्वेदनाद्वैत भी कुछ नहीं है।

भेदाभेदात्मक वस्तु माननेपर प्रत्यक्षमें और शब्दमें प्रवर्तकत्वकी संभवता— और देखिये! प्रत्यक्षसे जो जाना गया है और अब जो पाया जायगा उन अर्थोंमें सर्वथा भेद माने तो ऐसा भेद माननेपर प्रत्यक्ष प्रवर्तक नहीं हो सकता। इस कारण वस्तु मानना चाहिए भेदाभेदात्मक। यदि यह कहो कि एक ही वस्तु भेदरूप हो और अभेदरूप हो यह कैसे हो सकता? तो उत्तरमें कहते कि ऐसा तो तुमने भी माना कि एक चित्रज्ञान, विरुद्ध नाना ज्ञानोंरूप होता है। तो भेद और अभेद यद्यपि परस्पर विरुद्ध है लेकिन चित्रज्ञानकी तरह वस्तु भी दोनोंरूप बन जायगा। चित्राद्वैतवादसम्प्रदाय भी बौद्ध लोगोंका भेद है। क्षणिकवादी चित्राद्वैत मानते ज्ञानाद्वैत मानते, और कोई क्षणिक सम्प्रदायी बाह्य अर्थ भी मानते। अनेक प्रकारके क्षणिकवादियोंके मत्तव्य है। यदि बौद्ध यह कहें कि भेद मानना और अभेद मानना यह कोरी कल्पनाकी बात है, तो यदि भेद और अभेदको काल्पनिक मानते हो तब फिर सर्वथा किसी पदार्थमें अर्थक्रिया ही नहीं हो सकती। जब वस्तु ही काल्पनिक है तो उसकी अर्थक्रिया कैसे हो? और, जब भेदाभेदात्मक मान लिया तो क्या बात बनी कि शब्दसे क्रिया व्यावृत्ति अवस्थाका जो कि प्रकटरूपमें भविष्य कालमें होने वाला है उसकी शक्तिरूपसे पुरुषका कथंचित अभेद है याने शब्दको सुनने वाला पुरुष काममें व्यापार करता है तो काममें जो व्यापार की गई अवस्था है वह पुरुषके ही तो है और पुरुषने ही शब्द सुना तो उस पुरुषमें और उस भावी क्रिया व्यापारमें कथंचित् अभेद है। सो शब्दज्ञानसे उस ही समय जब कि पुरुषने कोई वाक्य सुना उस ही कालमें वाच्य अर्थ व भावना प्रतिभास होनेपर भी नियोग निष्फल नहीं होता।

ज्ञेयता और व्याप्तताके अन्तर रहित, कालभेद होनेपर प्रत्यक्ष व नियोगकी सफलता—और भी देखिये! जैसे कि प्रत्यक्षसे देखा कि यह पानी है। अब प्यासा आदमी क्या करे? पानीको पियेगा। तो प्रत्यक्षने देखा ८ बजे और पानी पीनेका काम बना ८ बजकर एक मिनटपर तो काम बना बादमें और प्रत्यक्षने जाना पहिले तो क्षणिकवादी यह कहता है कि प्रत्यक्ष पानी पिलानेमें प्रवर्तक है। तो पानी पीनेमें प्रवृत्ति कराया प्रत्यक्ष ज्ञानने और कराया भविष्यकी क्रियामें प्रवृत्ति। तो जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान पुरुषने ही जाना और उसी पुरुषने एक मिनट बाद प्रवृत्ति की तो उस

पुरुषने दोनोंका मिलाप करके मानते हों कि प्रत्यक्षने प्रवृत्ति कराया ऐसी ही शब्दकी बात है। शब्द सुना ८ बजे प्रवृत्तकी ८ बजकर एक मिनटपर, तो वही लगाव इसमें हैं इस कारण यहाँ भी यह कहना होगा कि शब्द प्रवर्तक होता है। उस प्रत्यक्षमें जिसने कि जलको जाना और उस समय ही इस जलमें प्यास बुझानेकी योग्यता है इसका भी ज्ञान हुआ। अब व्यक्तिरूपसे जो अर्थक्रिया होती, मायने प्यास बुझाते समय पीते समय जो अनुभव होता वह अनुभव तो नहीं है इसलिए अर्थकी प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे प्रत्यक्षकी प्रवर्तकता मानने वाले यह कहते हैं कि प्रत्यक्षने जाना किया यह पानी और उसी समय प्यास बुझ जाय तो प्रत्यक्ष प्रवर्तक न होगा। प्यास बुझानेका काम कुछ देरमें होना चाहिए सो होता है। जाना ८ बजे कि यह पानी है और प्यास बुझाया ८ बजकर एक मिनटपर, लेकिन पुरुष तो एक है जिसने जाना वही अनुभव करेगा प्यास बुझानेका। परन्तु काल अभी ऐसा है कि जिस समय प्रत्यक्षने जाना उस समय प्यास बुझानेका अनुभव नहीं है इसलिए प्रत्यक्षका प्रवर्तकपना सफल हो जाता है तो भावनावादी भट्ट कहते हैं कि शब्दमें भी यही बात है। भट्ट कहते हैं कि शब्दात्मक पुरुषको ज्ञान तो हो गया कि यह कार्यमें लगा देनेकी योग्यता रखता है, जैसे शब्दने कहा कि स्वर्गकामी पुरुष यज्ञ करे तो शब्दके सुनते ही उसने यह जान लिया कि यज्ञमें लगनेकी योग्यता है फिर भी व्यक्त कार्य अर्थात् यज्ञ कर ही रहा हो ऐसा व्यापारका अनुभव तो नहीं है याने जैसे जिस समय यह कहा कि पूजा करना चाहिए उस समय पूजा करनेका अनुभव नहीं है पूजा करेगा बादमें. तो व्यक्त कार्यमें व्यापृतपनेका अनुभव न होनेसे इस पुरुषका नियोग भी सफलताको प्राप्त हो जाता है। अर्थात् शब्द नियोक्ता है, पुरुष नियोज्य है और यह नियोग है और कर रहा है यह पुरुष ही, हो रहा है भावनारूप, सो वह सफल है क्योंकि इसी प्रकारकी प्रतीति बराबर प्रत्यक्षसे सिद्ध है। अबाध्यमान सिद्ध है इस कारणसे क्षणिकवादियोंका यह कहना युक्त नहीं है कि जो ज्ञानमें विकल्प आया है वह है शब्दका अर्थ। जैसे कहा चौकी तो यह चौकी शब्दका अर्थ नहीं। बौद्ध लोग मानते हैं कि शब्दका अर्थ तो उस पुरुषके ज्ञानमें जो चौकीका आकार विकल्प आया वह है शब्दका अर्थ। शब्दका अर्थ यह बाह्य पदार्थ नहीं है सो यह बात नहीं बनती। कैसे ? जैसे कि विधिवादी लोग कहते हैं कि शब्द का अर्थ तो सन्मात्र ब्रह्म है। जैसे किसीने कहा कि रोटी बनाओ ! तो इसका अर्थ विधिवादी कहता है कि सन्मात्र ब्रह्म। किसीने कहा कि इसे पीटो, तो विधिवादी अर्थ लगाते सन्मात्र, तो जैसे यह अर्थ युक्त नहीं है इसी प्रकारसे विषयमें बुद्धिमें आया हुआ विकल्प शब्दका अर्थ हुआ, यह भी युक्त नहीं है।

भावनावादके विरोधमें प्रभाकर द्वारा परिकल्पित निर्बंधका भट्ट द्वारा उत्तेजीकरण --अब भट्ट कहते हैं कि प्रभाकरने जो यह कह रखा है कि नियोग यदि शब्द भावना रूप वाक्यार्थ है, अर्थात् कोई शब्द बोला उसका अर्थ यदि शब्द भावना रूप नियोग है तब जैसे कहा कि देवदत्त पचेत अर्थात् देवदत्त रसोई पकावे तो

इस वाक्यके सम्बधमें कुछ कहा जारहा है। देखो व्याकरणमें एक नियम है कि कर्ताका अनभिधान होनेसे कर्ता और करणमें तृतीया विभक्ति होती है, यदि कर्ताका कर्तारूपसे प्रधानरूपसे नही कहा गया तो तृतीयाकी विभक्तिमें उसका प्रयोग होगा और कर्ताके अभिधानमें अनभिहितका अधिकार होनेसे तथा लिङ् प्रत्ययके द्वारा भी उक्त होनेसे तृतीया विभक्ति नही प्राप्त होती है। अब यहाँ देखिये भावनारूप शब्दार्थ माननेपर अभिधान तो भावनाका हुआ सो कर्ताको भावनाका विशेषणरूप माना है सो भावना व कर्ता दोनोंकी प्रतीति क्रमस ही सभव है सो जब भावना विदित हुआ तब कर्ताका अभिधान नही रहा, फिर तो बादमें विदित कर्तामें तृतीया विभक्ति हो जाना चाहिए। हाँ यदि भावना अर्थ न मानो तो इसमे कर्ताका तो अभिधान बन जाता है सो क्रिया में लगा हुआ लिङ् प्रत्यय भी इसकी पुष्टि करता है। तो शब्दोका वाक्यका अर्थ भावना माननेसे भावनोका अभिधान रहा कर्ताका अभिधान न रहा। इस कारण कर्ताकी तृतीयका विभक्ति होगी। और जब कर्ताका अभिधान करत तो न कहते हुएको ही कहनेके कारण और उस कर्ताकी लिङ् प्रत्ययसे ही यथावत् सिद्ध होनेके कारण तृतीया विभक्ति नही होती। इस बौद्धके इस प्रकारसे कहनेका भाव यह है कि यहाँ पुरुष प्रधान नही है, भावना प्रधान नही है। कर्ता तो एक ज्ञानमात्र है।

भट्ट द्वारा उक्त कथनका निराकरण करके भावनाको वाक्यार्थ सिद्ध किये जानेका प्रयास—भट्ट कहते हैं कि यह कहना बौद्धोंका अयुक्त है क्योंकि इसकी भावनाके विशेषण रूपसे कर्ताको कहा ही है। भावना एक धात्वर्थ है। क्रियाका अर्थ है और वह क्रिया कर्तृक हो रही है अर्थात् क्रियाको करने वाला कौन है? देवदत्त। तो जैसे 'देवदत्त पकाओ' यह वाक्य बोला तो, देवदत्त पकानेका काम करे दूसरा यह वाक्य बोला तो, दोनो वाक्योंमें कर्ता तो देवदत्त ही हैं। रसोई पकानेकी क्रियासे सहित करनेकी क्रियाका तो देवदत्त ही कर्ता है यह प्रतीत होता है। भावनाके विशेषणरूपसे कर्ता होता है और उन दोनोंकी क्रमसे पहिले कर्ताका प्रतिभास न होनेसे तृतीया प्राप्त होती है ऐसी आशकापर यह कहा जाता है कि यहाँ विशेषण और विशेष्य भावोका एक ही साथ प्रतिभास होनेमें विरोध नही है। जैसे कहा—नील कमल तो वहाँ कोई कहे कि पहिले नील जाना फिर कमल जाना या पहिले कमल जाना फिर नीला जाना सो बात नही है। उनका एक साथ प्रतिभास है, इसी कारण प्रज्ञाकरका यह वचन सगत नही है कि क्रमप्रतीति होनेसे पहिले तो भावनाका ज्ञान होता है और उस भावना के ज्ञानकी सामर्थ्यसे फिर विशेषण विशेष्य भावोंके प्रकारमें कर्ता जाना जाता है सो बात नही। कर्ता और भावना ये दोनो एक साथ प्रतिभासमें आ सकते हैं। इसलिए शब्दका अर्थ भावना है, उसमें दोष नही दिया जा सकता।

व्यापारका अभेद होनेसे, एकत्व होनेसे क्रियारूप भावनाके द्विवचनादित्वकी प्राप्तिके प्रसगकी आशका—यहां क्षणिकवादी शका करते हैं कि यदि

शब्दका अर्थ व्यापारमात्र है और वह है कर्तासे अभिन्न, कारकोंसे अभिन्न, तो चूंकि व्यापारके कर्ताओंसे व्यापारकी एकता हुई सो जब कर्ता अनेक हैं, तो उस व्यापारमे भी दो वचन और बहुवचन प्राप्त होना चाहिए। शायद यह कहो कि कारकके भेदसे अपने व्यापारमे भेद होगा, जैसे कि बोला— यज्ञदत्त और देवदत्तोके द्वारा चटाई की जा रही है। तो यहाँ कर्मकारक हो गया और कर्म है चूंकि एक अतएव क्रियामे भी एकवचन प्राप्त हुआ। तो कारकके भेदमे व्यापारमें भेद होगा, व्यापारकी एकतामे दो वचन, बहुवचन न होगा यह बात कहना बडी असमञ्जस जैसी है, क्योंकि फलरूप कर्म के एकत्व होनेसे क्रियाका एकत्व प्राप्त होता है और कर्ताकी अपेक्षासे क्रियाका द्वित्व होता है यो कर्ताके भेदसे भेद माननेपर कर्मके एकत्वसे क्रियाका एकत्व माननेपर अर्थात् कारककी प्रधानतासे क्रियाका एकत्व, अनेकत्वका प्रकार माननेपर प्रज्ञावन्त पुरुषोको अब क्या करना चाहिए ? जब क्रियाके एकत्व और अनेकत्वका प्रकार कर्ता के भेदसे माना तो अब क्या करना है ? कुछ भी नही।

व्यापारके एकत्वसे क्रियामे द्विवचनादिके प्रसङ्गकी आशंकाका समाधान—क्षणिकवादीकी उक्त आशंकापर भट्टका उत्तर है कि यह कहना भी असत्य है क्योंकि प्रत्यक्षसे ही ऐसी प्रतीतिका विरोध है। देखिये ! धात्वर्थके भेदसे एक वचनकी प्रतीति होती है। जैसे कहा — देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां आस्यते, अर्थात् देवदत्त और यज्ञदत्त हैं। इसको एक भाववाच्यमें कहा गया है। और भाववाच्यके धात्वर्थके भेदसे यहाँ एकवचन बना है। यदि कर्ताकी मुख्यता रखते हो तो कर्ताके भेदसे यहां दो वचन होता। देवदत्तयज्ञदत्तौ स्त अर्थात् देवदत्त और यज्ञदत्त हैं तो यहां भाववाच्यमे जो एकवचन कहा गया है वह धात्वर्थ नियोग नही है। नियोग तो लिङ प्रत्ययको लिए होता है अर्थात् पढो, पढना चाहिए आदिक रूपसे जो उस धातुमे लकार प्रत्यय लगा उसके भेदसे नियोगकी व्यवस्था बनती है और वह है पुरुषका व्यापार। सो वह पुरुषका व्यापार धात्वर्थसे भिन्न है, क्रियासे पृथक है और कर्ता द्वारा साध्य है। यद्यपि क्रिया उसमें भी लीन है, मगर उस क्रियाका Mood क्या है और किस तरहसे उसका नियोजन किया गया है। यह तो भिन्न है और कर्तृसाध्य है, क्योंकि कर्ताके भेदसे प्रत्यार्थका भेद हो जाता है, इसी कारणकी चूंकि वह कर्तासाध्य से जाना गया है तो उस वाच्यमें द्विवचन हो जाता है। इसमें कोई असमीचीनता नही है। जैसे कहा—देवदत्तयज्ञदत्तौ कटकुरुत:, तो यो कर्ताके भेदसे भेद बना, परन्तु धात्वर्थ तो शुद्ध होता है, वह कारकके भेदसे भेदको प्राप्त ही होता। जो धातुमें मूल अर्थ है उसमें भेद नहीं होता। कर्ताके भेदसे उसमे दो वचन और बहुवचन एक वचन का अन्तर पडता है। इस कारण यह कहना कि व्यापारकी एकता होनेसे द्विवचन प्राप्त होना चाहिए, यह बात सगत नही है।

कर्तृसम्बन्धसे, कारकभेदसे प्रत्ययभेद माननेपर धात्वर्थमे प्रत्ययभेदके

प्रसगकी आशंका—अब यहाँ क्षणिकवादी योगाचार प्रश्न करते हैं कि यदि कर्ताके सम्बन्धसे प्रत्ययरूप नियोगमें भेद होता है अर्थात् कर्ताके सम्बन्धसे अथवा कारकके भेद से यदि प्रत्यय भेद हो जाता है तो यह प्रत्यय भेद धात्वर्थके भी हो जाय अर्थात् जैसे देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां आस्यते देवदत्त यज्ञदत्त है, इनमें अस् धातुके अर्थमें सत्ता बतायी गई है तो इस सत्तामें भी भेद हो जाय अर्थात् धातुका जो अस्तित्वरूप अर्थ है उसमें भी भेद हो जाय, क्योंकि धात्वर्थ भी पुरुषके द्वारा निष्पाद्य है इस हेतुसे कारकके भेद से धात्वर्थमें भी भेद हो जाय। जब कर्ता दो हैं या कर्ता कर्म कारकका प्रयोग है तो फिर धातुमें भी भेद हो जाना चाहिए किन्तु हम योगाचारोंके यहाँ भेदाभेदकी व्यवस्था विवक्षाके आधीन मानते हैं अर्थात् भेद और अभेद ये काल्पनिक हैं और तभी लकारके द्वारा कहा जानेसे कारकका प्रत्ययरूप नियोगका भेद अथवा अभेद बन जाता है। एक वचन आदिकका भी रचना बन जाता है, क्योंकि भेद और अभेदकी व्यवस्था कल्पना से उत्पन्न हुई है और लकारोंका प्रयोग, कारकोंका प्रयोग ये सब कल्पना जन्य है। तब बात यों बन जाती है कि कर्ता और कर्मके वाच्य भेदमें क्रिया भेद विवक्षित हो जाता है। वह क्रिया जब लकार प्रयोगसे कही जाती है उस समय कर्मवाच्य कर्तामें तृतीया विभक्ति होती है तथा कर्मके अनुसार उसका वचन होता है और जब उस लकार प्रयोगसे कर्ता कहा जाता है, कर्ताकी प्रधानता होती है तो प्रथमार्थक होनेसे प्रथमा विभक्ति होती है, साथ ही कर्ताके अनुसार वचन होता है। तात्पर्य यह है कि कर्तृवाच्यके प्रयोगमें कर्ताकी प्रधानता है, वहाँ क्रिया कर्ताके अनुसार वचनका अनुसरण करेगी, किन्तु कर्मवाच्यमें कर्मप्रधान है कर्ताका अभिधान नहीं है इस कारण वहाँ कर्तामें तृतीया विभक्ति लगेगी और कर्मके वचनके अनुसार क्रियाका वचन लगेगा। जैसे कि प्रयोग किया—महात्माके द्वारा किया जाता है यह है कर्मवाच्यका प्रयोग और कहना कि महात्मा करता है यह है कर्तृवाच्यका प्रयोग। सो कर्म वाच्यमें कार्यकी मुख्यता हुई और कर्तृवाच्यमें कर्ताकी मुख्यता रही।

भेद अभेदकी प्रतीतिसिद्धता होनेसे उक्त आशकाका अनवसर—उक्त चर्चापर भट्ट उत्तर देते हैं कि यह कहना भी पक्षपात मात्र है, क्योंकि सौगतके द्वारा माना गया भेद अभेद वस्तुतः प्रतीतिसिद्ध है, काल्पनिक नहीं, किन्तु वस्तुमें उस प्रकार से पाये जाते हैं। यदि भेद और अभेद वस्तुरूप न हो तो उसकी विवक्षा भी नहीं बन सकती। तो जब प्रतीतिसिद्ध है भेद और अभेद और उनकी विवक्षा बनती है तो व्यवहार भी पारमार्थिक सिद्ध हो जाता है। तब इस प्रकार जब कि क्रियाका अर्थ कर्तृ निबन्धनक बना जैसे देवदत्त चटाई को करता है तो यहाँ करोत्यर्थ करनेका अर्थ देवदत्त कर्तृक है, तब यह कहना बिलकुल सगत हो जाता है कि शब्द व्यापाररूप तो शब्द भावना है और पुरुष व्यापाररूप अर्थ भावना है। अब यहाँपर कर्ताका व्यापार लिङ्से जान लिया जाता है। प्रथम पुरुष मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुषकी क्रियामें जो प्रत्यय लगाया जाता है वह लिङ् प्रत्यय कहलाता है। तो लिङ्के द्वारा जाना गया

कर्तृव्यापार ही अर्थ भावना कहलाता है। शब्दभावनासे अर्थ भावना बनती है। इस प्रकार कर्ताका व्यापार भावना रूप है। नव क्रियावाचक जो शब्द है वहाँ अर्थभाव ही है। जो कुछ भी क्रिया बोली गई उस क्रियाका शुद्ध अर्थ तो भाव है। भावनामे भू धातुको णिजत करके घञ् प्रत्यय किया गया है। भवन भाव. । होनेका नाम तो भवन है और भावन भावना हुआनेका नाम है भावना। और, इस प्रकार भावनाकी व्युत्पत्ति होनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि यह कर्तृ व्यापार भावना है। सो यह भावना रूप कर्तृव्यापार वेदवाक्यसे प्रेरित होता हुआ अपने व्यापारमे लगाता है, अर्थात् शब्द व्यापारसे पुरुषमे व्यापार होता है और उस प्रकार फिर प्रवृत्ति होती है, तो यो शब्द प्रवर्तक कहलाता है अब वहाँ जो नियोग्य है वह तो अर्थ भावनाका विशेषण है अतएव अप्रधान है, इस कारण शब्द भावना वाक्यार्थ नही किन्तु अर्थभावना वाक्यार्थ है। शब्द भावनाका तो प्रयोजन अर्थभावना है। प्रधानता अर्थभावनाकी है। और, भावनाका नियोगसे सहितपना होनेसे अर्थात् यह करे इस प्रकार नियोग विशिष्टता होनेसे नियोगमें लगे इस प्रकारके प्रतिपादन होनेपर वह पुरुष नियमसे प्रवृत्ति करता है, क्योकि विशेषण और विशेष्यका परस्परका सम्बन्ध है यदि शब्दके द्वारा प्रेर्यमाण होकर भी पुरुष यदि प्रवृत्ति न करे तो फिर यह कर्ता अपने व्यापारको प्रतीतिमें लेता हुआ ही क्या प्रवर्तता है? अर्थात् शब्द सुनकर कर्ता अपने आपमे यह प्रतीति रख रहा है कि मैं इस शब्दके द्वारा इस कार्यमे नियुक्त हुआ हूँ और ऐसा विश्वास रखता हुआ प्रवृत्ति करता है। यदि अपने व्यापारकी प्रतीति उसे न हो तो कितना ही प्रेरित किया जाय, यह पुरुष अपने व्यापारमें ही नही लग सकता है, न प्रेरित हो सकता है।

फलज्ञान व फलापरिज्ञानके विकल्पोमे धात्वर्थबषोधसे ज्ञान, प्राप्ति व प्रयत्नकी असफलताका आक्षेप और उसका समाधान—अब यहाँ क्षणिकवादी पुन शका करते हैं कि वहाँ जो वह प्रत्यय यह मान रहा है कि यह मेरा व्यापार है, मैं इसमें नियुक्त हुआ हूँ, सो क्या फलके ज्ञानके बिना ही वह मान रहा है या फलका परिचय अनुभव करता हुआ वह मान रहा है? यदि फलके परिज्ञानके बिना वह मान रहा है तब फिर पदार्थका जानना पदार्थकी प्राप्ति होना यह कैसे सफल हो सकता है? और यदि फलका अनुभव करता हुआ मान रहा है कि यह मेरा व्यापार है, इसमे मैं नियुक्त हुआ हूँ तो भी पदार्थका ज्ञान और प्राप्ति प्रयत्न सफल नही हो सकते, कारण यह है कि जब फलका अनुभव हो ही रहा तो वहाँ नियोगका अहंकार बन ही नहीं सकता। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि यह भी कहना बिना विचारे ही हुआ है। जैसे कोई वाक्य बोला—अग्निस्टोमसे स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे, ऐसा कोई वेदवाक्य बोला गया तो उस वाक्यकी सामर्थ्यसे ही पुरुषके द्वारा वाक्यके उच्चारणके समयमें मेरा यह व्यापार है, मुझे यह करना है, मुझे इस कार्यमे नियुक्त किया गया है, यह प्रतीति किया जाना शक्य ही है।

फलके अदर्शनमे कर्तव्यनिश्चयकी असभवताके आक्षेप एव समाधान— सौगत पुन शका करते हैं कि फलको न देखता हुआ कोई पुरुष मेरा यह कर्तव्य है इस प्रकारका विश्वास कैसे कर सकता है ? भट्ट उत्तरमे कहते हैं कि फिर फलको न देखता हुआ कोई पुरुष प्रत्यक्षसे कैसे विश्वास कर सकता है ? सौगत कहते हैं कि जैसे जल जाना प्रत्यक्षसे तो यहाँ यह स्नान किया जानेके योग्य है पीनेके योग्य है, इस प्रकार फलकी योग्यताकी प्रतीति भी प्रत्यक्षसे हो जाती है। तो भट्ट कहता है कि इस तरह वाक्यके बोलनेसे ही फलकी योग्यताकी प्रतीति बन जाती है, यज्ञ करो ऐसे सुनकर स्वर्ग फलकी भी प्रतीति हो जाती है और फल योग्यताकी प्रतीति होनेसे ही कर्तव्य का विश्वास हो जाता है। सौगत कहता है कि यज्ञ करनेका फल तो स्वर्गादिक है और वह है अतीन्द्रिय, इन्द्रियगम्य नही है स्वर्ग, फिर स्वर्ग कर्ताके द्वारा अपने व्यापारकी योग्यता कैसे प्रतीत हो जायगी? क्योंकि स्वर्गादिक फल तो इन्द्रियगम्य हैं नही, उसको तो जान नही सकते। और फलका जाने बिना अपने व्यापारमे कैसे प्रतीति करे कि हाँ मुझे यह करना चाहिए और इस शब्दसे मैं इस कार्यमें नियुक्त हुआ हूँ। तो भट्ट पूछते हैं कि फिर प्रत्यक्षके विषयकी भी योग्यता कैसे विश्वासमें ला ली जाती है? सौगत कहते हैं कि जानने वालेके अभ्यासकी सामर्थ्यसे प्रत्यक्षके विषयमे जैसे कि प्रत्यक्ष से जलको देखा तो जलके बारेमे फल योग्यताका निश्चय हो जाता है कि इस जलके ज्ञानका फल मेरा यह होगा कि मैं नहा लूँगा अथवा पी लूँगा। तो यह सब अभ्यास सामर्थ्यसे प्रत्यक्षके विषयभूत जलमे फल योग्यताका निश्चय बन जाता है। तो भट्ट कहते हैं कि फिर शान्ति पुष्टिके आचरणके फलके अभ्याससे ही यज्ञकर्ताको अपने व्यापारमें फल योग्यताका निश्चय हो जायगा, क्योंकि तुम्हारे कथनमें और हमारे इस कथन मे समानता आ रही है, कोई विशेषताकी बात नही है।

शंकाकार द्वारा यज्यादयर्थके अतिरिक्त अन्य कुछ भावनाकी वाक्यर्थता के निराकरणका कथन यहाँ प्रज्ञाकर शंका करता है कि यजते पचति आदिक क्रिया प्रयोगमे भावना प्रतीति नही होती। यज्य आदिक अर्थके सिवाय अन्य किसी कल्पित भावनाको वाक्यार्थता ही कहाँसे होगी ? देखिये ! जब यह प्रयोग किया कि यह पाकको करता है और यागको करता है और तो बतलावो पाकमें और यज्ञ करनेमें भेद है कि नही ? यदि भेद है तो भेद मानने पर अनवस्था दोष होगा जिससे अप्रसक्तता हो जायगी। कैसे ? तो देखो ! यागको करता है, अपने व्यापारको बनाता है। पाकको निष्पत्ति रचता है। ये जो शब्द हैं सो प्रकृति प्रत्ययके भेदसे भेद कल्पना पूर्वक हैं अतः इन व्यपदेशोंसे पदार्थ तत्त्वकी व्यवस्था नही बनती, अर्थात् भावनाकी व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि यह यज्ञका करता है इसमे भावना नामक पदार्थकी व्यवस्था बनायी तो अपने व्यापारको रचता है, ऐसा कहनेमें अन्य भावनाकी व्यवस्था बनेगी तात्पर्य यह है कि यदि कोई कहे कि यजते और कोई कहे—याग करोति तो इस भेद-व्यवहारके होनेपर भी भावना नामक अभिधेय तत्त्वकी भेदमे कैसे अनवस्था न होगी?

तो बात यह है कि यहाँ तो क्रियाभेद भी यदि कर गया तो इन व्यपदेशोंसे भावना नामक पदार्थ तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बनती। देखो! कहीं-कहीं भेदके बिना भी भेद-व्यवहार बन जाता है। जैसे कहा कि केतुका शरीर है तो केतु और शरीर भिन्न तो नहीं हैं लेकिन भेदव्यवहार बन गया। और भी समझिये! जैसे द्विजके व्यापारको याग कहते हैं तो यहाँ उस द्विजके व्यापारसे याने यागसे भिन्न कोई करोति याने क्रिया नहीं है और जब पुरुषके विशेषणसे अतिरिक्त कोई क्रिया न रही तो फिर धात्वर्थसे भावनारूप वाक्यार्थ बनाना यह नहीं बनता। जैसे देवदत्तकी क्रिया देवदत्तके समानाधिकरणमें है सो वह देवदत्तके भवनरूपसे ही जानी जायगी। यों ही देवदत्तका व्यापार (याग) देवदत्तके समानाधिकरणमें है तो देवदत्तके भावनरूपसे जाना जायगा। फिर धात्वर्थ भावना वाक्यार्थ आदिक कुछ भी भिन्न चीज नहीं।

यजते पचति आदिमें भावनाकी ध्वनि और अनवस्थाके परिहारका भट्ट द्वारा समाधान—क्षणिकवादियोंकी उक्त शंकापर भट्ट समाधान करते हैं कि परीक्षा करनेपर यह शंका असमीचीन हो जाती है। यजते पचति इन क्रियाओंमें भावनाकी प्रतीति होती है। यज्य अर्थसे अधिक वाक्यार्थता है उनमें यह बराबर युक्तिसंगत है। पाक करोति, याग करोति जैसे इनमें भेद अवभासित है, रसोई करना और यज्ञ करना इनमें जैसे भेद प्रसिद्ध है तो व [illegible] अनवस्था दोष नहीं आता। और, देखिये! यजते पाक करोति इस वाक्यमें, जैसे कुछ अर्थकी प्रतिपत्ति हो जाती है उसी तरह अपने व्यापारको करता है स्वव्यापारं निष्पादयति, ऐसा कहनेमें भी बराबर प्रतिपत्ति हो जाती है। स्वव्यापार शब्दके द्वारा यागका ही अभिधान (कहना) होता है। और निष्पादयति इस शब्दके द्वारा-धात्वर्थकी करनेकी बात प्रतीत होती है सो याग करोति स्वव्यापारं निष्पादयति इसमें कोई अर्थभेद नहीं है। चाहे यह कह लो कि यज्ञको करता है इसमें लक्ष्य एक ही रहा। यज्ञकी निष्पत्तिको रचता है, इसमें भी यज्ञकी जो निष्पत्ति है रचना और करना बात एक ही तो है। तो जब कोई इस तरह बोलता है कि यज्ञकी निष्पत्तिको रचता है तो इसमें यही तो प्रतीत हुआ कि यज्ञको करता है। तो जब इसमें एकार्थपना है तो ये व्यपदेश अर्थके बिना यथा कथञ्चित् भेद कल्पना पूर्वक हुए हों यह बात नहीं सिद्ध होती, क्योंकि प्रतीयमान जो करनेका अर्थ है वह इन वाक्योंका विषय है। जैसे कोई ऐसा कहे कि यज्ञ करता है, कोई कहे कि यज्ञ रचता है—याग करोति, याग विदधाति, तो जैसे इन व्यपदेशोंमें अर्थभेद नहीं है, विषय एक ही है, तो इसी तरह यदि कोई यों कहता है—यजते अथवा कहता है— याग निर्वर्ति निर्वर्तयति, तो इसमें भेद न रहा। इससे यह बात युक्त है कि कोई याग करोति, यह वचन बोले अथवा याग निवर्तयति यह कहे, तो इन व्यपदेशोंसे पदार्थतत्त्वकी व्यवस्था होना भावना अर्थकी सिद्धि होना बिल्कुल युक्त है। इसमें अनवस्था दोष नहीं आता, क्योंकि ये सभी व्यपदेश, ये सभी वाक्य एक करोति क्रियारूप अर्थभावनाको ही बताते हैं। सो जहाँ अर्थभेद नहीं है वहाँ

अनवस्थाका कोई प्रसग नहीं और जहां अर्थभेद है वहां भी अनवस्थाका क्या प्रसंग?

यजते याग करोति आदि पर्यायिशब्दोंके कथनमे अनवस्था दोषका आक्षेप प्रत्याक्षेप—अब यहां प्रज्ञाकर कहते हैं कि यजते याग करोति, यागक्रियां करोति, इस तरह पर्यायवाचिताकी विधिस बोलते तो इसके आगे भी इसीका समर्थक वाक्य बोलते जाइये सो यों ही तो अनवस्था होती है अर्थात् इसको भी और दुबारा कहनेके लिए अन्य शब्द बोले। जब एकबार बाल चुके और फिर बादमें ही उस ही बातको अन्य अन्य शब्दोमे बोलनेकी प्रक्रिया रखते हो तो फिर अन्य-अन्य बोलनेसे कहीं विराम हो ही न सकेगा। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि यदि किसी वाक्यको स्पष्ट करनेके लिए दूसरा वाक्य बोला और इस तरह बोलनेसे बोलते रहनेको अनवस्था बताते हो तो जब यह कहा कि स्वरूप सवेदयते, स्वरूपको जानता है और इसके बाद कह दिया स्वरूप सम्वेदनं सम्वेदयते, स्वरूप सम्वेदनको वेदता है तो यहा भी तो अनवस्था दोष हो जायगा। जब एक बातको दूसरे शब्दोमें कहा तो अब तीसरे ढङ्गमें कहो, तीसरे ढङ्गमें कहनेपर चौथे ढङ्गमें कहो। तो जैसे यज्ञ करनेके व्यपदेशमें यों दुबारा स्पष्ट करनेमें अनवस्था दोष वताते हो तो यों तुम्हारे यहां भी अनवस्था दोष होगा। ज्ञानाद्वैतवादी ज्ञानसम्वेदन मानता है। तत्त्व केवल ज्ञानमात्र है। तो उस तत्त्वको दिखानेके लिए वाक्य बोला—स्वरूप सम्वेदयते इस हीको और स्पष्ट करके कहा जाय—स्वरूप सम्वेदनं सम्वेदते। तो ऐसी स्पष्टीकरणमें यहां भी अनवस्था दोष हो जायगा।

प्रतिपाद्यके अवगमके प्रयोजनके अनुसार शब्दव्यवहारका प्रयोग—अब ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार पुनः कहते हैं कि बात यहाँ यह है कि जब कहा स्वरूपं वेदयते तो इतने मात्रसे ही स्वरूप सम्वेदनका ज्ञान हो गया। अब स्वरूपसम्वेदनं सम्वेदयते इस प्रकारका वाक्य बोलना निरर्थक है इसलिए अयुक्त है अर्थात् जो बात पहिले कहा है उस हीको तो दूसरे वाक्यमें कहा गया है। कोई व्यवच्छेद्य बात तो न रही अर्थात् जो एक बार बोला, उसमें कोई दोष हो, उसमें कोई दोष परिहार करने की आवश्यकता हो तब तो अन्य-अन्य बोलनेकी सार्थकता है। जब स्वरूप सम्वेदन रूप अर्थका पहिले वाक्यसे ही बोध हो गया, अब उसके लिए दूसरा कुछ विस्तृत शब्द बोलना यह निरर्थक होनेसे अयुक्त है। फिर उसमें अनवस्था दोष ही कैसे लगेगा? कुछ लगाव माने और कुछ लगावका नियम बनाये तो भले ही कोई दोष दिया जा सकता। इसपर भट्ट कहते हैं—तब फिर एक वाक्य बोला गया याग करोति अर्थात् यज्ञको करता है। अब इतने ही शब्दमात्रसे ज्ञान हो गया कि यज्ञ सहित क्रियाकी बात इसमें नियोजित की है। जब यज्ञयुक्त क्रियाकी प्रतीति हो गई फिर याग करोति आदिक वचन कहना भी अनर्थकमें शामिल कर लिया जाय क्योंकि वहां भी व्यवच्छेद्य कुछ न रहा याने ऐसा प्रसग नहीं है कि कोई दोष था जिसको हटानेके लिए नया

वाक्य बोलना पडा, वहाँ कोई दोष न था। इसपर यदि कहो कि यजते इतने ही मात्र से यागनिष्ठ क्रियाकी प्रतीति हो गई फिर याग करोति, यह वचन भी अनर्थक होगया याने प्रथम प्रयोग किया यजते, द्वितीय प्रयोग किया यागनिष्पत्ति निवर्तयति, अब यहाँ तीसरी बारका प्रयोग अनर्थक बताया जा रहा है, क्योंकि द्वितीय प्रयोगसे ही यागनिष्ठ क्रियाकी प्रतीति हो गई तो सुनिये ! यो प्रथम प्रयोगसे ही यागनिष्ठ क्रियाकी प्रतीति होगयी तब द्वितीय वाक्य बोलना भी अनर्थक मान लीजिए ! इसपर भट्ट कहते हैं कि तुम्हारी बात सत्य है। यदि प्रथम वचनके प्रयोगसे ही अर्थात् पहिली बार जो नियोजनके लिए वाक्य बोला गया है उस वाक्यसे ही यदि श्रोता सब कुछ जान जाता है तो द्वितीय वाक्य बोलना भी अनर्थक है और यह युक्त है कि अन्य शब्द न बोलना चाहिए, लेकिन जो शिष्य उस प्रथम वचनसे नही समझ सकता उसके लिए द्वितीय वचन अर्थात् दूसरी बार उसका खुलासा करना अनर्थक नही है, क्योंकि दूसरी बार जो वाक्य बोला गया वह उसके विशेषणरूपसे बन गया अर्थात् प्रथम बार बोले गये वाक्यमें जो कुछ समझना चाहता था उस हीको समझानेके लिए उससे कुछ सरलरूपसे वाक्य बोला जाता है। तो यो विशेषण विशेष्यके भेदकथनकी पद्धतिसे उस शिष्यको जो प्रथम वाक्यसे न समझ सका उस ही अर्थको समझानेके लिए द्वितीय वाक्य बोलना अनर्थक नही है।

कथञ्चित् भेद माने बिना भेदव्यवहारकी अशक्यता होनेसे करोत्यर्थ व यज्यार्थमे भेदकी सिद्धि—और भी देखिये ! भेद व्यवहार तो कथंचित् भेद माने बिना प्रवृत्त नही होता। यदि भेद व्यवहारके प्रसगको सर्वथा भेदसे मान लिया जाय तो वहाँ भेद व्यवहार भी नही बन सकता। जैसे कहा ? केतुका शरीर, राहुका सिर, हेतुको केवल धड मात्र माना गया है रूढिमे और राहुको केवल सिर मात्र गया है। अब उस विषयमे जो लौकिकजन कहते हैं कि हेतुका शरीर तो एक भेद बोल दिया ना केतु और उसका शरीर लेकिन शरीरके बिना केतु क्या है ? शरीर क्या है वही केतु है अथवा शरीर और केतुको बिल्कुल भिन्न मान लेवे तो भी केतुका शरीर, यह व्यवहार नही बन सकता। तो यह भेद व्यवहार भी कथचित् भेद माने बिना प्रवृत्त नही होता है। कथचित् भेदके बिना भी यदि भेद व्यवहार प्रवृत्त होने लगे तो भेद व्यवहारों में गौणताका प्रसग हो जायगा। वे औपचरिक कहलाने लगेंगे। वे औपचारिक हीं हो यह तो युक्त है नही, क्योंकि पदार्थोंमें जो कि भेदरूपसे हैं वे बराबर तात्त्विक भेद वाले हैं ऐसा लोग समझते हैं। अथवा केतुको शरीर ऐसा कहनेके प्रसगमे केवल इतना ही कहा जाता है, शरीर, इस राहु और केतुके प्रसगमे केवल इतना हीं कहा जाय शरीर तो वहाँ यह सन्देह होता ना कि किसका शरीर ? केतुका या राहुका। अथवा जब जब कहा केतुका, राहुका, तो ऐसा कहनेपर सन्देह हुआ कि केतुका और राहुका, क्या, तब यह वाक्य बोलना सार्थक हो जायगा कि केतुका तो शरीर और राहुका सिर, तो इन दो प्रसगोमें जो सन्देह बना उस सन्देहको दूर करनेके लिए शरीर और सिर, इस

प्रकारका कथन करना अन्य कार्यपनेका व्यवच्छेद सिद्ध हो जाता है। अन्य योगव्यवच्छेद होनेपर सन्देह भी नष्ट हो जाता है। जैसे कहा—राहुका, केतुका, अब क्या उनका शरीर या सिर ? तो यों अन्य चीजका भी सम्बन्ध जोड़नेका जहां प्रसङ्ग आता है वहां यदि यथार्थ बात कह दी जाती है तो इसमें हुआ क्या ? अन्यके योगका व्यवच्छेद हुआ। केतुका शरीर न कि सिर। साधारण कथनमें सिरको योग हो सकता था समझमें, उसका विनाश किया तो सन्देह भी नष्ट हो गया। यदि कोई इतना ही कहता कि शरीर अथवा सिर ? तो इतना कहनेपर यह तो संशय हो जाता है कि किसका है शरीर और किसका है सिर ? उस संशयको दूर करनेके लिए यह शब्द कहना सही है केतुका और राहुका। याने केतुका शरीर और राहुका सिर। अब देखिये ! उन दोनो कथनोंमें कथंचित भेद आया कि नहीं ? आया। अवस्था और अवस्थावानमें कथंचित् भेद बन गया। जैसे कोई यही कहे कि इस पुरुषका शरीर तो शरीर और वह पुरुष कहीं जुदे-जुदे नही बैठे हैं। लेकिन शरीर और शरीरवान इस प्रकारके व्यपदेशसे उनमें कथंचित भेद बन गया। तो अवस्थाकी अपेक्षा जब कथंचित भेद बन गया तो भेदव्यवहार बोलाना युक्तिसगत बन गया। शरीर केतुकी अवस्था है और वह अवस्था अनेक अवयवोंके, शरीरमें परमाणुवोंके प्रचय रूप है अर्थात् शरीरमें अनेक स्कंध उपचित हो गए हैं वह तो है एक शरीररूप अवस्था, जो अवस्था अन्य अवस्थासे पृथक् जचाती है। उस शरीर अन्यसे अवस्था क्या हुई ? केवल सिर मात्र। तो ऐसा कहना कि केतुका तो शरीर और राहुका सिर, इस कथनसे संशय दूर किया गया है कि केतुके केवल शरीर शरीर है, पर सिर नहीं है। अवस्थान्तरका निषेध करनेके लिए अवस्थाका प्रयोग केतुके लिए जो किया गया है वह सप्रयोजन संशयको मिटानेके लिए है, और ऐसा भेदव्यवहार कथंचित् भिन्न माने बिना नहीं हो सका है। देखो यह केतु तो है अवस्थावान और शरीर है अवस्था और राहु है अवस्थावान और सिर है अवस्था तो हेतु सिर रहित अवस्थान्तर है यह ज्ञान हुआ और, राहु केवल सिरकी अवस्थामें है ज्ञान बना। तो इस कारण कथंचित् भेदव्यवहार बिना भेदव्यवहार भी नहीं बनता। ऐसे ही यजते कहकर याग करोति कहा गया है सो भिन्न रूपसे कहनेका जो अर्थ है वह किसी किसी दृष्टिमें किसी अपेक्षाको लेकर है।

अवस्था और अवस्थातामें वास्तविकता—यहाँ बौद्ध कहते हैं कि अवस्थाता मानना तो काल्पनिक है, याने अवस्थाओंमें, पर्यायोंमें रहने वाला कोई एक है इस प्रकारका अवस्थाता मानना केवल काल्पनिक बात है, क्योंकि अवस्थाको छोड़कर अन्य और कुछ उपलब्ध ही नहीं होता। जैसे रागद्वेष कषाय ज्ञान कुछ भी अन्य लो, बस इतना ही मात्र पदार्थ है। उन अवस्थाओंसे निराला कोई एक शाश्वत आत्मा जीव हो, ऐसा कोई भी पदार्थ प्रतीत होता हो सो बात नहीं, इस कारण अवस्थाता काल्पनिक है। इसके उत्तरमें कहा जा रहा है कि यह शंका करना ठीक नहीं है। अर्थात् जो अवस्था है इतना ही मात्र तत्त्व है, पदार्थ है, और अवस्थासे भिन्न कोई अवस्थाता नहीं है,

अवस्थाता केवल काल्पनिक है ऐसा कहना समीचीन नही है, अवस्थाताको काल्पनिक माननेपर अवस्था और अवस्थावान दोनोका ही असत्त्व हो जायगा। यद्यपि अवस्थासे भिन्न कोई अवस्थाता ही नही याने सर्वथा भिन्न नही, किन्तु समझमें कुछ लक्षणोसे जो भेद ज्ञात होता है उस तरहसे अगर अवस्था नही मानते तो न अवस्थाता रहेगा न अवस्थावान रहेगा, क्योकि अवस्थाको काल्पनिक माननेपर अवस्थामें भी सत्त्व नहीं बन सकता और अवस्थामें भी पारमार्थिक नही हो सकता है। जैसे अवस्था काल्पनिक है, असत् है उसी प्रकार अवस्थाता भी काल्पनिक और असत् बन जायगी। तब जैसे कोई कहे कि आकाशके फूलकी सुगध। न सुगध है, न आकाशका फूल है, इसी तरह अब न अवस्था रहेगी न अवस्थान रहेगा, फिर तो शून्य कहलायेगा। तो इसी तरह यहाँ यह निश्चय लेना चाहिए कि व्यवहार कथचित् भेदके बिना घटित नहीं हो सकता। केतुका शरीर, राहुका सिर जो जो भी व्यवहार किये जाते हैं वे कथचित् भेद के बिना नही बन सकते। अवस्था और अवस्थावानका भेद करना ही पड़ेगा। तो इस भावना अर्थ वाले वाक्यार्थके सम्बन्धमें पुरुषरूप अर्थ और यज्ञ करनेरूप अर्थ, इनमें यदि व्यपदेश किया जा रहा है याने एक तो यो कहना कि अपने व्यापारको रचना है और एक यों कहना कि यज्ञ करता है अथ दोनोमें एक है। लेकिन ऐसा जो भेदव्यवहार बना वह उस ही एक बातमे कथचित भेद डालनेसे बनाया गया है। तब यह मान लेना चाहिए कि यज्ञ करने रूप पदार्थ आत्मा स्वरूपके आश्रयरूप ही है। जब ऐसा वाक्य बोला जाय कि यज्ञको करता है तो उसमें वस्तुस्वभावका आश्रय ही बताया गया। भावनारूप जो वस्तु है वह स्वभावका आश्रयरूप है, अर्थशून्य नही है, ऐसी ही वास्तविक प्रतीति होती है। जैसे कहा गया कि सम्विद् अनुभवति, तो इसमे, भी जैसे क्षणिकवादी मानते हैं कि इसमे ज्ञानाद्वैत तत्त्वको ही कहा गया, क्योकि ज्ञानका अनुभवन उस ज्ञानस्वभावके आश्रय ही है। तो इसी प्रकारसे वह जो ब्राह्मण का व्यापार हुआ है वही यज्ञ करना कहलाता है। चाहे यज्ञ करना कहो और चाहे आत्मव्यापार कहो और चाहे केवल एक ब्रह्मस्वरूप कहो, वस्तुस्वरूप बन गया।

करोत्यर्थसामान्यसे यज्याद्यर्थविशेषकी अर्थान्तरभूतता—इस सम्बन्धमें और भी देखिये! विप्रका व्यापार यज्ञ है, इस तरह कहा गया तो उससे भिन्न निर्बाध कोई करोति क्रिया मान ही ली हो। यदि क्रिया भी द्विजरूप है, द्रव्यका अभेद होनेसे, कोई भिन्न न माना जाय फिर देवदत्तपनेसे गतिका भी समानाधिकरण होनेसे अर्थात् अभेद होनेसे वहां भी कुछ भिन्नता न मानी जायगी। देखिये! वह ब्राह्मण व्यापार करे, न करे, ऐसा दोनो अवस्थाओमे रह सकने वाला वह यह ही है ऐसा एकत्वका बोध होता है ना, तो एकत्व प्रत्यभिज्ञानके कारण परमार्थसे वह कोई एक देवदत्त है ऐसा निश्चित हो जाता है और यहाँ यज्ञमें विप्रका व्यापाररूप पहिले न था और अब हुआ और फिर न रहा, मिट गया तो ऐसे अनित्यपनेको स्वीकारता हुआ भेदज्ञानका विषयभूत इयोपाङ्ग द्विजसे भाग है अर्थात् वह ब्राह्मण तो है नित्य, मायने चिरकाल

तक रहने वाला और यज्ञका व्यापार है अनित्य, पहिले न था, अब है, यों व्यापारमें और द्विजमें कथंचित् भेद बन हो गया, क्योंकि द्विजमें नित्यता है, व्यापारमें अनित्यता है यों कथंचित् विरुद्ध धर्मका अध्यास है। व्यापार उत्पत्ति व नाश वाला है और द्विज वही का वही है। तो जैसे द्विजसे यज्ञ करनेरूप क्रिया भिन्न है उसी प्रकार यज्ञ और पचनके व्यापारमें रहने वाली क्रिया सामान्य जो कि कुछ करनेरूप करोति क्रिया के अर्थका सद्भाव होनेसे सब धातुओंमें अनुगत ज्ञानद्वारा वेद्य है वह करोति अर्थसामान्यसे विपरीत यजनात्मक यागसे भिन्न है तो वह बिलकुल भी निराकरणीय नहीं है। उक्त विवरणसे यह स्पष्ट हुआ कि करोति अर्थसे विपरीत जो यजन अर्थ है उससे करोति नामक क्रिया भिन्न ही है, अतएव अवस्थाभेद निराकरण किया जानेके योग्य नहीं है, क्योंकि यजते अथवा याग करोति, इसमें देवदत्तके साथ दोनों ही क्रियावोंका समानाधिकरणरूपसे बोध होता है तथा यह अवस्था अवस्थावानके भेदसे पहिचाना ही जाता है। जो यज्ञ और श्रुति वाक्योंको मानते हैं, ऐसे मीमांसकोंके प्रति क्षणिकवादी बौद्ध कह रहे हैं कि धातुओंके अर्थ एक हुआ करते हैं। जो पच धातुसे जाना गया वही यज् धातुसे जाना गया। व्यवहारमें पच धातुका अर्थ है पकाना और यजका अर्थ है पूजना, लेकिन चूंकि धातु–धातु सब एक हैं इसलिए अर्थ भी एक है और जब एक हो तब समानाधिकरण बन सकता है। समानाधिकरणका अर्थ यह है कि जैसे देवदत्तने काम किया, रसोई बनाया और देवदत्तने खाया तो बनानेका और खानेका आधार एक है देवदत्त। इसी तरह जब सभी धातुवोंका अर्थ एक हो जायगा-जैसे,—खाना है, पकाना है, पढ़ना है, पूजना है आदि धातु धातु तो एक समान हैं। जब धातुवोंमें एकता हो जायगी तब जाकर समानाधिकरण बन सकता और यज्ञका फल मिल सकता। इसने यज्ञ किया और यह फल पायगा, यह बात तब बन सकती जब सब क्रियाओंको एक मान लिया जाय। तो यों बौद्ध कह रहे हैं कि एक माना जाना हो चाहिए। तो यहाँ मीमांसक भट्ट कहते हैं कि क्रियामें यदि सब प्रकारसे एकपना हो जायगा तो समानाधिकरण नहीं बन सकता। जैसे कपड़ा और सफेद। कहा सफेद कपड़ा, तो सफेद कुछ और बात है, कपड़ा कुछ और बात है, तब उनका एक आधार बन जाता है। कपड़ा सफेद है, एक ही वस्तुमें कपड़ापन और सफेदीपन दोनों रह जाते हैं। अब मान रहे हो तुम सर्वथा एक तो सर्वथा जो एक है, जैसे कपड़ा और कपड़ेका स्वरूप, ये तो सर्वथा अभिन्न हैं, उनका समानाधिकरण क्या ? किन्तु सफेद और कपड़ामें समानाधिकरण है, क्योंकि सफेद और कपड़ा, इनमें कथंचित् भेद है। सफेद और कुछ भी हुआ करता है, कपड़ा ही मात्र तो नहीं होता सफेद। तथा कपड़ा और और रंगके भी होते हैं। कपड़ा सफेद ही तो नहीं होते। तो सफेद और कपड़ा इन दोनोंमें भेद है तभी समानाधिकरण बनता और बौद्ध जन कहते हैं कि सर्वथा एक हो तो समानाधिकरण बनता है। तो कपड़ा और कपड़ेका स्वरूप ये तो सर्वथा एक हैं। स्वरूपको छोड़कर कपड़ा कुछ नहीं; कपड़ाको छोड़कर अटस्वरूप कुछ नहीं,

तो इसमें तो समानाधिकरण नही बनता। एकमें क्या समान अधिकरण ? दो चीजें हो और समान हों तब तो उनका एक अधिकरण बताया जाय। जब दोनो ही एक हैं तब समानाधिकरणको क्या बात है ? और भी सुनो ! जैसे पूछा कि देवदत्त क्या करता है ? तो उत्तर होता कि पूजता है, या पकाता है, ऐसे प्रश्नोत्तर होते। तब यहाँ देखो कि प्रश्नमें जो बात कही कि क्या क्या करता है ? तो कर्तापन तो दोनोंमें समान है, पूजा करता तो वहाँ भी कुछ करता है, पकाना तो कहाँ भी कुछ करता है। तो प्रश्नमे जो पूछा गया वह दोनोमें निश्चित् है, समान है, मगर यजन और पचसमे संदेह है। क्या पूजा करता है या रसोई करता है ? तो इससे ही सिद्ध हुआ कि सर्वथा एक होते तो बात नहीं बनती, पूजनका भाव और है और पकानेका भाव और है।

किसीका निश्चय होनेपर किसीका अनिश्चय होनेसे भी भेदकी प्रसिद्धि—एक नियम यह भी है कि जिसके निश्चित् होनेपर जो निश्चित् नही होता वह उससे कथचित् भिन्न है, यह नियम आप सब जगह लगा ले, जिसके निश्चित् होनेपर जैसे सबका निश्चय नहीं है तो भी दोनों कथचित् न्यारे-न्यारे हैं। जैसे यजते, यजतेको अर्थ है पूजता है और करोतिका अर्थ है करता है। तो यज्य अर्थ, करोति अर्थसे भिन्न है, क्योकि देवदत्त कुछ करता है यह तो निश्चित् है, पर क्या करता है?, उसमे यह निश्चित् नही है। तो करोतिमे तो निश्चय है पर पकाता है या पूजता है, इसका निश्चय नही है। इससे समझना चाहिए कि जिसके निश्चय होनेपर जिसका निश्चय न हो वे दोनों भिन्न अर्थ वाले हैं। इससे जितने भी धातु हैं उन सबके अर्थ न्यारे-न्यारे हैं। जैसे कि अन्यके शरीरका निश्चय होनेपर भी बुद्धि अनिश्चयीमान है अर्थात् दूसरेका शरीर दीखा उसका तो हमें निश्चय हो गया कि यह है देह, पर उसकी बुद्धिका निश्चय नहीं होता। तो देहके निश्चय होनेपर बुद्धिका निश्चय नहीं होता, इससे सिद्ध है कि देह न्यारा है और बुद्धि न्यारी है। तो इसी तरह करोति, इसका निश्चय होनेपर भी यज्य आदिक निश्चित् नहीं है। इससे करोति और यज्य आदिक का अर्थ भिन्न है। यहा बौद्ध यह कह रहे थे कि करोति याने करता है—यह भी एक धातु है तो धातुके रिश्तेसे सबमें एकता है। मीमासक कहते हैं कि नही, एकता नही है। कैसे जाना जाय कि सब धातुवोंमें एकत्व नही है। उसका एक विधान है कि जिसका निश्चय होनेपर जिस किसीका निश्चय नही है तो समझो कि वे न्यारे-न्यारे हैं जैसे हम बहुत पुरुषोंके देह देख लेते हैं, शरीर हैं। शरीरका तो निश्चय हो गया, पर शरीरका निश्चय होनेसे उसकी बुद्धिका ज्ञान तो नही होता। इससे मालूम होता है कि शरीरका अर्थ न्यारा है और बुद्धिका अर्थ न्यारा है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं—करता है, तो करता है इसका तो निश्चय हो गया। देवदत्त बड़ा खटपटी है और वह कुछ किए बिना रहता ही नही है। कुछ न कुछ करता ही रहता है तो करता है, इसका तो निश्चय हुआ मगर पूजा करता है कि रसोई करता है ? इसका कुछ निश्चय था ! तो करता है, इतना मात्र कहनेपर या निश्चय होनेपर पूजनका निश्चय नही

होता । इससे मानना चाहिए कि करोतिका अर्थ न्यारा है और यजते पूजता है, पचति पकाता है इसका अर्थ न्यारा है।

करोत्यर्थसामान्य और यज्याद्यर्थविशेषके कथंचित् भेदके सम्बन्धमें आशङ्का—अब बौद्ध कहते हैं कि यदि करोतिका अर्थ न्यारा है और पूजते आदिका अर्थ न्यारा है तो जब न्यारा ही है ना एकके कहनेपर दूसरेके संदेह होनेकी गुंजाइश ही नहीं। संदेह हुआ करता है कुछ समान चीजमें कुछ अभेदरूप हो। जैसे सीप और चाँदी ये सदृश हैं, कुछ अभेदरूप हैं, एक रंग रूप है। तो कुछ जब अभेद होता है तब संशयकी गुंजाइश वहाँ ही होती है। जो अत्यन्त भिन्न चीज है, जैसे लोहा पड़ा है, अब उसमें कौन संशय करेगा कि यह लोहा है कि चाँदी है ? काठ पड़ा है, उस काठको देखकर कौन संशय कर सकता है कि यह काठ है कि हीरा है ? जो अत्यन्त भिन्न चीजें हैं उनमें संशयकी गुंजाइश नहीं होती। तुमने माना कि करोतिका अर्थ भिन्न है और यजतेका अर्थ भिन्न है। तो वास्तवमें ये भिन्न हैं तो एकके कहनेपर दूसरेका संदेह होना यह घटित नहीं होता। दूसरी बात यह बौद्ध कह रहे हैं कि करोति इसका अर्थ यदि बिल्कुल भिन्न मानते हो और यजने, इसका अर्थ बिल्कुल भिन्न मानते हो और करोति ऐसी क्रियाके निश्चय होनेपर उससे भिन्न जो यजन पूजन मानते हो और करोति ऐसी क्रियाके निश्चय होनेपर उससे भिन्न जो यजन पूजन क्रिया है उसमें संदेह होना मानते हो तो इसके विपरीत यह भी तो कहा जा सकता है कि यजते अर्थका निश्चय होनेपर करोति अर्थका निश्चय नहीं है। तीसरी बात यह है कि यज्यादि आदिक क्रियासे भिन्न बातमें करोति अर्थका निश्चय होनेपर प्रश्न फिर सही नहीं होता कि क्या करता है ? ऐसा प्रश्न करना ही बेकार है, क्योंकि अनिश्चितमें ही प्रश्न किया जाता है। जब यह निश्चय है कि जो प्रश्नमें क्रिया बोली गई है उत्तरकी क्रिया नियमसे न्यारी है तो प्रश्न करनेकी गुंजाइश क्या है ? क्या करता है ? ऐसा प्रश्न किया। उत्तरमें जो कुछ भी बोला जायगा—पूजता है पकाता है, वे हैं इस करोतिसे भिन्न-भिन्न, ऐसा निश्चय होनेपर तो फिर प्रश्न ही नहीं उठता। अनिश्चित का ही प्रश्न बना करता, जिसका निश्चय पहिले है कि ये दोनों बातें बिल्कुल भिन्न भिन्न हैं तो उसमें प्रश्न नहीं बनता। इससे करोति अर्थ और यज आदिक अर्थमें तादात्म्य मानना चाहिये अर्थात् समस्त क्रियाओंका अर्थ एकरूपसे ही है तब ही उसमें प्रश्नोत्तर देखे जा सकते हैं। यों यहाँ बौद्ध कहते हैं—एक मीमांसकोंके मतव्यमें बाधा डालते हैं कि धातुओंका अर्थ एक ही होना चाहिये, क्योंकि बौद्ध निर्विकल्प सामान्यके सिद्धान्तवादी हैं। क्षणिकवादीकी दृष्टिमें जो कुछ नजर आता है और कल्पनाका जो ज्ञान होता है वह भी काल्पनिक है। तात्त्विक चीज तो निर्विकल्प सामान्य एक निर्विकल्प है। ऐसा विशेष, ऐसा द्रव्यका अंश, क्षेत्रका अंश, कालका अंश और भावका अंश, यह है बौद्धोंका लक्ष्य, तो ऐसा लक्ष्य उनका तब ही बन पायगा जब पदार्थोंमें भेदकी कल्पना न जगे। तो इसी कारण वे क्रियामें भी यह सिद्ध करना चाह रहे हैं

कि धातुवोंका अर्थ भी एक है, भिन्न-भिन्न नही है, और जब एक ही अर्थ है तब नियोग नही बन सकता। स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे और अमुक इन्द्रकी पूजा करे, अमुक करे, ये उपदेश नही बन सकते।

करोत्यर्थसामान्य व यज्याद्यर्थविशेषमे कथचित् भेदप्रतीतिका समाधान—उक्त आशकापर भट्ट मीमासक उत्तर देते हैं कि यह जो कथन है बौद्धोका कि वस्तुका स्वरूप जो सामान्य है और विशेष है इन दोनोंमे सर्वथा एकता है दो बातें न झलकेंगी—सामान्य अर्थ और विशेष अर्थ। जैसे प्रश्नमे कहा कि देवदत्त क्या करता है? तो इसका अर्थ हुआ सामान्य, और उत्तर दिया कि पूजा करता है तो यह अर्थ हुआ विशेष। करता है, करता तो सबमे माना जा सकता है। कोई पूजा कर रहा तो भी कर रहा, रसोई बना रहा तो भी कर रहा। यो करना तो एक सामान्य है और पूजना, देखना, खाना आदि ये सब विशेष हैं। तो बौद्ध इसमे कहते कि सामान्य और विशेष ये कुछ भेद नही हैं। सामान्य और विशेषको सर्वथा भेद मानना यह कथन ठीक नही उतरता। भट्ट कह रहे हैं कि इसमें करोति अर्थ तो सामान्य है और पूजना, पकाना आदिक अर्थ विशेषरूप है। करना तो एक सामान्य व्यापार है और पूजना, खाना आदि ये सब विशेष व्यापार हैं और सामान्य और विशेषमे कथचित् अभेद माना गया है। तब जो सदिग्ध हा यज्य आदिक अर्थ वहाँ भी तो प्रश्न होगा। पूजना और पकाना आदि जितने भी अन्य काम हैं उन सब कामोमे करोति अर्थ सामान्य है हो तब प्रश्नोत्तर बनता है। सामान्य और विशेषको कथचित् सामान्यकी अपेक्षासे अभेद माननेपर उन दोनोमेसे फिर एकका सदेह होगा। देवदत्त कुछ कर रहा है, अरे तो क्या कर रहा है? पका रहा कि पूजा कर रहा? यह सदेह तब बने जब सामान्यको कथंचित् अभेद मान लिया गया, अन्यथा प्रश्नोत्तरका क्रम बन ही नही सकता। अभेद में एकमें एकान्तमें ही प्रश्नोत्तर असम्भव है। यदि सर्वथा एक मान लिया जाय करने को और पूजनेको तब वहां सन्देह नही किया जा सकता। इसमें कथचित् भेद मानने पर ही व्यवहार बनता है और व्यापार बनता है।

क्षणिकवादियों द्वारा सामान्यके सद्भावका निराकरण—अब बौद्ध कहते हैं—सामान्य विशेषके बिना कुछ प्रतीत नहीं होता। वस्तुमें दो धर्म होते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य तो कहलाया सर्वव्यापी। जो सब अवस्थावोंमें रहे और विशेष होता है व्यतिरेकी। यह है सो यह नहीं, ऐसा व्यतिरेक जहाँ पाया जाय उसे कहते विशेष। तो बौद्ध हैं विशेषवादी। वे ऐसा भेद बनाते हैं कि बनाते बनाते वह अभेद हो जाता है। जैसे कि क्षणिक सिद्धान्तमे आत्मा वह है जो एक समय ठहरता है और एक क्षण ज्ञानमात्र है, तो पर्यायके टुकड़े कर करके ऐसा टुकडा किया एक समय भेद न हो सके। अभेद होता है दो तरहसे—एक तो बहुत व्यापी दृष्टि करके और एक अत्यन्त सकुचित दृष्टि करके। जैसे निरश मायने अशरहित, टुकड़ा रहित। आकाश-

निरंश है, इसका अर्थ क्या है कि आकाश ऐसा एक व्यापक है कि जिसके आगे कुछ है ही नहीं, अतएव आकाश निरंश है और परमाणु भी वह निरंश है। तो आकाश तो व्यापकारके विस्तृत बनकर निरंश है और परमाणु खण्डित होकर स्कंध खण्ड खण्ड होकर जो अन्तिम खण्ड है, जो अन्तिम भेद है वह निरंश है। तो बौद्ध वस्तुको निरंश मानते हैं भेद कर करके अन्तिम भेद। कहाँ तो वस्तुका स्वरूप सामान्य और विशेषके सम्बन्धमें कथन चल रहा है। बौद्ध सिद्धान्त कहता है कि विशेष रहित कोई सामान्य नहीं है। विशेष ही तत्त्व है, एक क्षणमात्रको ही तत्त्व है। बौद्धोंकी दृष्टिमें दो प्रदेश वाली कोई चीज ही नहीं है। दो समय टिकने वाली कोई चीज ही नहीं है। दो शक्तियोंके समुदाय वाली कोई चीज ही नहीं है, दो द्रव्योंके मेल वाली कोई चीज ही नहीं है। विशेष चार तरहसे माना है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। इन द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव आदिके इतने इतने अंश करें कि जिस अंतिम अंशका कोई भेद ही न हो सके। तो यह विशेषका आधिक्य हुआ। इतने अधिक विशेष पदमें उतरे कि जिसका फिर कोई मेल भी नहीं बनता। बौद्ध कहते हैं कि सामान्य विशेषके बिना कुछ नहीं है। यह बात बौद्धोंको इस प्रसंगमें यों कहनी पड रही कि मीमांसक अपने वेद वाक्योंका अर्थ घटित करनेके लिए धातुओंमें यह कह रहे थे कि धातुओंमें एक तो होता है सामान्य अर्थ एक होता विशेष अर्थ। जैसे करता है यह तो सामान्य अर्थ है। करता है, इतना सुननेसे किसीको खास निर्णय तो नहीं होता कि क्या करता है। देवदत्त करता है तो निर्णयकी चीज अगर होती तो लोग उसमें प्रश्न ही क्यों उठाते ? प्रश्न यह उठाया जाता कि देवदत्त क्या करता है, तो इससे विदित हुआ कि वह करता है, सामान्य चीज हुई और निर्णयमें जो कहा जायगा वह विशेष चीज हुई। संदेह सदा सामान्यके बाद हुआ करता है, विशेषवादके निश्चयमें सन्देह नहीं होता। जैसे कोई कुछ मुट्ठीमें चीज लिए है तो क्या है मुट्ठीमें ? अजी इसमें कुछ सफेद चीज है, ऐसा सुनकर सुनने वाला संदेह करता है कि चाँदीका टुकडा है कि काँच है, कि मणि है ? क्यों सन्देह होता कि सुनने वालेको अभी सामान्यका तो परिचय हुआ विशेषका नहीं, तो इसी तरह करोति याने करता है ऐसा सुनकर लोग सन्देह तो करते ही हैं। क्या करते हैं ? इससे विदित है कि करोतिका अर्थ सामान्य है और पूजता है, पकाता है, यह अर्थ विशेष है। तो इन दोनोंमें भेद है या अभेद है यह चर्चा चल रही है। मीमांसकोंको मानना पडा कि सामान्य और विशेषमें कथंचित अभेद है नहीं तो उनका वाक्यार्थ ही नहीं बनता। उसपर बौद्ध कह रहे हैं कि सामान्य और विशेषमें अभेद हो ही नहीं सकता। चीज जब कुछ इसमें हो तो अभेद बनावे। सामान्य तो कुछ दुनियामें है ही नहीं। विशेषके बिना सामान्य तो कुछ प्रतीत नहीं होता। सामान्यके द्वारा स्वीकार किये गये जाने गए की अप्रतीतता नहीं कही जा सकती। केवल सामान्यकी प्रतीति माननेपर विशेषके अंशमें सन्देह होता है इसलिये केवल सामान्य कुछ चीज नहीं है। विशेषके बिना सामान्य कुछ होता ही नहीं।

भट्ट मीमासक द्वारा सामान्यरहित विशेषका निराकरण और सामान्यके सद्भावका साधन—अब उक्त आशंकाके उत्तरमें भट्ट कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है, क्योंकि केवल विशेष अप्रतीत है याने खाली विशेष कुछ होता ही नहीं है। जैसे घटकी प्रतीति करनेपर हिमालय आदिककी प्रतीति तो नही होती तो इसी तरह विशेषके जाननेपर सामान्यकी प्रतीति या सामान्यके जाननेपर विशेषकी प्रतीति नही होती। सामान्यका विशेष धर्मलक्षण अपना जुदा रहता है। यदि यह कहें कि सामान्यके द्वारा विशेष ही अक्षिप्त होता है अर्थात् समझ लिया जाता है, स्वीकार किया जाता है तो सुनिये! ऐसा होनेपर वह सामान्य भी तो प्रतीत हुआ, ऐसा बन गया फिर सशय कैसे? क्योंकि प्रतीतपनेसे भिन्न और कोई स्वीकार शब्दका अर्थ नही है। स्वीकार करना अर्थात् प्रतीति होना। और, वह प्रतीत हुआ है तो सामान्यसे प्रतीत हुआ है विशेषसे नहीं, क्योंकि सामान्यरूपसे ही उस विशेषको स्वीकार किया गया है।

क्षणिकवादियों द्वारा सामान्यकी असिद्धिके लिये समाधानप्रसगमें पुन. आशङ्का—अब यहांपर क्षणिकवादी बौद्ध कहते हैं कि यह कैसे हो जायगा कि सामान्य ही तो ज्ञापक है और सामान्य ही स्वीकार किया गया है। याने सामान्यके द्वारा सामान्य जाना गया ऐसा मीमांसकोंका कथन तो चल रहा है वह कैसे सिद्ध हो सकता है? सामान्य ही तो ज्ञापक हो और सामान्य ही ज्ञाप्य हो, सामान्यसे भिन्न अन्य और वह क्या सामान्य है जो समझनेके योग्य होता है? और यदि ऐसे दो सामान्य बन गए एक सामान्य तो समझाने वाला और एक सामान्य समझमें आने वाला याने एक ज्ञापक व एक ज्ञाप्य ये दो सामान्य हो गए। तो फिर जो ज्ञापक सामान्य है वह भी ज्ञाप्य होना चाहिए, वह होगा अन्य सामान्यसे तो इस तरह सामान्यको माना जानेकी अनवस्था हो जायगी। इससे सामान्यका सामान्य ही स्वीकार किया गया यह बात नही बनती। सामान्य कोई अलग चीज है, विशेष अलग तत्त्व है, यह सब कुछ एक विशेषवादकी ही बात है। विशेषको छोडकर सामान्य और कोई चीज नही है। यहाँ सक्षेपमे यह प्रसग जान लेना चाहिये कि वेदवादी चाहे वह भावना अर्थ करने वाला हो या विधि अर्थ करने वाला हो या नियोग अर्थ करता हो वे सब सामान्यको विशेषतया प्रश्रय देते हैं। वे सब सामान्य तत्त्वकी मान्यतामे विशेषतया रहते हैं। और, बौद्ध क्षणिकवादी विशेषकी मान्यतामे रहता है तब सामान्य मानने वाला सामान्यके द्वारा सामान्यकी मान्यता बनायेगा। एक ऐसी प्राकृतिक बात है कि जब यहाँ भट्टोने यह कहा कि सामान्यके द्वारा सामान्य स्वीकार किया गया तो क्षणिकवादी यह दोष देते हैं कि एक तो सामान्य हुआ वह जिसके माध्यमसे किसीको स्वीकार किया गया और एक सामान्य हुआ वह जो कि स्वीकार किया गया तो ज्ञापक सामान्य और ज्ञाप्य सामान्य। अब यो अन्य सामान्य मानना पडा तो ज्ञापक भी ज्ञाप्य होना चाहिए। जो कुछ भी नही जाना गया उसका तत्त्व क्या? तो उसका ज्ञापक अन्य सामान्य होगा। इस तरह सामान्यके माने जानेकी अनवस्था हो जायगी। अभी

विश्राम ही नही मिल सकता। अत. सामान्य कुछ अलग चीज नही, विशेषरहित सामान्य कुछ भी वस्तु नही है। विशेषमें ही कल्पनासे हम सामान्यका उपचार करते हैं। जैसे ज्ञान ज्ञान ज्ञान यह बहुत समय तक चले तो उनमें एक आत्माकी कल्पना की तो सामान्य कुछ अलग नही है।

संशयज्ञानके अनवसरकी शकाका समाधान—क्षणिकवादियोंके द्वारा की गई उक्त शकाका अब भट्ट मीमांसक समाधान करते हैं। जो कुछ क्षणिकवादियोंने करोति और यज्यादिक क्रियाके सम्बन्धमें सामान्यतया अर्थके अभेदकी बात सिद्ध करना चाहा है और विशेष धात्वर्थके निराकरणके लिए संशय होनेके अवसरका अभाव बताया है, वह सब युक्तिसगत नहीं है क्योंकि सामान्यके प्रत्यक्षसे और विशेष का प्रत्यक्ष न होनेसे एव विशेषकी स्मृति होनेसे सशय होना युक्त ही है। सशयमें तीन कारण बनते हैं—सामान्यका तो प्रत्यक्ष हो और विशेषका प्रत्यक्ष न हो, किन्तु विशेष की स्मृति हो रही हो तो सशय बनता है। जैसे किसी पुरुषको सदेह हुआ कि यह सीप है या चादी है, तो उस प्रसगमें हुआ क्या कि सीप और चांदीमें सामान्यरूपसे पाया जाने वाला जो धर्म है उसका तो प्रत्यक्ष हो रहा है और सीप और चांदीमें विभिन्नता बताने वाला जो विशेष धर्म है उसका प्रत्यक्ष नही हो रहा, लेकिन उस विशेषकी स्मृति हो रही हो तब सशय बनता है। जैसे सफेदीका तो प्रत्यक्ष है, जैसी सफेदी सीप में पाई जाती वैसी ही सफेदी चांदीमें भी पाई जाती। उस सफेदी सामान्यका तो प्रत्यक्ष है, पर कठोर होना, कोमल होना, वजनदार होना, गैर-वजन होना आदिक जो कुछ विशेष बातें हैं अथवा उस सफेदीमें भी कुछ विशेषता लाने वाले जो धर्म हैं उनका प्रत्यक्ष नही हो रहा, लेकिन उन विशेषताओंका स्मरण हो रहा कि यह वजनदार है अथवा नही? ऐसे इन तीन कारणोंसे सशयज्ञान बनता है, न कि सामान्यतया अनुपलम्भ मात्र होनेसे अभाव ही कहना युक्त बताया जा सकता है अभावप्रमाणवादी भट्ट मीमांसकके सिद्धान्तमें।

अभाव प्रमाण और संशयज्ञानके होनेके साधनोंकी विभिन्नता—जब विशेषकी प्रत्यक्षता व स्मृति नही और सामान्यतया अनुपलम्भ हो रहा तो अभाव प्रमाणवादी मीमासकोंके वह अभाव माना गया है, लेकिन यहाँ तो अभाव नही है, क्योंकि जहाँ सामान्यका प्रत्यक्ष भी हो और विशेषका अप्रत्यक्ष हो और विशेषकी स्मृति हो, ये तीन कारण जुट जायें वहाँ सशय ही होता है। जो वस्तु उपलब्धि लक्षण प्राप्त है अर्थात् जो वस्तु दिख सकती है, प्राप्त हो सकती है फिर उसकी उपलब्धि न हो तो अभाव सिद्ध होता है। जैसे घट दिख सकता है पर वह दिखे नहीं तो कह सकते कि घटका अभाव है, पर अनुपलब्धि मात्रसे अभाव नही बनता। घटका अभाव है पर अनुपलब्धि मात्रसे अभाव नही बनता। जैसे यहाँ भूत नही पाया जाता तो कोई कहे कि यहाँ भूत नही है, यह बात प्रमाणसंगत न रहेगी क्योंकि हो भी और न दिखे ऐसा

भी तो हो सकता जो चीज दृष्टिगत हो सकती है फिर दृष्टिगत न हो उसका तो प्रभाव माना जा सकता है पर अनुपलम्भ मात्रसे अभाव नही माना जाता । सो अभावकी तो यह बात है और संशयकी यह बात है कि जो दृष्य हो सके उसमे जो सामान्य है, उसका तो हो रहा ज्ञान और विशेष धर्मोंका न हो रहा हो ज्ञान किन्तु विशेष धर्मोंकी स्मृति होती हो वहाँ संशय बनता ही है । इसपर बौद्ध कहते हैं कि तब तो फिर अनुपलब्धिसे ही संशय बन जायगा फिर यह कहना व्यर्थ है कि सामान्यके प्रत्यक्ष होनेसे विशेषके अप्रत्यक्ष होनेसे व विशेषकी स्मृति होनेसे संशयज्ञानकी उत्पत्ति होती है । अब इस शंकाके उत्तरमे भट्ट कहते हैं कि यदि सामान्यकी प्रत्यक्षता होनेपर भी उपलब्धि लक्षण प्राप्त वस्तुकी अनुपलब्धि न हो तब तो संशय हो सकता है, पर यहाँ यह बात तो नही है । अर्थात् सामान्यकी प्रत्यक्षता होनेपर उपलब्धि लक्षण प्राप्त वस्तुकी अनुपलब्धि हो ऐसा यहाँ नही है अतएव उक्त दोष नही दिया जा सकता ।

अनुपलब्धि लक्षणप्राप्तानुपलब्धिमे ही संशयहेतुता प्राप्त होनेसे यज्यादिमे सामान्यतो दृष्टानुमानताकी प्रसक्ति होनेकी आरेका— अब बौद्ध कहते हैं कि फिर तो अनुपलब्धि लक्षण प्राप्त वस्तुकी अनुपलब्धि होना संशयका कारण हो गया यह बात मानलेना चाहिये अथवा मानना होगा फिर यह तीसरा विशेषण देनाकी विशेषकी स्मृति भी हो तब संशय होता है तो यह विशेष स्मृतिका हेतु देना व्यर्थ है, क्योंकि विशेषकी स्मृतिको छोड़कर और कुछ संशय ही नही कहलाता । दो विशेष अंशोका अवलम्बन करने वाला जो स्मरण है वही तो संशय कहलाता है । जैसे संशयमें सोचा गया कि यह सीप है या चाँदी तो देखो सीप भी विशेष है और चाँदी भी विशेष है और दोनोका आलम्बन हुआ है उसके स्मरणमें । तो जिस स्मरणमे दोनो विशेषोंका अवलम्बन होता हो उस ही को तो संशय कहते हैं । उसमे सामान्यका प्रत्यक्ष होना एक हेतु बताया जाय इसकी आवश्यकता नही है । सामान्यका प्रत्यक्ष न होनेपर भी अनेक जगह संशय ज्ञान बन जाता है । जैसे कि एक नगर देखा दूर, अब उस नगरको देखकर यह संशय होता है कि यह कान्यकुब्ज नगर है या कोई दूसरा नगर है । जैसे किसी मुसाफिरको चलते हुए दूरसे कोई गाँवके विषयमें वह सन्देह कर सकता है कि यह फलाना गाँव है या नही । तो उस मुसफिरको सामान्यका कहाँ प्रत्यक्ष हुआ । उसने तो मकान देखा सो तो विशेष ही वस्तु है सामान्य वस्तु तो नही है । तो सामान्यका प्रत्यक्ष भी न हुआ और स्मरण बन बैठा । तो सामान्यके प्रत्यक्ष हुए बिना भी प्रथम ही प्रथम एक दम स्मरण होनेसे संशय बन जाता है इस कारण करोति इस क्रियामे जो भाव पड़ा है, जो अर्थ भरा है वही पचति आदिक शब्दोमें भी धात्वर्थ पड़ा है । तो करोति इस प्रकारका जो उल्लेख करना है वह समानरूपसे बिना विशेषताके यजते आदिकको भी प्रतीत कर रहा है । तब एकरूपसे देखे गए, अपने सामान्यतया देखे गए लिङ्गका उत्पन्न हुआ जो अनुमान है वह हुआ करता है इस कारणसे यज्यादिक भी सामान्य कहलाया क्योंकि यह भी सामान्यरूपसे देखा जा रहा है । जो बात

जिस प्रकारसे देखी जाती है वह वास्तव ही प्रकारसे होती है। जैसे नील अर्थ नील रूपसे देखा जाता है तो वह नील ही कहलाया। भट्ट लोग जो यह कहते है कि यज्यादिक सामान्य नही होता पूजना, पकाना आदिक जो भिन्न भिन्न धातु हैं ये सामान्य नही हैं क्योंकि इनमें यज्यादिकसे भिन्न करोति सामान्य असम्भव है। याने न पूजा, न पकाया, न देखा याने कुछ भी विशेष काम न करे उसे कहे कि कर्ता है तो यह कैसे सम्भव है ? कुछ विशेष कर रहा हो उसीमें सामान्यया यह कहा जा सकता कि कुछ कर रहा है। जैसे कि सत्व सामान्य यदि असम्भव है तो घट आदिक विशेष पदार्थों की सत्ता ही नही हो सकती। सत्ता सामान्य है तब घट विशेष है। अथवा कहो कि जब घटपट आदिक आवान्तर सत् हैं तो सामान्य सत्ताकी बात भी कही जा सकती है। इस तरह जो भट्ट यज्यादिकको सामान्य नही मानते उसके कथनपर सौगतों द्वारा कहा जा रहा है कि यज्यादिक सामान्य न भी हो, यज्यादिकसे भिन्न कोई करोति सामान्य आदि भी अर्थात् अपनेसे भिन्न करोति सामान्य न होनेपर भी यज्यादिक सामान्य बन जाते हैं। क्योंकि वहाँ तो सिर्फ इस प्रतीतिकी आवश्यकता है कि यह सामान्य है, सामान्य है। इस प्रतीतिरूप अनुमान बने तो वहाँ सामान्यपनेकी बात बन जाती है। और, जैसे पर सामान्य और अपर सामान्य इनमें कोई सामान्यान्तर नही है अर्थात् पर सामान्य भी सामान्य है, अपर सामान्य भी सामान्य है। अब इसमें कोई अन्य सामान्य जुटे तब तो सामान्य कहाये ऐसी बात नहीं है। इन दो से व्यतिरिक्त अन्य कोई सामान्य नही है तो भी यह सामान्य सामान्य, इस प्रकारकी प्रतीतिरूप अनुमान होनेसे सामान्य कहलाता है इसी प्रकार यज्यादिकसे व्यतिरिक्त कोई सामान्य न भी हो तो भी यज्यादिक सामान्य कहलाता है। इस तरह जब करोति और यजते आदिक धात्वर्थ अभेद हुए, एक हुए तब उनसे भावना अर्थ नियोग अर्थ आदिक निकालना ठीक नहीं है।

भट्टमीमांसक द्वारा करोत्यर्थ सामान्यके निश्चयमे व यज्याद्यर्थ विशेष के अनिश्चयमे संशय माननेका प्रतिपादनरूप समाधान—उक्त प्रकार क्षणिकवादियोंके द्वारा प्रतीति वाक्यार्थनाका निराकरण किये जानेपर भट्ट कहता है कि यह सब प्रज्ञाकारका कहना प्रज्ञाके अपराधसे ही बढ़ाई गयी बात है। देखो ! करोति अर्थ सामान्यके निश्चय होनेपर और यज्यादिक अर्थ विशेषका अपरिज्ञान होनेपर ही विशेष में संशय होना माना गया है। संशयका जो मूल लक्षण किया गया है कि सामान्यका तो हो ज्ञान और विशेषका न हो ज्ञान व विशेषकी स्मृति हो तभी संशय बनता है। तो करोति है सामान्य और यजते, पचति आदिक अर्थ है विशेष तो जब करनेका तो निश्चय हो रहा हो कि कर रहा है कुछ, पर विशेषका ज्ञान नही है कि क्या कर रहा है, उस ही समय संशय होता है। जब कोई कहे कि देवदत्त करता है—क्या करता है ? पूजा करता है, या रसोई बनाता है ? देखो ! यहाँ सामान्यका निश्चय होनेपर और विशेषका अपरिज्ञान होनेपर ही संशय बना है। इस सम्बन्धमें जो क्षणिकवादियो

ने यह दोष दिया था कि यदि विशेषोंके प्रसगमे संशय बनता है तो घटके निश्चय होनेपर और हिमालयका निश्चय न हो तो वहाँ भी संशय बन बैठे यह बात यों रुक नही कि संशय होता ही तब है जब सामान्य तो हो निश्चित् और उससे अतिरिक्त अन्य विशेष हो अनिश्चित् तभी संशय बनता है, इसी कारण यहाँ प्रसग दोष भी नही आता। सामान्यका निश्चय हो और विशेषका अनिश्चय हो तब संशय बनता है, यह सम्बन्ध यों है कि सामान्य और विशेषमें कथचित् अभेद है। जैसे कि जहाँ यह जाना जा रहा था कि यह सीप है या चांदी है? तो वहाँ विशेष तो हुए सीप चांदी, और उनमें सामान्य है सफेदरूप, तो सफेदरूपपना दोनोंमें रहता है चाँदीमें भी और सीपमें भी। तो अब देखिये! उस सामान्यका विशेषमे कथचित् अभेद हुआ कि नही? उपयोगमे आया, अविशेष रूपसे जाना गया, तो सामान्य और विशेषमें कथचित् अभेद है अतएव सामान्यके निश्चित् होनेपर और विशेषके अनिश्चित् होनेपर ही संशय होता है। लेकिन हिमालय और घट इनमे तो परस्पर अत्यन्ताभेद है। वहाँ यह बात नही कह सकते कि घटके निश्चित् होनेपर हिमालयके अनिश्चित् होनेपर वहाँ भी संशय बन जाय कि घट है कि हिमालय है? यह प्रसग यह उलहना नही बन सकता है, क्योंकि हमारा यह कथन नही है कि एक चीजके निश्चय होनेपर और किसी अन्य चीजके अनिश्चय होनेपर सन्देह हो, ऐसा नियम नही बनाया जा रहा, किंतु सामान्य का तो निश्चय हुआ जो सामान्य उन दो विशेषोमे रह सकता है और विशेषका अनिश्चय हो और फिर विशेषकी स्मृति हो तब संशय बना करता है। तो सामान्य चूँकि विशेषोंसे कथञ्चित् अभिन्न है, अत संशयके होनेमें यह तीन प्रकारतामे ही हेतुपना बनता है।

सामान्याक्षेपपक्षनिक्षिप्तदोषका परिहार—और भी निरखिये! यह भी नही है कि सामान्यसे स्वीकार किए गये विशेषमे उस विशेषरूप संशयका ज्ञान बन जाय। तो सौगतने जो यह आक्षेप किया था कि संशय कुछ चीज नही है। सामान्यसे स्वीकार किए गए विशेषमे ही कुछ बोध होनेका नाम संशय है सो यह बात नहीं बनती जिससे कि सामान्यके द्वारा विशेषका आक्षेप करनेके पक्षमें दिया गया दोष लग सके और इस ही प्रकार अविवक्षित विशेषोंमें अविशेषरूपसे संशयका प्रसग भी नही आता, क्योंकि स्मरणके विषयमे ही विशेषरूपसे एक जगह संशयकी प्रतीति होती है याने विवक्षित वस्तुके सामान्यके अविनाभावी विशेषोंमें जो कि बहुत हो सकते हैं उनमेसे किसी एक स्मरणके विषयभूत विशेषमे संशय घटता है।

संशयके प्रसगमे किसी अन्यतममे इष्टताकी संभावना—संशयके प्रसगमे प्राय: एक बात और खास जानना है कि जैसे पुरुषको संशय होता है जो संशयमें दो या अनेक बातें आती हैं। उनमेसे किसी न किसी अंशमें एक चीज इष्ट रहती है। जैसे सीप और चांदीका संशय हुआ किसी पदार्थमें कि यह सीप है या चांदी तो उस पुरुष

थे किन्हीं अंशोंमें चांदीसे प्रेम है और इसमें वह बहुत खुश होगा। यदि यह सिद्ध हो जाय कि यह चाँदी है तो जो विवक्षित वस्तु है उसमें जो सामान्य धर्म है वह सामान्य धर्म जिन जिन वस्तुओंमें पाया जा रहा है उन समस्त विशेषोंमेंसे किसी एक वस्तु का स्मरण होनेके प्रसंगमें संशय घटित होता है। लेकिन जो अविवक्षित है ऐसी वस्तु के उन विशेषोंमें संशय नहीं होता। क्योंकि संशयका लक्षण यह किया गया है कि सामान्यका प्रत्यक्ष हो और विशेषका अप्रत्यक्ष हो तथा विशेषकी स्मृति हो, इन तीन हेतुओंसे संशय ज्ञान होता है।

अभाव और संशयकी विभिन्नसाधननिबन्धनता—देखिये! सामान्यके उपलम्भ होनेपर और सामान्यके अविनाभावी विशेषका अनुपलम्भ होनेपर भी अभाव सिद्ध नहीं होता अर्थात् सामान्य तो ज्ञानमें आ रहा है और सामान्यका अविनाभावी विशेष ज्ञानमें आ नहीं रहा। तो इतने मात्रसे अभाव सिद्ध न हो जायगा। क्योंकि सामान्यके पाये जानेपर और विशेषके न पाये जानेपर यदि अभाव मान लिया जाता है विशेषका, तो यों भी तो कहा जा सकता है कि विशेषका उपलम्भ होनेपर और सामान्यका अनुपलम्भ न होनेपर सामान्यका अभाव हो जायगा। मतलब यह है कि विशेषका अभाव होनेपर सामान्यका भी अभावका प्रसंग आता है। प्रकृतमें यह समझिये कि यज्यादिक अर्थ विशेष और करोति अर्थ सामान्य है तो जैसे इस सम्बन्धमें कोई यह कह सकता है कि करोति सामान्य अर्थका तो उपलम्भ है और यज्यादिक विशेष अर्थका अनुपलम्भ है इसलिए विशेषका अभाव है तो उपलम्भ है और करोति सामान्य अर्थका उपलम्भ है तो यों करोति सामान्यका भी अभाव हो जायगा। बात यथार्थ यह है कि विशेष रहित सामान्य कुछ चीज ही नहीं है। जैसे खरगोशके सींग चूंकि विशेष कुछ नहीं हैं इनमें भावान्तर सत्त्व नहीं है। जो अर्थक्रिया करे, परिणमे उस होको तो विशेष कहते हैं। तो विशेष न होनेसे सामान्य असत् हो जाता है और इसी तरह सामान्यरहित होनेसे विशेष भी असत् हो जाता है। सामान्य न हो तो विशेष भी क्या, विशेष न हो तो सामान्य भी क्या? तो इससे यह मानना चाहिये कि करोति सामान्य अर्थ है और यज्यादि विशेष अर्थ है। विशेषके बिना सामान्य नहीं, सामान्यके बिना विशेष नहीं। तो इस तरह जब यह सिद्ध हो गया कि विशेषोंके अनुपलम्भसे सामान्यका अभाव सिद्ध है। तो ऐसा सिद्ध होनेपर कोई कहे कि विशेष में अदृष्टकी अनुपलब्धि होनेसे ही संशय बन जायगा सो बात नहीं कह सकते। क्योंकि केवल अदृश्यकी अनुपलब्धि होनेसे ही संशयज्ञान बन जाया करे तो फिर इसमें स्मृति निरपेक्षताका प्रसंग हो जायगा। तो बिना ही स्मरण हुए वहां चाहे कुछ भी संशय हो बैठे। जो अदृश्य है और वह अनुपलब्ध रहे और उससे संशय ज्ञान मान लिया जाय तो अदृश्यकी अनुपलब्धि तो सदा है, तो सदा संशय हो। अथवा जितने संशयज्ञान हैं उनमें स्मृतिकी अपेक्षा करनेकी कोई आवश्यकता ही न समझी जाय। तो यों सारे ज्ञान जितने भी संशयरूप हैं वे सब स्मृति निरपेक्ष बन

बैठेंगे। अत यह भी नही कह सकते कि अदृश्यकी अनुपलब्धिसे ही संशय ज्ञान बन जाता है।

विशेष स्मृतिमात्रमे संशयपनेकी असिद्धि—अब यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि तब विशेषका स्मृत होना ही संशय है ऐसा मान लीजिए। समाधानमे भट्ट कहते हैं कि यह कहना ठीक नही है। यो तो साध्य साधनकी व्याप्तिका स्मरण करना भी संशय बन बैठेगा क्योंकि साध्य साधन भी विशेष तत्त्व है और उनकी व्याप्तिका विशेष स्मरण हो रहा है। विशेषकी स्मृतिको संशय माननेपर साध्य साधनकी व्याप्तिका स्मरण भी संशय बन बैठेगा। अब यहाँपर बौद्ध शंकाके समर्थनमे कहते हैं कि साध्य साधनकी व्याप्तिके स्मरणके प्रसगमें यह होता है कि जितने भी साधन हैं उन सब साधनोके संशयित साध्यके साथ व्याप्तिकी आपत्ति आ जाती है। और उस समय साध्य साधनकी व्याप्तिका स्मरण अचलित होता है इस कारण संशय नहीं है। इस शंकासमर्थनका भाव यह है कि जैसे कहा कि इस पर्वतमे अग्नि है धूम होनेसे। अब यदि धूम और अग्निकी व्याप्तिका स्मरण होता है तो क्यो होता है कि इस स्मरणके प्रारम्भमे यह प्रसग आता है कि दुनियामें और जितने साधन हैं क्या सभी साधनोके साथ इस अग्निसाध्यकी व्याप्ति है? इन सब साधनोका अग्निके साथ व्याप्ति होनेकी आपत्ति होनेसे फिर साध्यसाधनकी जो व्याप्तिका स्मरण हुआ, सही तौरसे माना कि जहाँ जहाँ धुवाँ होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, तो इस व्याप्तिका स्मरण दृढ है इस कारण साध्यसाधनकी व्याप्तिके स्मरणका संशय होनेका प्रसग नही आता। तो उत्तरमे कहते हैं कि तब तो यह सिद्ध हुआ कि चलित प्रतीतिको संशय कहते हैं। अर्थात् जहा अनिश्चित् ज्ञान होता है वह संशय कहलाता है और वह चलित प्रतीति दोनो विशेषोके स्मरणके उत्तरकालमें ही होती है। जिन दो चीजोका संशय बना हुआ है उन दोनो विशेषोका स्मरण हुआ, उसके बाद फिर चलित प्रतिपत्तिका अवसर होता है क्योकि संशयमे अन्वयव्यतिरेकसे उभय विशेष स्मृतिका अनुविधान है अर्थात् पहिले दोनो विशेषोका स्मरण हो ले तब संशयका अवसर आता है। जैसे कि कही सीप दिखी और देखने वालेको सीप देखनेके बाद पहिले सीप और चाँदीका स्मरण हुआ, उसके बाद फिर चलित प्रतिपत्ति होती है। तो इस तरह चलित प्रतिपत्तिका ही नाम संशय बना। विशेष स्मृतिका नाम संशय नही बन सकता जैसे कि सामान्यकी उपलब्धिको संशय नही कहते इसी प्रकार विशेषकी स्मृतिको भी संशय नही कहते। और क्षणिकवादीका यह भी कथन निरर्थक है कि दोनो अशोंका, विशेषोका अवलम्बन लेने वाली स्मृतिको संशय कहते हैं क्योकि साध्य साधन इन दोनो अशोका अविचलन होनेपर भी, निश्चलपना होनेपर भी संशय होनेका प्रसग आयगा अर्थात् उभय अशोका अवलम्बन करनेपर संशय ज्ञान होता है, ऐसा माननेमे जब साध्य और साधन इन दोनो अशोका आश्रय लिया जाता है, व्याप्तिमे साध्य और साधन दोनोका स्मरण होता है तो वह भी संशय बन बैठेगा क्योकि यहा मान रहे हो कि दोनो अशो

का अवलम्बन लिया जाता है।

सामान्यकी अप्रत्यक्षता होनेपर भी कन्याकुब्जादि नगरमें सशय सभव होनेसे सामान्योपलम्भमे सशयहेतुताकी असिद्धिकी शका और समाधान— अब यहाँ सौगत कहते हैं कि सामान्यका अप्रत्यक्ष होनेपर भी कन्याकुब्ज आदिक नगरोंमें प्रथम ही स्मरण होनेसे सशय देखा गया है अर्थात् किसी नगरको देखकर उसका सामान्य कुछ नजर न आया, नगर-मकानका समूह यही सब दृष्टिमें आया है तो इस समय अर्थात् सामान्य प्रत्यक्षमें नहीं हुआ, फिर भी उस नगरके सम्बन्धमें सशय देखा जाता, इस कारण यह बात तो युक्त न रही कि सामान्यका उपलम्भ संशय का कारण होता है। इसपर समाधानमें कहते हैं कि यह कहना युक्तिसगत नहीं है। यहाँ जो शकाकार यह बता रहा है कि नगरके दिखनेपर सामान्यका प्रत्यक्ष नहीं हुआ यह बात असिद्ध है क्योंकि उस प्रसङ्गमें भी मकान आदिककी रचना विशेष सम्बन्धी सशय जो उत्पन्न हुआ है कि यह कन्याकुब्ज नगर है या अन्य कोई नगर है? यह सशय कन्याकुब्ज नगरके सामान्यकी उपलब्धिपूर्वक ही हुई है अर्थात् जो प्रसाद आदिक बने हुए हैं ऐसे महल आदिक अन्य नगरोंमें भी सामान्यरूपसे पाये जा सकते हैं अर्थात् उसी तरह पाये जा सकते हैं जैसे कि कन्याकुब्ज नामके नगरमें प्रासाद आदिक पाये जाते हैं अर्थात् कन्याकुब्ज नगर और अन्य नगरोंमे समानतया जो एक प्रासादसन्निवेश है, महलकी रचना है उसकी उपलब्धि यही सामान्यकी उपलब्धि कहलाती है। तो वहाँ यह विशेष अर्थात् महल आदिककी रचना सामान्यरूपसे ज्ञात हुई है। यदि सर्वथा अनुपलम्भ हो अर्थात् सामान्यरूपके भी विशेषका उपलम्भ न हो तो सशयका विरोध है। जैसे सबप्रकार उपलम्भ हुई चीजमे सशय नहीं होता इसी प्रकार विशेषका सामान्यरूपसे भी उपलम्भ न हो तो वहाँ भी सशय नहीं बन सकता। सामान्यका सद्भाव और विशेषका अभाव इन दोनोंको विषय करने वाला सशय होता है। सो कन्याकुब्जनगरके विषयमे भी सशय नगर आदिक सामान्यकी उपलब्धि पूर्वक ही हुआ है, अर्थात् जिस नामके नगरमे सदेह हो रहा है कि यह कन्याकुब्ज नगर है अथवा नहीं तो विवक्षित नगरमें और नगरमे वह महल रचना सामान्यतया दृष्टिमें आयी है। तो सामान्यकी उपलब्धि होना और विशेषकी उपलब्धि न होना और विशेषकी स्मृति होना इससे सशय ज्ञान उत्पन्न होता है यह बात कन्याकुब्ज नगरके सदेह वाले ज्ञानमे भी घटित होती है अर्थात् वहाँ इस दृष्टाको वह महल सामान्य रचना तो दृष्टिमें आया, जैसे कि महल होते हैं, सभी नगरोंमें सम्भव हैं और विशेषकी उपलब्धि हुई नहीं। कन्याकुब्ज नगरकी खास जो रचना है, जो थोडा निकट जाकर जाना जा सकता है उसका ज्ञान नहीं हुआ और हो रहा है स्मरण कन्याकुब्ज नगर विशेषका, तब यह सशय होता है कि यह कन्याकुब्ज नगर है अथवा नहीं? तो इस सशयके प्रसगमें नगर विशेषकी सामान्यता उपलब्धि हुई है सामान्यरूपसे नगर आदिक ज्ञानमें आते यह बात तो प्रसिद्ध ही है सभीके प्रत्यक्षमें और सशयमें इस प्रकारके प्रसग आते हैं, कन्या-

कि क्या करता है ? यह सदेह उठना इस बातका सूचक है कि यजते पचति आदिक धातुवोंका भिन्न-भिन्न विशेष अर्थ है, और, सदेह हुआ कि हेतु तीन होते हैं सामान्य की उपलब्धि, विशेषकी अनुपलब्धि और विशेषका स्मरण । सो यह प्रक्रिया इस प्रसग मे भी पायी जाती है । यहाँ करोति अर्थका तो प्रत्यक्ष हुआ, सुना, परिज्ञान किया और यजते पचति आदिक विशेष धात्वर्थका ज्ञान न हुआ और स्मरण हो रहा विशेष क्रिया का, तभी सदेह होता है कि देवदत्त क्या करता है ? और, जब सन्देह सिद्ध हुआ तो इससे यह भी सिद्ध हुआ कि सन्देहका जो उत्तर है वह सब विशेष अर्थ वाला है । जो करोतिका अथ है ऐसे अभेदरूपसे उस यजथ आदिकको नही समझा जा सकता है, अर्थात् करोतिका अर्थ और यजते आदिकका अर्थ एक अभेदरूप हो ऐसी बात पायी ही नही जाती । इससे धात्वर्थ हैं भिन्न-भिन्न और उनसे भावना और नियोगका अर्थ बराबर बन जाता है ।

क्षणिकवादियो द्वारा सामान्यके निराकरणका प्रयास और भट्ट मीमासक द्वारा उसका निराकरण—अब यहाँ क्षणिकवादी शका करते हैं कि सामान्यके बिना भी तो सामान्य ज्ञान कर लिया जासकता है जैसे कि पर सामान्य तो महासत्ता है और अपर सामान्य अवान्तरसत्ता है इन दो सामान्योंके अलावा और कोई सामान्य तो है नही, किन्तु उन पर व अपर दोनो सामान्योंमें "यह सामान्य है यह भी सामान्य है" ऐसा सामान्यका ख्याल बन जाता है, दोनो सामान्योंमें व्यापी अन्य सामान्य है तो नही फिर सामान्यके बिना भी सामान्यका ख्याल बन गया सो सामान्य कोई वस्तुभूत तो सिद्ध न हुआ । इस शकाके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे सत्त्व सामान्यके अभावमें घटादिक का अस्तित्व अनित्य हो जाता है, यों ही करोत्यर्थके अभावमें परापर सामान्यमें "सामान्य है सामान्य है" इस प्रकारके सामान्यका अनियमस उपलम्भ हो गौणरूपसे है, औपचारिक है क्योंकि सामान्यमें सामन्यान्तरके होनेकी असमभवता है अर्थात् सामान्यमें अन्य सामान्यमें नही पाया जाता । यदि सामान्यमें अन्य सामान्य पाया जाय तो अनवस्था दोष हो जायगा । तो पर सामान्य और अपर सामान्यमें सामान्यकी उपलब्धि गौण हुई । यहाँ यह भी नही कहा जा सकता कि फिर तो सभी जगह सामान्यके बिना ही सामान्य बोध गौण हो जायगा, यह क्यों नही कहा जा सकता ? क्योंकि मुख्यके अभावमें गौणकी उत्पत्ति नही होती । परसामान्य और अपरसामान्यमें गौणका ज्ञान करना यह यो नही बनता कि मुख्य सामान्य जब तक न मानेंगे तब तक किसी दूसरेको गौण नही कहा जा सकता । अब क्षणिकवादी बोलते हैं कि प्रतिभासमान जो सामान्याकार है, अन्यापोहरूप बाह्य अर्थ है वह मुख्य है और वही स्वलक्षणोंमें अर्थात् पारमार्थभूत अणु आदिक अर्थमें जब आरोपित किया जाता है वह सामान्याकार तो गौण हो जाता है, इस तरहसे मुख्य सिद्ध हुआ और गौण भी सिद्ध हुआ । उत्तरमें भट्ट कहते हैं कि यह बात कहना युक्त नही है क्योंकि अणु क्षणिकोंमें भी विशेषाकार अर्थात् स्वलक्षणरूपपना भी गौण हो बैठेगा क्योंकि वहाँ भी ऐसा कहा जा सकता है कि

प्रत्यक्षज्ञानमे अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानमें प्रतिभासमान हुआ विशेषाकार तो मुख्य है और बाहरी स्वलक्षणमें आरोपित किए गए वे विशेषाकार गौण हैं, ऐसा भी कहा जा सकता है।

सामान्य और विशेषका वाह्य असत्त्व होनेसे विज्ञानवादके समर्थनका प्रयास और उसका शोधन —अब क्षणिकवादियोका एक सम्प्रदाय कहता है कि ऐसा ही सही कि सामान्य और विशेष दोनोका बाहर असत्त्व है। यही तो उक्त आपत्ति देकर कहना चाहते हैं ना, तो ऐसा होनेपर भी बात तो यही सिद्ध हुई कि ज्ञानविशेष ही परमार्थसे सत् है। वाह्य पदार्थ विशेष वास्तविक नही है और ऐसा माननेपर विज्ञानवादियोका सिद्धान्त आ गया, रहा तो सौगतमत ही आखिर। विज्ञानवादमे माना है कि सारा लोक, सारा विश्व केवल विज्ञान मात्र है। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि विज्ञान सामान्य वस्तुभूत है और बाह्य अर्थ सामान्य वस्तुभूत नही है, ऐसा माननेपर वह सामान्य विशेषात्मक विज्ञान ही तो बना अर्थात् ज्ञानमें पहिले सामान्यको तो स्वय मान लिया गया था अब विकल्प बुद्धिमे प्रतिभासमान हुआ सामान्याकार मुख्य है। यह परमार्थ सत्पना सिद्ध किया जा रहा, सो विकल्पज्ञानमें सामान्याकारके मान लेनेसे निर्विकल्प ज्ञानमे सामान्याकार न माननेमे दोष हट जायगा यह बात नही हो सकती, क्योंकि विकल्प ज्ञानके स्वरूपमे निर्विकल्प रूपमे बाह्य सामान्याकारका भी मुख्यरूपसे मान लिया गया है। तव परमार्थसे ज्ञान सामान्य विशेषात्मक है, यही सिद्ध हो जाता है। तब क्षणिक विज्ञान जोस्वलक्षणवादियोका सिद्धान्त है वह तो न बना।

सामान्याकारताका वास्तविक विकल्प —अब पुनः क्षणिकवादी कहते है कि बात यह है कि विकल्पज्ञानमे भी वास्तविक सामान्याकार नही है। घट पट आदि जो एक सामान्य रूपसे आकार है विकल्प ज्ञानम भी वह वास्तविक नही माना गया है, विकल्प ज्ञानमे भी वास्तविक सामान्कार नही है। घट पट आदिक जो एक सामान्यरूपसे आकार है, विकल्प ज्ञानमे भी वह वास्तविक नही माना गया है, क्योकि घट पट आदिक बाह्य अर्थको सामान्याकारताका ज्ञान होना अनादि अविद्यासे उत्पन्न कराया गया है। परमार्थत सत् तो असाधारण सम्वेदन स्वरूप ही है, इसलिए उक्त दोष नही दिया जा सकता। इस प्रकार भट्ट उत्तर देते हैं कि इस कथनको विपर्यय रूपसे भी कल्पित किया जा सकता है, यह कहा जा सकता है कि सम्वेदनमे जो जो असाधारण आकार होता है वह स्वलक्षण मात्र पारमार्थिक नही है, क्योकि सम्वेदनमे होने वाले असाधारण आकार भी अविद्याके उदयसे उत्पन्न हुआ है और सम्वेदन सामान्य ही वास्तविक है। ऐसा यदि कोई उल्टी तरहसे कहे जैसा कि क्षणिकवादियोने कहा था सो यह उससे विपरीत कथन करना निवारित नही किया जा सकता। यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि सम्वेदन सामान्य वास्तविक नही है, क्योकि सम्वेदन सामान्यके

वस्तुभूत माननेपर किस प्रकार रहता है ? वह एक अनेकमें रहता है आदिक विकल्प करनेपर निराकृत हो जाता है और सम्वेदन सामान्यको विषयभूत माननेपर अनवस्था आदिक दोष भी होते हैं। जैसे कि बाह्य अर्थ सामान्यको विषयभूत माननेपर वहाँ दोष दिया जा सकता, वह ही दोष सामान्यको वस्तुभूत माननेपर दिया जा सकता है। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि तब तो फिर सम्वेदन विशेष भी परमार्थ सत् न रहेगा। इस सम्बन्धमें जब विचार किया जाता है तो यह युक्तिसंगत नहीं बैठता। जैसे कि बाह्य अर्थ विशेष विचारा जानेपर युक्तिसंगत नहीं बैठता यों ही सम्वेदन विशेष भी परमार्थ सत् सिद्ध न होगा। ऐसा यदि सम्वेदन सामान्य मानने वाला कहे तो इसे कहे तो इसे कौन निवारण कर सकता है ? और ऐसा सिद्ध हो जानेपर यदि कहो कि आश्रय सिद्ध हेतु बन जायगा तो यह बात दोनों जगह समान है। सम्वेदन सामान्यमें भी जैसी आश्रयासिद्धता बनती वैसी ही सम्वेदन विशेषमे भी आश्रयासिद्धता बन जायगी।

क्षणिकवादियों द्वारा सन्वित्सामान्यकी असिद्धिका कथन— इस प्रसंगमें क्षणिकवादी बौद्ध सम्वेदन सामान्यका निराकरण करना चाहते हैं क्योंकि ज्ञान सामान्यको माननेपर क्षणिकतामें बाधा आती है इस कारणसे बौद्ध सम्वेदन सामान्यको वास्तविक नहीं मानते। सम्वेदनका जो स्वलक्षण है, तत्कालका जो एक समयका स्वरूप है बस वही मात्र तत्त्व है, जिसे सम्वेदन विशेष नामसे कहिये। तो क्षणिकवादी सम्वेदन सामान्यका निराकरण करनेपर तुले हैं और यहाँ भट्ट सम्वेदन सामान्यकी तरह सम्वेदन विशेषकी सिद्धि करने पर अड़े हैं, तो उन दोनोंकी चर्चाके प्रसंगमें अब क्षणिकवादी यह कहते हैं कि तुम्हारा सम्वित् सामान्य प्रमाण सिद्ध है या प्रमाणसे असिद्ध है ? यदि प्रमाण सिद्ध है तो यह बतलाओ कि वह सम्वित् सामान्य ज्ञान विशेषोंमें रहता है ना ? रहना ही चाहिये, सामान्य विशेषोंमें रहता ही है। सो ज्ञान सामान्य ज्ञान विशेषोंमें रहता है तो वह ज्ञान सामान्य तो है एक और ज्ञान विशेष है अनेक तो उन समस्त ज्ञान विशेषोंमें वह ज्ञान सामान्य पूरापूरा रहता है या थोड़ाथोड़ा रहता है ? यदि कहो कि सारे ज्ञान विशेषोंमें ज्ञान सामान्य पूर्णतया रहता है तो ज्ञान सामान्य एक न रहा। फिर तो जितने ज्ञान विशेष है, उतने ही ज्ञान सामान्य मानने पड़ेंगे, क्योंकि ज्ञान विशेषोंमें ज्ञान सामान्यको पूरे रूपसे समा गया मानते हो, और यदि कहो कि ज्ञान सामान्य सब ज्ञान विशेषोंमे थोड़ा-थोड़ा रहता है, क्योंकि ज्ञान सामान्य एक है, तो इसका भाव यह हुआ कि सभी ज्ञान विशेषोंमे ज्ञान सामान्य अधूरा-अधूरा रहा। तो यों भी नहीं बनता। दूसरी बात यह है कि ज्ञान सामान्य भी एक स्वतंत्र पदार्थ हुआ, ज्ञान विशेष भी स्वतन्त्र पदार्थ हुआ। मीमांसकोंके यहाँ सामान्य और विशेष स्वतन्त्र स्वतन्त्र माने ही गए हैं। तो ज्ञानविशेषमें ज्ञानसामान्य किस तरह रह गया ? इस तरह अनवस्था आदिक दोष भी आते हैं और कदाचित् कहो कि ज्ञान सामान्य अप्रमाणसिद्ध है, प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, असिद्ध है, तो हेतु आश्रयासिद्ध हो

सामान्यका ज्ञान न माननेपर सम्वेदन विशेषका सम्वेदन कभी भी नही हो सकता। जैसे जहाँ अस्तित्व ही नही है वहाँ घट पट आदिककी बात ही क्या चल सकती है? सत्व सामान्यके अभावमे जैसे घट पट आदिक विशेष पदार्थ सिद्ध नही होते, उनका भी अभाव बनता है इसी प्रकार सम्वेदन सामान्यके अभावमें विशेष सम्वेदनका भी अभाव होता है। सम्वेदन विशेष भी कोई चीज नही ठहरती। इस तरह जितने आक्षेप दोगे उन सबका समाधान भी इसी समान होगा। सम्वेदन सामान्यके निराकरणमें जो भी युक्ति दोगे वे सबके सब सम्वेदन विशेषके निराकरणमें भी लागू होते हैं।

सविद्विशेष और सवित्सामान्यकी सिद्धिकी विधिसे करोत्यर्थ सामान्य व यज्याद्यर्थविशेष धात्वर्थ सिद्ध होनेसे सदेह व सदेहाहरणका अवसर—जब कि सामान्यके अभावमें विशेषका भी अभाव होता है तब बाधारहित प्रतीति के बलसे विशेष व्यवस्थामें सामान्य व्यवस्था भी घटित हो जाती है। अर्थात् जैसे सम्वेदन विशेषकी सिद्धि करते हो तो उसमें सम्वेदन सामान्य तो अपने आप ही आ गया। जैसे मनुष्य सामान्य विशेष यदि कुछ सामने लाते हो तो मनुष्य सामान्य तो उसमें घटित ही पड़ा हुआ है। जो अन्त सम्वेदन है। भीतर जो ज्ञानका सम्वेदन होता है उसमे सामान्य बराबर प्रतिभासित होता है। जैसे कि भेद व्यवस्थामें विशेषज्ञानकी वर्तनामें विशेष प्रतिभास होता है उसी प्रकार जब ज्ञान स्वरूपका सम्वेदन किया जाता है तो वहाँ सामान्य भी प्रकट होता है, क्योंकि बाधारहित प्रतीतिसे सिद्ध होनेकी बात जैसे ज्ञान विशेषमें है वैसे ही ज्ञान सामान्यमें भी है। अत सामान्य और विशेष दोनों मानने होगे और इसी कारण श्रुतिवाक्यका अर्थ भावना नियोग आदिकरूपसे भली प्रकार घटित हो जाता है। करोति क्रियामें कुछ सामान्य करनेकी बात है, और यजते पचते आदिक क्रियामे कुछ विशेष करनेकी बात है। तो अब सामान्य और विशेष दोनो प्रकारसे धात्वर्थ बन गए तो सदेहका अवसर होता ही है। जैसे किसीने कहा कि देवदत्त करता है, तो करता है इतने सुनने मात्रसे स्पष्ट नही आ पाया कि क्या करता है। तब यह प्रश्न होता है कि देवदत्त क्या करता है? तो जहाँ सदेह होता है वहाँ विशेष अवश्य होता है इसलिए दोनों ही एकरूप हुए। अभावरूप हुए, इस बातका निराकरण हो जाता है।

सर्वथा भेदवादका निराकरण करते हुए भेदाभेदात्मक वस्तुत्वका समर्थन—सामान्यविशेष व्यवस्था सिद्ध होनेके कारण क्षणिकवादी आचार्योंका अन्यापोह व दृष्टानुमान सामान्यका सिद्धान्त भी निराकृत हो जाता है. क्या? कि क्षणिकाचार्योंका कहना है कि अन्यरूपसे परिहार करना अर्थात् अन्यापोह करना यही वस्तुमात्रका सम्वेदन है अर्थात् शब्दसे अन्यापोहका ज्ञान होता है और वह अन्यापोह सामान्य विषयरूप है और वह सामान्य विषय लिङ्गरूप है, अनुमानरूप है, जो सामान्यके द्वारा जनित हो वह अनुमान भी सामान्य है क्योंकि अनुमान करनेमें भेदको ही साध्य

बताया जाता है, जैसे अग्निको साध्य बनाया तो अनुमानसे अग्निको साध्य तो बनाया पर जो अग्निका स्वलक्षण है, अग्निका जो क्षणिक स्वरूप है उसका ग्रहण नहीं होता, अतएव लिङ्ग भी सामान्य रहा, साध्य भी सामान्य रहा, अनुमान भी सामान्य रहा, स्पष्ट न रहा। यह कथन क्षणिकवादियोंका यो निराकृत हो जाता है कि वस्तुमें अनुवृत्तिरूप प्रत्यय भी पाया जाता है। जैसे यह मनुष्य है, यह मनुष्य है, अनेक मनुष्योंमें मनुष्यत्व सामान्यकी अनुवृत्ति अथवा एक ही जीवकी भूत भविष्यकी पर्यायोंमें यह वही आत्मा है इस प्रकार सामान्यकी अनुवृत्ति भी सिद्ध है। तो यह भी कहा जा सकता है कि तद्रूपसे अनुवृत्ति होना यही वस्तु मात्र है। जैसे क्षणिकवादी कहते हैं कि अन्य पदार्थका अपोह होना, अन्यका अभाव होना यही वस्तुमात्र है सो यह भी तो उसमें दिखता है कि अपने तत्त्वकी अनुवृत्ति होना स्वरूपमात्र पाया जाना यह वस्तुमात्र है, और, ऐसा वस्तुमात्र स्वरूप निर्बाध ज्ञानमें बराबर विषय बन रहा है। तब भेद मात्र की प्रतिष्ठा ही नहीं होती। केवल विशेष ही तत्त्व है यह निराकृत हो जाता है। अन्यापोहकी फिर यहाँ प्रतिष्ठा नहीं रहती। तो एकान्त करना कि अभेद है ही नहीं, समस्त पदार्थ सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं और वस्तु अन्यापोह मात्र है सो बात नहीं बनती। वस्तु भेदाभेदात्मक है अन्यके अपोहरूप भी है और अपने स्वरूपकी अनुवृत्तिरूप भी है। यो स्याद्वादका आश्रय करके भट्ट वस्तुको भेदाभेदात्मक मानकर भेदके साथ अभेद की भी सिद्धि कर रहे हैं। तो यो यदि अन्यापोह करके वस्तुको केवल भेदरूप माना जाय तो अनुवृत्ति देखकर वस्तुको अभेदरूप भी देखा जा सकता है, क्योंकि सदाकाल वस्तु बाहर और अन्दरमें भेदाभेदात्मक ही प्रतिभासमान होती है। बाहरके घट पट आदिक वस्तु सामान्य विशेषात्मक हैं। तो यों समग्र वस्तुएँ चाहे अन्तरङ्ग वस्तुवें हो अथवा वहिरङ्ग हो, भेदाभेदात्मक ही सिद्ध होती हैं।

भेद व अभेदकी वास्तविकी व्यवस्थाका कथन—यहाँ यदि क्षणिकवादी यह सन्देह करे कि अभेद केवल विवक्षाके वश ही जाना जाता है तो उसी तरह भेद भी विवक्षाके वशवर्ती हो जायगा। सो यो भेद और अभेद केवल विवक्षामात्रके आधीन नहीं है, क्योंकि केवल विवक्षासे भेद और अभेद माननेपर तो संकर हो जायगा अर्थात् जो भिन्न हैं उनके साथ अभेद होना पड़ेगा। जो अभिन्न हैं उनमे परस्पर भेद हो जायगा। जिस स्वरूपसे भेद व्यवस्था है उस स्वरूपसे तो अभेद व्यवस्था हो जायगी। और जिस स्वरूपसे अभेद व्यवस्था है उस स्वरूपसे भेद व्यवस्था हो जायगी, क्योंकि जब भेद और अभेद विवक्षाके ही आधीन मान लिया है तो विवक्षा तो निरकुश है। यह तो जानने, समझने, बोलने वालेकी इच्छाकी बात है। जैसा मन किया वैसा पदार्थ को बनना पड़ा। तो पदार्थ व्यवस्था केवल विवक्षासे तो नहीं बनती। जिस वस्तुमें जो धर्म है भेदरूपसे अभेदरूपसे वह वहाँ है। जैसे कि एक आत्मसामान्य है। आत्म सामान्यमे जब भेददृष्टिसे देखते हैं तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक गुण भी ज्ञानमे आते हैं। उस एक आत्माको जब भेददृष्टिसे देखा तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक गुण

नज़र आये । तो भेद दृष्टिसे नजर आया, इसके मायने यह नहीं है कि कथनमात्र है, किन्तु इस तरहका स्वरूप आत्मामें पाया जाता है, जो भेद दृष्टिमें आता है । यदि भेद करनेकी बात केवल विवक्षासे या मन-पसदगीसे ही हो तब तो पुद्गलमें ज्ञान दर्शन गुण मान लिया जाय, जहाँ चाहे जो लगा दिया जाय, सो यों तो नहीं है । वस्तु एक है, विशिष्ट अद्वैत है, अपने लक्षणमात्र है, अव्यक्त है । फिर भी जब उसका हम कहना चाहते हैं तो किन्हीं विशेषणोंसे ही कह पाते हैं और विशेषण होते हैं भेदरूप । सो इस प्रकार भेद और अभेदकी व्यवस्था केवल विवक्षामात्रके वशसे नहीं है, किन्तु उस तरहकी बात जब पदार्थमें विदित होती है तब यह व्यवस्था बनती है ।

किसी भी कारणसे विवक्षाका प्रतिनियम न बननेसे विवक्षाकी निरंकुशता—यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि अभेदसमर्थकोंका यह कहना कि विवक्षा निरंकुश हो जाती है सो बात अयुक्त है, विवक्षामें निरंकुशता न बनेगी । विवक्षामें नियम है, वह नियमपूर्व वासनाके प्रतिनियमके कारण है अर्थात् जो ज्ञान जानता है ज्ञानमें ज्ञानको अपनेसे पूर्व समयमें हुए ज्ञानमें जो बात थी उसकी वासना इस ज्ञानमें आई और उस पूर्व वासनाके प्रतिनियमसे विवक्षाका भी प्रतिनियम बनता है । तो जैसी जैसी पूर्ववासना है वैसी ही विवक्षाका प्रतिनियम है । विवक्षा भी उस ही प्रकार बनती है इस कारण विवक्षाके वशमें भेद और अभेदकी व्यवस्था माननेपर संकर दोष आगया, सो यह दोष नहीं आता । इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि उस विवक्षामें पूर्व वासनाका प्रतिनियम कैसे बना ? उसका हेतु तो बताओ ! जैसे विवक्षा निरंकुश है और विवक्षामें निरंकुशताको दूर करनेके लिए पूर्ववासनाकी बात बतायी तो यों पूर्व वासना भी निरंकुश कैसे न होगी ? कैसे पूर्ववासनाका प्रतिनियम बनेगा ? यदि यह कहो कि जो प्रबोधक ज्ञान है, प्रकट निर्विकल्प ज्ञानका प्रतिनियम है उससे पूर्ववासना का प्रतिनियम बनता है । पूर्ववासनाकी वासना ही तो उत्तर ज्ञान बना । तो जो वस्तु ज्ञान बना उस ज्ञानका होना ही पूर्ववासनाको सिद्ध करता है । तो प्रबोधकज्ञान के प्रतिनियम होनेसे पूर्ववासनाका प्रतिनियम सिद्ध होता है । यदि ऐसा कहोगे तो वह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रबोधक ज्ञानमें पूर्ववासनाका भी नियम नहीं बनता । सो जब प्रबोधक ज्ञान ही स्वयं अनियमित हो गया तो उसके नियमसे पूर्ववासनाका नियम कैसे बन सकता है ? और फिर जब वर्तमान प्रबोधक ज्ञानका नियम न बना और पूर्ववासनाका नियम न बना तब तो विवक्षा निरंकुश ही सिद्ध हुई अर्थात् विवक्षा से यदि वस्तुमें भेद अभेदकी व्यवस्था बनायी जाती है, तो वह अटपट व्यवस्था बन जायगी । जिस स्वरूपसे भेद व्यवस्था बनाई जा रही है, उस हीसे अभेद व्यवस्था बन बैठे । यों सांकर्य हो जाता है । पूर्ववासनाका प्रतिनियम न रहा तो प्रबोधक प्रत्ययका भी प्रतिनियम न रहा ।

वासनासन्तानका प्रतिनियम सिद्ध न होनेसे अभेदव्यवस्थाको अवा-

स्तविकी कहनेका निराकरण—यहाँ सौगत कहते हैं कि जो वर्तमान वासनाका नियम है, प्रकृतमें जो वासना बन रही है उसका नियम पूर्व स्वासनाके प्रतिनियमसे बनता है। उत्तरमें भट्ट कहते हैं कि यह कहना भी अयुक्त है— बतलाओ कि वासना का सम्वेदनके साथ मेल है या नहीं? जो वासना बता रहे हो उस वासनाका निर्विकल्प ज्ञानके साथ मेल है अथवा नहीं? अर्थात् उसमें ज्ञान अव्यभिचरित है या व्यभिचरित है? यदि कहो कि वासनामें सम्वेदनपना मौजूद है तब फिर वासना ही वस्तुस्वभाव बन गई, क्योंकि वस्तु मानी गई है सम्वेदन मात्र और वासनामें सम्वेदन स्वरूपका मेल है अव्यभिचार है तो वासना अब वस्तुस्वरूप हो गई। जो जिससे अभिन्न है वह तदात्मक होती। यहाँ वासनाको मान रहे हो सम्वेदनात्मक, उसके साथ ज्ञानका अव्यभिचार है तो जब वासना वस्तुस्वरूप हो गयी तो क्षणिकवादका खण्डन हो गया। वासनामें वस्तुस्वभावताकी आपत्ति हो गई और यदि कहो कि वह वासना ज्ञानसे मेल नहीं करती तो भेद और अभेदकी व्यवस्था होने भी व्यभिचारका प्रसग होगा फिर उनमें संकरताका दोष कैसे न आयगा? इस तरह बहुत दूर चल करके भी जो वस्तुस्वभावके अवलम्बनसे ही व्यभिचारका परिहार करना चाहते हैं उनको भेद और अभेद वस्तुस्वभावरूप ही मानना चाहिए। अर्थात् विशेष और सामान्य ये वास्तविक हैं ऐसा माने बिना सम्वित् सामान्य अथवा सम्वित् विशेषकी व्यवस्था नहीं बन सकती जब बाह्य वस्तुके स्वभावके अवलम्बनसे ही सांकर्य दोषका परिहार होता है तो जो अभिन्न समस्त पदार्थोंमें साधारणरूपसे रहने वाला वस्तुस्वरूप है बस वही सामान्य है यह सिद्ध होता है, अर्थात् जो समस्त पदार्थोंमें साधारण रूपमें रहे उसे सामान्य कहते हैं और वह वस्तुभूत है। किन्तु विकल्प बुद्धिसे ग्रहण किया गया अर्थात् सामान्य नहीं है इस तरहकी विकल्प बुद्धिसे ग्रहण किया गया है अन्यापोहमात्र वस्तुभूत नहीं है। ऐसा अन्यापोह तो अवस्तु मात्र है अर्थात् जैसे घड़ा यह शब्द बोला, अब इस शब्दको सुनकर अन्य कुछ नहीं है, अघट नहीं है इस प्रकारकी बुद्धिमें आया हुआ केवल अन्यापोह मानना यह तो अवस्तुभूत है। घटका स्वरूप तो जानना स्वरूप चतुष्टयसे घट है उसे तो न मानना कि घट कहकर अन्य कुछ नहीं है इतना भर ही समझना यह तो ज्ञान और व्यवहार प्रतीतिसे विरुद्ध है। तो यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि सामान्य विशेषमें व्यापी होता है तो क्योंकि सामान्य यज्ञादिक विशेषमें व्यापी है इस कारण 'यह वास्तविक कैसे न होगा। जो सामान्यके उपलम्भ होनेपर भी विशेषमें संदेह होता है। जैसे क्योंकि सामान्यका तो ज्ञान किया कि देवदत्त करता है तो उस सामान्यके उपलम्भ होनेपर भी करता है यह देवदत्त कुछ इतना परिज्ञान होनेपर भी विशेषमें संदेह हुआ है कि क्या करता है? क्या पूजा करता है? तथा यह भी समझिये कि स्मृतिके विषय भूत विशेषके अनुपलम्भ होनेपर भी संदेह नहीं होता।

विशेषोंसे भिन्न किसी सामान्यका सत्व न होनेसे यज्यादि क्रियाविशेषों से भिन्न किसी करोतिका सत्व न होनेके कारण संदेहके अनवसरका क्षणिक-

वादियोका प्रश्न—अब यहाँ क्षणिकवादी कह रहे हैं कि देखिये स्थाणु और पुरुष इनसे भिन्न अन्य कुछ ऊर्ध्वता सामान्य कहना वास्तविक नही है। जैसे कोई मनुष्य झुलपुटे उजेलेमें जब की कुछ अधेरा और उजेला हो ऐसे प्रभातमे बहुत दूर नई जगह घूमने गया। उसने बहुत दूरसे देखा कि एक दो ढाई गज ऊँचा कुछ मोटा पदार्थ है। या यह वृक्षका ठूंठ लेकिन वह पुरुष उस ठूठको देखकर यह सदेह करता है कि यह ठूठ है या पुरुष है तो उस सम्बन्धमें क्षणिकवादी यह कह रहे हैं कि सशयका हेतु यह बताना कि सामान्यकी उपलब्धि हो विशेषकी अनुपलब्धि हो और विशेष स्मृति हो तो होता है, तो ये तीन बातें ठीक नही है क्योकि सामान्य तो अवस्तु है। इस सशयके प्रसगमे ठूठ और पुरुष इन दोको छोडकर और ऊर्ध्वता सामान्य क्या हैं? ऊँचा क्या है? ऊँचापन होना, मोटापन होना, यहाँ स्थाणु और पुरुष इन दो के अतिरिक्त और कुछ तो नही है। तो जैसे स्थाणु और पुरुषके सम्बन्धमें अन्य ऊर्ध्वता सामान्य वास्तविक नही है इसी प्रकार यजते पचति यो यज्यादि विशेषप भिन्न करोति सामान्य कोई वास्तविक नही क्योकि बुद्धिका अभेद होनेसे बुद्धि भेदके बिना पदार्थ भेदकी व्यवस्था नही होती। यदि बुद्धिमे भेद आये बिना भी पदार्थमें भिन्नताकी व्यवस्था बना जाय तो इसमें बडा दोष होगा। एक घट ज्ञानके द्वारा अन्य पदार्थका भी ज्ञान हो बैठे अथवा एक घट ज्ञानके द्वारा समस्त घटोकी प्रतीति हो बैठे क्योकि अब तो यह मान लिया कि बुद्धिके अभेद, होनेपर भी याने बुद्धि भेदके बिना भी पदार्थ भेदकी व्यवस्था बन जाती है तो चूंकि बुद्धि भेदके बिना पदार्थ भेदकी व्यवस्था नही बनती तो इस तरह सामान्यमें बुद्धिभेद न होनेसे सामान्य और विशेष ये भिन्न पदार्थ हुए ऐसी व्यवस्था नही बन सकती क्योंकि करोति तो सामान्यका ग्रहण करने वाली क्रिया है और यज्यादि विशेषको ग्रहण करने वाली क्रिया है। इस प्रकारसे बुद्धि भिन्नरूप नही बनती। इसी बातको क्षणिकवाद सिद्धान्तमें कहा भी है कि बुद्धिका अभेद होनेसे अर्थात् यह तो सामान्यको ग्रहण करने वाली बुद्धि है और यह विशेषको ग्रहण करने वाली बुद्धि है, इस प्रकारसे भेदमें भेदका अभाव होनेसे भेदसे भिन्न (विशेषसे भिन्न) कोई अन्य सामान्य नही है क्यो बुद्ध्याकारके भेदसे ही पदार्थमें विभिन्नता मानी जा सकती है। यह घडा यह कपड़ा है यह भेद कैसे बना कि ज्ञानमें भिन्न-भिन्न आकार रूपसे दोनोका प्रतिभासन हो रहा है। तो यहाँ करोति सामान्यको ग्रहण करने वाली यह बुद्धि है, यज्यादि विशेषको ग्रहण करने वाली यह बुद्धि है, इस प्रकारका भेद न होनेसे सामान्य कुछ भी अन्य चीज नहीं है।

अनुगताकार प्रत्ययसे सामान्यकी सिद्धि होनेसे सदेहके अवसरकी व्यवस्थितता—क्षणिकवादी सौगतके उक्त कथनपर भट्ट उत्तर देते हैं कि यह कथन असत्य है। क्षणिकवादका यह कथन क्यो असत्य है? यो कि सामान्य और विशेषमें बुद्धिभेद सिद्ध है, क्योकि सामान्य बुद्धि तो अनुगताकार होती है यह सत् है, यह सत् है इस प्रकारसे अनुगत आकार जहाँ पाया जाता है वह तो है सामान्य बुद्धि और

अनेक मनुष्योमे यह मनुष्य है, यह मनुष्य है इस प्रकार अनुगताकार वाला जो प्रतिभास है वही तो सामान्य सामान्य है। तो सामान्यबुद्धि तो अनुगताकारहोती है और विशेषबुद्धि व्यावृत्ताकार होती है। यह वह नही है इस प्रकार अन्यके परिहारपूर्वक जो बुद्धि चलती है वह विशेष बुद्धि होती है। और, स्पष्ट परख लीजिये कि कभी सामान्य बुद्धि और कभी विशेष बुद्धिकी मुख्यतासे ज्ञान होता है। दूरसे ऊर्ध्वता सामान्यसे ही प्रतिभास होता है। स्थाणु या पुरुष ऐसा विशेष प्रतिभासमें नही आता, उस प्रभात कालीन मदप्रकाशमें इस घूमने वालेने जो कुछ देखा कि यह ठूठ है अथवा पुरुष है ? इस प्रकारका सदेह बनता है तो उस घटनामें प्रतिभास हुआ क्या ? ऊर्ध्वता सामान्य। जो बात ठूठमें भी पाई जा सकती, पुरुषमें भी पाई जा सकती ऐसे धर्मका ज्ञान हुआ है। इतनी ऊँचाई, इतनी मोटाई जो बात दोनोंमें सम्भव है ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई है तो दूरसे ऊर्ध्वता सामान्य ही प्रतिभासमें आया तभी वहा सन्देह बना। अब यहाँ कोई ऐसा सन्देह करे कि दूरसे ऊर्ध्वता सामान्यका प्रतिभास न हुआ है तो इतने मात्रसे उस सामान्यबुद्धिका विशेष बुद्धिसे यह व्यतिरिक्त है ऐसा परिज्ञान कैसे बनेगा ?, तो सुनो कि स्थाणु पुरुष विशेषके परिहारपूर्वक जो सामान्यका प्रतिभासन हुवा है वही विशेषस व्यतिरिक्त सामान्यका प्रतिभासन है व्यतिरेकका इतना ही मात्र लक्षण है कि विशेषके परिहारस अन्यका प्रतिभास हो जाता सो यह बात इस ऊर्ध्वता सामान्यके प्रतिभासमें हो रहा है कि वहा इस ठूठ और पुरुष विशेषका परिज्ञान नही है सो उस विशेष बुद्धिसे यह सामान्य बुद्धि भिन्न है।

निकटमे सामान्य प्रतिभास न होना कहकर सामान्यकी असिद्धि माननेपर दूसरे विशेष प्रतिभास न होना कहकर विशेषकी भी असिद्धिका प्रसग—क्षणिकवादी आचार्य इस प्रसगमे पूछते हैं कि यदि स्थाणु और पुरुषसे भिन्न कोई सामान्य है तो वह सामान्य जैसा बहुत दूरसे प्रतिभासमें आ रहा है वह कुछ दूर रह जानेपर क्यो नही प्रतिभासमे आता, या दूरसे प्रतिभासमान जो सामान्य है उसके निकट आनेपर सामान्यका प्रतिभास क्यो नही होता ? क्षणिकवादियोके इस कथनका यह तात्पर्य है कि यदि सामान्य कोई वास्तविक चीज हो, तो जब कभी बहुत दूरसे ठूठ और पुरुष विषयक सामान्यका बोध हो रहा है वह बोध, वह सामान्य यदि वास्तविक है तो उसके जब बहुत पास पहुच जाता है तब कुछ नही वह प्रतिभासमें आता। वहाँ फिर ठूठ और पुरुष ये दोनों विशेष स्पष्ट स्पष्टरीतिसे क्यो समझमे आ रहे हैं ? इससे सिद्ध है कि सामान्य कोई वस्तु नही है वस्तु तो स्वलक्षण मात्र है। इसपर कहते हैं कि यह कथन तो विशेषमें भी घटाया जा सकता है। जो आक्षेप सामान्यके निराकरणके लिए दिए जा रहे हैं वे ही आक्षेप विशेषके निराकरणमें भी घटित होते हैं। अथवा बताओ—यदि विशेष वस्तुभूत है और सामान्यसे भिन्न है तो दूरसे वस्तुका जैसा सामान्य स्वरूप प्रतिभासमान होता है तो विशेष क्यो नही प्रतिभासित हो जाता? जैसे कि आक्षेपमें कहा था कि ठूठ और पुरुष इन विशेषोंसे निराला यदि कोई ऊर्ध्वता

सामान्य ऊँचाई कोई वस्तुभूत है तो जब उसके निकट प्रतिपत्ता पहुँच जाता है तो फिर वह सामान्य क्यों नहीं प्रतिभासमें आता ? वहाँ स्पष्ट विशेष ही क्यों समझमें आता है। ऐसे ही यहाँ भी कहा जा सकता है कि यदि सामान्यसे भिन्न कोई विशेष वस्तुभूत हो तो जैसे यह विशेष निकटमें रहनेपर स्पष्ट प्रतिभासमें आता है तो बहुत दूरसे क्यों नहीं, ऐसा स्पष्ट प्रतिभासमें आता है। जो बात यहाँपर है उसकी वह बात जो उसके ज्ञानके साथ-साथ ज्ञान होनी ही है। जैसे इन्द्रधनुषमें नीला पीला आदिक अनेक रंग हैं तो वहाँ जब नीलरूप ज्ञानमें आ रहा है तो क्या दूरसे पीतरूप ज्ञानमें न आयगा ? जैसे बहुत दूरसे इन्द्र धनुषका नीलाकार प्रतिभासमें आ रहा उस ही इन्द्र धनुषमें जब पीला रंग भी वस्तुभूत है तो वह भी तो प्रतिभासमें आ रहा है। तो जो वहाँ चीजें होती हैं वे सब ज्ञानमें जाती हैं। तो जब दूरसे हम उस ठूठ और पुरुषके संशयके साधनभूत पदार्थको देखते हैं तो केवल ऊर्ध्वता सामान्य नजर आता। विशेष वस्तुभूत होता तो उसके साथ ही दूरसे विशेष क्यों नहीं प्रतिभासमें आ जाता ?

विशेष प्रतिभासकी जनिका निकट देश सामग्री न होनेसे विशेष प्रतिभासका अभाव बताकर पूर्व शंकाका समर्थन और उसका समाधान करते हुए सर्वत्र सामान्य व विशेष प्रतिभासका साधन—अब विशेषवादी सौगत कहते हैं कि विशेष प्रतिभासकी जनक निकट देश सामग्री है अर्थात् कोई पदार्थ जो कि वस्तुभूत विशेष है उसका परिज्ञान उत्पन्न करने वाली सामग्री प्रतिपत्ताका निकट देशमें पहुँच जाता है। तो विशेष प्रतिभासकी जनिका निकटदेश सामग्री है, इस कारण दूर देशमें रहने वाले जीवोंको विशेषका प्रतिभासन नहीं होता है। विशेषवादीके ऐसे कहनेपर उत्तरमें भट्ट जन भी यह कह सकते हैं कि सामान्य प्रतिभासको उत्पन्न करने वाली दूर देश सामग्री है, अर्थात् दूरसे निरखनेपर सामान्यका प्रतिभास होता है और इसी कारण निकट देशमें रहने वाले पुरुषोंको वह सामान्य प्रतिभास नहीं रहता है। इस प्रकार समाधान देना समान बन जाता है। और, देखिये कि जो पहिले ऊर्ध्वताकार सामान्यका प्रतिभास हुआ था वह ऊर्ध्वताका प्रतिभास निकट पहुँचनेपर भी है, और उस ऊर्ध्वताकार सामान्यका प्रतिभास स्पष्ट हो रहा है निकट पहुँचनेपर भी विशेष प्रतिभासकी तरह। जैसे निकट पहुँचनेपर यह पुरुष नहीं है, किन्तु ठूठ है ऐसा विशेष प्रतिभास स्पष्ट हो रहा है इसी प्रकार उससे ऊर्ध्वताकार रूप सामान्यका प्रतिभास भी स्पष्ट हो रहा है। जैसे कि दूरमें उस ऊर्ध्वताकारका अस्पष्ट प्रतिभासन था उस प्रकारका अस्पष्ट प्रतिभास निकट पहुँचनेपर नहीं है। जिस पुरुषने दूरसे उस पदार्थको देखा था उस पुरुषका ऊर्ध्वताकार ज्ञानमें आ रहा था, पर वह अस्पष्टरूपसे। अब निकट पहुँचनेपर उसी ऊर्ध्वताकार सामान्यका स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है जैसे कि निकट पहुँचनेपर विशेषका प्रतिभास स्पष्ट हो रहा है। और, जैसे कि विशेष दूरसे अस्पष्ट प्रतिभासमें आ रहा है उस प्रकार निकट पहुँचनेपर अस्पष्ट प्रतिभासमें नहीं आता किन्तु स्पष्ट ही प्रतिभास होता है। हुआ क्या वहाँ कि अस्पष्ट प्रतिभासनकी जो

सामग्री है वह अब न रही, अस्पष्ट प्रतिभासकी सामग्री है दूर देशमें रहना सो निकट पहुँचनेपर न तो सामान्यका भी अस्पष्ट प्रतिभास है और न विशेषका भी अस्पष्ट प्रतिभास है। सो वह सामान्य जो दूरसे अस्पष्ट ज्ञानमें आ रहा वह स्पष्ट हो गया और विशेष भी संशयरूपसे जो ज्ञानमे आ रहा था अस्पष्ट वह भी स्पष्ट हो गया। यों सामान्य और विशेष दोनो विषयभूत हैं और वे दोनोंके दानो सदैव हैं चाहे दूरसे उनका ज्ञान किया जाय अथवा निकटसे।

दूर और निकटमे सामान्यके अस्पष्ट और स्पष्ट प्रतिभासकी सिद्धि तथ दूर और निकटमे विशेके अस्पष्ट और स्पष्ट प्रतिभासकी सिद्धि—जब कि सामान्य और विशेष दोनोका दूरसे अस्पष्ट रूपसे प्रतिभासन हो सकता है और दोनोका निकटसे स्पष्टरूपसे प्रतिभासन हो सकता है इस कारण सामान्यके प्रतिभास मे अस्पष्ट प्रतिभासका व्यवहार नही हो सकता है। जैसे विशेषका प्रतिभास स्पष्ट प्रतिभास है इसी प्रकार सामान्यका भी प्रतिभास सामान्य प्रतिभासके सम्बन्धमें स्पष्ट प्रतिभास है। और, जब कभी अस्पष्ट प्रतिभास होता है तब सामान्यमें अथवा विशेष मे दोनोके ही प्रतिभासमे अस्पष्ट व्यवहार भी देखा जाता है। कहीं अप्रतिभासिता अर्थात् कुछ प्रतिभासमे नही आता या अन्तप्रतिभासिता अर्थात् सामान्य और विशेषके बीचमे किसी एकका प्रतिभास होना इसका नाम किसीको अस्पष्ट प्रतिभासिता नही है अर्थात् कुछ प्रतिभासमे नही आया अथवा उन दोनोमेसे, सामान्य विशेषमेंसे किसी एकका ही प्रतिभास हुआ तो इसको मानने अस्पष्ट प्रतिभासिता कही है। तब फिर अस्पष्टताका अर्थ क्या है सो सुनो। किसी भी दृष्ट कारणसे अथवा अदृष्ट कारणसे अस्पष्ट ज्ञानकी उत्पत्ति होना पदार्थोंकी अस्पष्टता होना कहलाता है, क्योंकि यहाँ विषयी के (ज्ञानके) धर्मका विषयोमे (ज्ञेयोमे) उपचार किया है। अस्पष्टताके कारणसे पदार्थोंमे अस्पष्टताकी बात कही गई कि यह पदार्थ अस्पष्ट है अर्थात् ज्ञानके धर्मका विषयोंमें (ज्ञेय पदार्थोंमे) उपचार किया गया है। असलमें तो स्पष्टता और अस्पष्टता ज्ञानमे होती है और वह होता है देश काल आदिक दृष्ट कारणोसे और मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेषरूप अदृष्ट कारणसे। सो स्पष्टता है ज्ञानका धर्म लेकिन जिन ज्ञेय पदार्थोंके सम्बन्धमे अस्पष्ट ज्ञान हुआ है उन ज्ञेयोको भी अस्पष्ट कहना यह उपचारसे कहा जाता है। वस्तुतः तो अस्पष्टता ज्ञान की ही धर्म है, जैसे कि स्पष्टता ज्ञानका धर्म है। अब उस अस्पष्टताको जो विषय धर्म कहा जाता है सो उपचारसे कहा जाता है। यदि वस्तुतः अस्पष्टताको विषयका धर्म मान लिया जाय तो सदा ही अस्पष्टताका प्रतिभास होना चाहिए। अर्थात् जैसे प्रकाशकी अवस्थामें कुछ प्रतिभास होता है, उसी प्रकार अत्यन्त अधकारकी अवस्थामें भी प्रतिभास हो जाना चाहिए। और जब स्पष्टता और अस्पष्टता विषयका धर्म मान लिया जाता है तब फिर कभी भी प्रतिभासकी निवृत्ति नही हो सकती, क्योंकि पदार्थ सदा है और पदार्थका ही धर्म स्पष्टता अथवा अस्पष्टता है। किसी भी रूपका प्रतिभास है। तो पदार्थका धर्म होने से फिर वह सदा

प्रतिभासना चाहिए। कभी प्रतिभासकी निवृत्ति ही न हो सकेगी, इससे सिद्ध है कि स्पष्ट और अस्पष्ट होना यह ज्ञानका धर्म है और ऐसा सम्वेदन याने अस्पष्ट सम्वेदन विषयरहित नहीं होता अर्थात् किसी न किसी पदार्थके विषयमें ही तो वह अस्पष्ट सम्वेदन हुआ है। सो सम्वेदन निर्विषय नहीं होता है क्योंकि सम्वादक होनेसे स्पष्ट संवेदनकी तरह। जैसे स्पष्ट सम्वेदन सत्य है उसी प्रकार अस्पष्ट सम्वेदन भी सत्य है। दूरसे सामान्य प्रतिभासमें आया, अस्पष्टरूपसे आया पर हुआ तो उसका प्रतिभास, अब निकटमें सामान्यका स्पष्ट प्रतिभास हो गया। जैसे कि स्पष्ट सम्वेदन याने बौद्ध सिद्धान्तसे निर्विकल्प ज्ञान वह निर्विषय नहीं माना गया सम्वादक होनेसे, उसी प्रकार अस्पष्ट सम्वेदन भी निर्विषय नहीं होता।

अस्पष्ट ज्ञानमें कदाचित् विसम्वाद होनेसे अथवा क्षणिकवादमें अस्पष्ट ज्ञानको अतदाकार बुद्धि कहनेमें अस्पष्ट प्रतिभासको अप्रमाण माननेकी अशक्यताका कथन —यदि कोई शंका करे कि अस्पष्ट ज्ञानमें कभी कभी विसम्वाद देखा जाता है, उसमें सन्देह भी पाया जाता है तो सो विसम्वाद देखा जानेसे अस्पष्ट ज्ञान अप्रमाण है। तो इसका उत्तर यह है कि यों तो स्पष्ट सम्वेदनमें भी कभी कभी विसम्वाद देखा जाता है तो सभी स्पष्ट सम्वेदनोंमें विसम्वाद मान लेना जाना चाहिए तो चाहे स्पष्ट सम्वेदन हो अथवा अस्पष्ट सम्वेदन हो, जहाँ बाधा आ सकती है अन्य प्रमाणोंसे वहाँ बाधा है, जहाँ नहीं आ सकती वहाँ बाधा नहीं है। तो अस्पष्ट भी सविषय होता है। इस कारण क्षणिकवादियोंका यह कहना समीचीन नहीं है कि पदार्थसे तदाकार बुद्धि ही उत्पन्न होती है, सो जब कभी पदार्थसे अतदाकार बुद्धि ही उत्पन्न हो जाय तो उस समय उसमें अस्पष्ट प्रतिभासका व्यवहार करते हैं। क्षणिक-वादके सिद्धान्तमें जो स्पष्ट ज्ञान होता है निर्विकल्प ज्ञान और वह पदार्थसे उत्पन्न होता है सो वह तदाकार है। इससे विरुद्ध जब कभी अतदाकार बुद्धि हो जाय उस वस्तुमें वैसा स्वलक्षण तो है नहीं जैसा कि सविकल्प ज्ञानने जाना है तो विषय उसमें समुचित नहीं पाया अतएव उस ज्ञानको अस्पष्ट प्रतिभास कहेंगे, ऐसा क्षणिकवादियों का कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि अतदाकार बुद्धिको अस्पष्ट प्रतिभास माननेपर फिर किसी जन्मसे ही इस प्रकारके तिमिर रोग वालेको दो चन्द्रमा दिखते हैं। तो दिखते तो बिल्कुल स्पष्ट हैं लेकिन है अतदाकार। दो जगह चन्द्र तो नहीं है। तो जैसे पदार्थ नहीं है दीखा तो उस तरह लेकिन दीखा स्पष्ट तब उसमें भी अस्पष्ट प्रतिभास का व्यवहार होना चाहिए। इसपर यदि क्षणिकवादी यह शंका करें कि फिर तो मीमांसकोंके भेद अथवा अभेद होनेपर भी यह दूषण समान आता है तब क्या समा धान होगा? इस पर उत्तर सुनो मीमांसकोंके सिद्धान्तमें सामान्य विशेषोंसे सर्वथा भिन्न ही अथवा अभिन्न ही नहीं है। सामान्य कथञ्चित् विशेषोंसे भिन्न अथवा अभिन्न रूपसे प्रतीत होता है। सामान्य विशेषात्मक जात्यन्तर स्वरूप याने उभयात्मक वस्तुके प्रमाण सिद्ध होनेपर उस वस्तुके ग्रहण करने वाले ज्ञानमें सामान्य विशेषात्मकताकी

उत्पत्ति है, अर्थात् जब वस्तु सामान्यविशेषात्मक है तो उसको ग्रहण करने वाला ज्ञान भी सामान्य विशेषात्मक होता है। इस कारण कोई भी बुद्धि सर्वथा सामान्याकार नहीं होती और न सर्वथा सामान्याकार ही होती और न सर्वथा विशेषाकार भी होती, क्योंकि बुद्धि सदा उभयाकार ही प्रतीत होती है। ज्ञानमे जो वस्तु प्रतिभासमे आ रही है वह वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, तो उसका यह प्रतिभास भी सामान्यविशेषात्मक है।

निश्चयत. ज्ञानमे आकारका व अर्थाकारका अभाव—यहाँ यह नही कह सकते कि बुद्धि अर्थाकार ही होती है। बुद्धि तो वस्तुत निराकार है किन्तु उस बुद्धि में जो आकार प्रतिभासमान हुआ है वह आकार पदार्थका धर्म है न कि ज्ञानका धर्म है। जैसे कोई वस्तु दो फिट लम्बी चौडी है, और इस आकार रूपसे ज्ञान हुआ तो इसका अर्थ यह नही कि वह ज्ञानका आकार है या ज्ञान पदार्थके आकाररूप बन गया? ज्ञान तो निराकार है वह तो जाननमात्र है, पर ज्ञानमे जो आकार आया वह आकार पदार्थका है। आकार पदार्थके धर्म हुआ करते हैं। ज्ञानका आकार तो केवल जानन प्रतिभासन पदार्थके ग्रहणको ही कहते हैं। ज्ञानने जो पदार्थको जाना है उस जाननको तो हम ज्ञयाकार परिणमन कहते हैं। कही उस परिणमनमे जैसे—कि दो फिट लम्बा चौडा पदार्थ है ऐसे ही ज्ञान भी दो फिट लम्बा चौडा हो सो बात नहीं, केवल पदार्थ के जाननेका ही नाम विकल्प है और उस ही को आकार कहते हैं। निश्चयत. ज्ञान तो निराकार है।

प्रतिनियत सामग्रीसे ही ज्ञानमे प्रतिनियत प्रतिकर्मव्यवस्था—ज्ञानकी निराकारता सिद्ध होनेपर कभी यह सन्देह न करें कि जब ज्ञान निराकार है तो ज्ञान मे जाननेकी व्यवस्था भग हो जायगी। क्षणिकवादी ऐसा सोचें कि यदि यह ज्ञान पदार्थको जानता है पदार्थसे उत्पन्न न होकर व अर्थाकार न बनकर यह व्यवस्था कैसे हो कि यह ज्ञान इस पदार्थका जानने वाला है, क्षणिकवादमे तो वह ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न हुआ है। सो जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न हुआ जिस पदार्थके आकार बना वह ज्ञान उस पदार्थका ज्ञाता कहलाता है। अब मान लिया गया ज्ञान तो निराकार तो ज्ञानमे ऐसे प्रतिकर्मकी व्यवस्था कैसे बने कि यह ज्ञान इसका ही जानने वाला है, इसमें विरोध आ जायगा ऐसा सन्देह न करना चाहिए। ज्ञानके निराकार होने पर भी प्रतिनियत व्यवस्था विरुद्ध नही बैठती है, क्योंकि प्रतिनियत सामग्रीसे प्रतिनियत पदार्थ का ग्रहण होने रूपसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। यहाँ क्षणिकवादी ऐसी शका कर रहे थे कि जब ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न हो, और पदार्थके आकार हो तब तो यह व्यवस्था बन सकती है कि इस ज्ञानने इस पदार्थको की ही जाना, किन्तु जब निराकार मान लिया जाय ज्ञानको तो अर्थाकारताके अभावमें ज्ञानमे यह व्यवस्था कैसे बने कि यह ज्ञान इस पदार्थको ही जानने वाला है अन्यको नहो? इसपर भट्ट यह समाधान दे रहे हैं

कि प्रतिनियत सामग्रीसे अर्थात् इन्द्रिय आलोक उपयोग पदार्थका सामने होता ये सब सामग्री जैसे जुटे उस सामग्रीके वशसे किसी खास अर्थका वह ग्राहक है इस रूपसे ज्ञान उत्पन्न होता है और तब प्रतिकर्म व्यवस्था सिद्ध होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो जो साकार ज्ञानवादी है अर्थात् पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है और वह ज्ञान पदार्थके आकार बना है इस तरह मानने वाले हैं उन लोगोंके यहाँ भी प्रतिकर्मकी व्यवस्था असिद्ध हो जायगी। साकार ज्ञानवादियोंको भी प्रतिनियत-सामग्रीके वशसे प्रतिनियत अर्थका वह जाननहार है यह व्यवस्था अंगीकार करनी ही पड़ेगी अन्यथा वे बतायें कि ज्ञान इस पदार्थसे ही क्यों उत्पन्न हुआ ? जब लोकमें पदार्थ अनगिनते हैं तो सभी पदार्थोंसे ज्ञान उत्पन्न होगा, सभी पदार्थोंके आकार बन जायेंगे या अटपट कभी किसी पदार्थके आकार बन जायें कभी किसी पदार्थके आकार बन जायें, यह अव्यवस्था होगी। ऐसी अव्यवस्था दूर करनेके लिए ज्ञानको साकार मानने वाले क्षणिकवादियोंको भी यह मानना ही पड़ेगा कि प्रतिनियत अर्थका ज्ञाता न मानने पर जितने नील, पीत आदिक ज्ञान हैं उन ज्ञानोंमें समस्त आकारपना आ जायगा ज्ञानमें, क्योंकि जैसे नीलका ज्ञान किया जा रहा है वैसे ही पीत आदिक सभी पदार्थों का भी ज्ञान हो बैठेगा। अतः चाहे निराकार मानें ज्ञानको चाहे साकार मानें ज्ञानको इस ही पदार्थको जान रहा है। यहाँ यह व्यवस्था इस ही प्रकारसे माननी होगी कि प्रतिनियत सामग्रीसे प्रतिनियत अर्थका ज्ञान होता है।

वस्तुत: ज्ञानकी निराकारता और संशयज्ञानके उत्पादक कारण— वस्तुतः अन्तः परखिये तो ज्ञान साकार नहीं होता, यह अनुभवमें आयगा। ज्ञान तो अमूर्त है—रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्दसे रहित है, उसमें आकार क्या ? तो इस कारण विशेषाकार बुद्धि जो सामान्यको ग्रहण कर रही है वह किन्हीं कारणोंसे अस्पष्ट है और किसी वस्तुमें सामान्यरूपसे विशेषका प्रतिभास करने वाली बुद्धि भी कहीं कहीं अस्पष्ट होती है अर्थात् चाहे ज्ञान सामान्यतया अर्थको जाने अथवा विशेषतया अर्थको जाने यदि अस्पष्ट प्रतिभासके कारण जुटे हैं तो अस्पष्ट प्रतिभास होगा, स्पष्ट प्रतिभासके कारण स्पष्ट हैं तो स्पष्ट प्रतिभास होगा। वहाँ यह नहीं कह सकते कि विशेष प्रतिभास अस्पष्ट होता। स्पष्ट होनेकी सामग्रीसे सामान्य भी स्पष्ट होता और विशेष भी स्पष्ट होता। अस्पष्ट होनेकी सामग्रीसे सामान्य भी अस्पष्ट होता और विशेष भी अस्पष्ट होता है। समस्त विशेषोंसे रहित सामान्यका प्रतिभास होता ही नहीं है। केवल कोई सामान्य सामान्यका ही प्रतिभास हो यह कभी सम्भव नहीं है। विशेषरहित सामान्य कुछ होता ही नहीं है और ऊर्ध्वता सामान्यमें एवं विशेषमें जब प्रतिनियत देशकाल आदिक जुटे हैं तो उस समय ऊर्ध्वता सामान्य और विशेषके प्रतिभासमान होनेपर स्थाणु और पुरुष विशेषमें संदेहकी अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ स्थाणु और पुरुष विशेषका पूर्णतया अपने अपने स्वलक्षणसे प्रतिभास नहीं हुआ है। सन्देह हमेशा वहाँ ही होता है जहाँ सामान्यका तो प्रत्यक्ष हो और विशेषका प्रत्यक्ष न

हो। साथ ही विशेषकी स्मृति हो रही हो। तो जब निकट देशमें प्रतिपत्ता नहीं है और उसका हो रहा है स्मरण तो सन्देह खुद हो ही जायगा। जैसे कहीं सीप पड़ी है, दूरसे हम उसे देख रहे हैं तो सन्देह हो रहा है कि सीप है कि चांदी है। और, जब पासमे जाकर देखेंगे तब तो सन्देह नहीं होता। तो सन्देह होनेका कारण है कुछ दूर स परखना। कितनी दूरसे दिखनेपर सन्देह हो सकता है यह अनुभवसे समझ लेना चाहिये।

संशयके उक्त हेतुओंकी सिद्धि और संशयनिर्वारक प्रतिवचनकी युक्तता होनेसे श्रुतिवाक्यके भावनारूप अर्थकी सिद्धिका भट्ट मीमांसकोका पक्ष— यहां तक यह बात सिद्ध हुई कि सामान्यका प्रत्यक्ष होनेपर और विशेष प्रत्यक्ष न होने पर साथ ही विशेषका स्मरण होनेपर सन्देह होता है ठीक इस ही पद्धतिमे पचति यजते आदिक क्रियाओके विशेषका तो प्रतिभास न हो और करोति (करता है) इतनी मात्र क्रिया सामान्यका प्रतिभास हो और यजते अथवा पचति क्रिया विशेषणका स्मरण व प्रश्न हो तब सन्देह होना युक्त ही है कि क्या करता है। जब कहा कि देवदत्त करता है तो वहां यह प्रश्न क्यो उठता कि क्या करता है? प्रश्न करने वालेको वहां सन्देह होता है और यह सन्देह होता कि जो बोला गया है कि यह करता है तो करता-पना तो पूजनोमे भी है, रसोई पकानेमें भी है। तो करना अ अर्थ तो सामान्य अर्थ है, वह दोनो क्रिया विशेषमे लगता है। सो क्रिया सामान्का तो ग्रहण कर लिया और क्रिया विशेषका ज्ञान किया नही और स्मरण सो हो रहा कि पूजाकी बात कर रहा कि पकानेकी बात कर रहा। तो ऐसी स्थितिमें यहां भी सन्देह हो जाता है। और, तभी यह प्रश्न होता है कि क्या करता है देवदत्त? ऐसे प्रश्नके होनेपर यह वचन कहना कि यह पकाता है अथवा पूजता है ऐसा जो प्रतिवचन बोला जाता वह तो मोकेकी बात है क्योकि पूछा गया पुरुष ही उत्तरको दिया करता है। जब उस करोति क्रिया सामान्यका सुननेसे सन्देह होनेके कारण प्रश्न हुआ तो उस प्रश्नके उत्तरमे जो वचन बोला गया वह वचन कैसे न घटित होगा? इस प्रकार पचनादिक क्रिया विशेष को साधारणरूप जो करोति क्रिया है वह कथचित् उससे भिन्न रूपस पायी गई तब यजनादिक क्रिया विशेषके कर्ताके व्यापाररूप जो अर्थ भावना कही है वह सब सिद्ध होती है याने श्रुति वाक्यका अर्थ भावना है और वह शब्द भावना और अर्थ भावना रूप है। तो शब्दोमे जो व्यापार प्रकट हुआ है तो है शब्दभावना। उसके माध्यमसे स पुरुषमे जो विशेष क्रियाका व्यवहार हुआ वह है अर्थभावना। तो शब्द भावनारूप शब्दभावनाकी तरह अर्थभावना भी प्रमाण सिद्ध है। जैसे कि उक्त कथनमें यह बताया गया कि सामान्य धात्वर्थ और विशेष धात्वर्थ बराबर विभिन्न रूपसे हैं और अभेदरूपसे भी हैं तब उनमे शब्दभावना बनी, इस प्रकार क्रियाका जो अर्थ उस व्यापारमें लगे हुये पुरुषमे वह भावना बाधा रहित सिद्ध होती है तब वह भावना ही श्रुतिवाक्यका अर्थ है नियोग श्रुतिवाक्यका अर्थ नहीं। जैसे कि अन्यापोह श्रुति वाक्यका अर्थ नहीं है

इसी तरह नियोग भी नही है। तब भट्टका जो सम्प्रदाय है कि भावनारूप ही श्रुति-वाक्यका अर्थ है वह बराबर प्रमाणसिद्ध सिद्ध होता है।

भट्ट मीमांसकके मन्तव्यका उपसहार—भट्ट मीमांसकके मन्तव्यके वेद-वाक्यकी प्रमाणता कार्यमें और अर्थभावनामें है, अर्थात् श्रुतिवाक्यका अर्थ भावना, पुरुषको व्यापार व शब्दकी प्रेरणाहै सो श्रुतिवाक्यकी इनमें तो प्रमाणता है पर नियोग में या अन्यापोहमें प्रमाणता नही है तथा वेदमें वाक्यका अर्थ केवल ब्रह्मस्वरूप ही हो सो भी बात नही है। जैसे किसीने कहा कि स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे तो विधि-वादी इसका अर्थ लगाते हैं कि तुमने यह कहा कि ब्रह्म। बस ऐसे श्रुतिवाक्यकी प्रमाणता स्वरूपार्थमे भी नहीं है क्योंकि स्वरूपार्थमें बाधक प्रमाणका सद्भाव है भट्ट द्वारा और नियोगवादी मीमांसकके द्वारा श्रुतिवाक्यका अर्थ ब्रह्मस्वरूप नही किन्तु जो कहा जिस कार्यकी प्रेरणा दी वह अर्थ है और उसका निराकरण करनेसे भट्टका कोई प्रति वाद नही है। यहाँ तक भट्ट मीमांसकोंमें श्रुतिवाक्यका अर्थ शब्दभावना और अर्थभा-वना प्रमाणीकताकी है।

श्रुतिवाक्यका अर्थ शब्दव्यापार व पुरुषव्यापार मानने वाले भट्ट-मीमांसामे शब्दसे शब्दव्यापारकी भिन्नता व अभिन्नतापर विचार—अब स्या-द्वादशासनके माध्यमसे भट्ट सम्प्रदायके उक्त वक्तव्यका प्रतिविधान किया जाता है पहिले तो ये भट्ट यह बतलायें कि तुमने जो यह कहा कि शब्दव्यापारका नाम शब्द भावना है, शब्दमें कुछ अर्थ है ना और उससे कुछ प्रेरणा मिली। तो शब्दके द्वारा जो पुरुषके लिए कुछ शब्द विधि प्रेरणा मिली वह शब्द भावना हैं तो यह बतलायें कि शब्दका व्यापार शब्दसे भिन्न है या अभिन्न है। शब्दके व्यापारका नाम शब्द भावना कहा है, तो शब्द और व्यापार इन दोके बारेमें पूछा जा रहा कि वह व्यापार शब्दसे भिन्न है या अभिन्न है ? यदि कहो कि शब्दका व्यापार शब्दसे अभिन्न है तो अभिन्नके मायने वही है। स्वरूप ही कहलाता है अभिन्न। तब फिर शब्दके शब्द व्यापार वाच्य कैसे बना ? शब्द भी वही शब्दव्यापार भी क्योंकि अभिन्न माना। तो शब्दवाचक है तो शब्दव्यापार भी वाचक ही रहा। फिर अभिन्न ध्येय नही बन सकता। शब्दका स्वरूप शब्दके द्वारा वाच्य तो नही होता। जैसे कहा कि टेबिल तो टेबिल शब्दके द्वारा वाच्य कौन रहा ? यह काठकी बनी हुई टेबिल। तो शब्द भिन्न है और टेबिल भिन्न है तभी वाच्य वाचकपना बना ना। अब टेबिल शब्दमें जो आकार है, आवाज है वह शब्द तो शब्दके द्वारा वाच्य नही हुआ। तो शब्दका व्यापार यदि शब्दमें अभिन्न माना गया तो जैसे शब्दका स्वरूप शब्दके द्वारा अभिधेय नही है इसी प्रकार शब्द व्यापार अर्थात् शब्दभावना शब्दके द्वारा अभिधेय हो सकता। तात्पर्य यह है कि शब्दका अर्थ शब्द व्यापार नही होता, जब व्यापारका शब्दसे अभिन्न मान लिया तब शब्दका वाच्य शब्द व्यापार नही बन सकता शब्दके स्वरूपकी तरह।

एक और अनंश शब्दमें प्रतिपाद्यप्रतिपादकताके निमित्तका अभाव— यदि कोई आशंका करे कि शब्दका स्वरूप शब्दसे अभिधेय हो जाय, शब्दका स्वरूप शब्दके द्वारा वाच्य बन जाय तो इसमें कौनसा दोष है ? इसपर कहते हैं कि जो एक है और अनंश है, उसमें प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव नहीं बन सकता है। एक गुरु ही बैठा है तो क्या वहाँ प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव बन जायगा। प्रतिपादक मायने बताने वाला और प्रतिपाद्य मायने जो बताया जाय जिसे बताया जाय। तो जो एक ही है और निरंश है, मायने एक है उसमें प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव नहीं बन सकता तो शब्द और शब्दकी स्वात्मा अर्थात् शब्दका ही निजी अभिन्न स्वरूप वह तो एक ही चीज हुई। जैसे आत्मा और मेरा चैतन्यस्वरूप ये तो कोई दो चीजें नहीं हैं। आत्मा का स्वत्व है चैतन्य। तो यों ही शब्दका जो स्वरूप है वह तो एक ही बात है, उस एकमें प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव नहीं बनता। शब्दका यहाँ निरंश इस कारण कहा कि वह ज्ञान जुदा है। ज्ञानकी अपेक्षासे शब्द निरंश है अर्थात् अपने आपमें है। ज्ञानसे उसका सम्बन्ध नहीं है। तो ऐसे अनंश एक शब्दका प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना नहीं बनता। जैसे जो एक है, निरंश है, ऐसे ज्ञानमें सम्वेद्य सम्वेदक भाव नहीं। बनता अर्थात् वह निरंश एक स्वलक्षणमात्र ज्ञान ज्ञायक भी बने और ज्ञेय भी बने, ये दो बातें नहीं बनतीं। हाँ, माना भी गया है ऐसा कि ज्ञान ज्ञायक है और वही ज्ञान ज्ञेय है लेकिन इस ज्ञायक और ज्ञेयपनेके समर्थनमें उसमें दो अंश बना लिए गए हैं— कर्तृत्व अंश और कर्मरूप अंश। जब कर्तृ अंश देखते हैं तो वह ज्ञायक है और जब कर्मांशता विधिमें देखते हैं तो वह ज्ञेय है। यदि कहो कि एक भी है अनंश भी है तो भी उसमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना बन जायगा। यदि ऐसा कहते हो तो अपने अभिमत सिद्धान्तसे उल्टे माननेके रूपसे प्रतिपाद्य प्रतिपादक भावकी आपत्ति आती है अर्थात् भट्टजनोंको इष्ट है कि शब्द प्रतिपादक है और स्वरूप प्रतिपाद्य है। इस प्रसंगमें भट्ट यह सिद्ध करना चाहते कि शब्द ही बताने वाला है और शब्दका स्वरूप प्रतिपाद्य है, वाच्य है तो यह उस ही शब्दमें विपरीतपना आ गया ना। जो एक ही शब्द प्रतिपादक है उस हीको माना जाय प्रतिपाद्य तो उसमें विरुद्ध धर्म स्वीकार करना पड़ा ना।

शब्दसे शब्द व्यापारके अभिन्न माननेमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकताके प्रतिनियमका अभाव— यहाँ एक आपत्ति यह आती है कि जब शब्द और स्वरूप दोनों अभिन्न हैं तो शब्द प्रतिपादक है, स्वरूप प्रतिपाद्य है ऐसा ही क्यों हो ? हम कहें कि स्वरूप प्रतिपादक है और शब्द प्रतिपाद्य है उसमें कोई नियम बनानेका कारण नहीं हो सकता। जब शब्द और शब्दका स्वरूप दोनों हैं अभिन्न, एक हैं, अब वहाँ भेद कैसे बन सकता कि शब्द प्रतिपादक है और स्वरूप प्रतिपाद्य है। विपर्यय भी तो कहा जा सकता कि स्वरूप प्रतिपादक है शब्द प्रतिपाद्य है। जैसे आत्मा चैतन्य स्वरूप है। अब वहाँ कोई यह कहे कि आत्मा ज्ञाता है और चेतन ज्ञेय है तो यह तो नहीं बन सकता, क्योंकि कोई इसके विरुद्ध यह भी कह सकता कि चेतन ज्ञाता है और आत्मा ज्ञेय है।

जब आत्मा और चेतन एक ही है और उसमें किसी भी अपेक्षासे अंशकी कल्पना भी नहीं करना चाहते, तो वहाँ प्रति नियम नहीं बन सकता है कर्ताका और कर्मका। तो यों शब्द और शब्दका स्वरूप अभिन्न होनेसे उसमें प्रतिपादन प्रतिपाद्यपना नहीं बनता, तो ऐसे ही शब्द और शब्दका व्यापार ये दोनों यदि अभिन्न हैं तो इनमें भी प्रतिपादक प्रतिपाद्यपना नहीं बन सकता। यदि कहो कि हम शब्दमें अंश सहितपनेकी कल्पना करने लगे तो उस ही शब्दमें प्रतिपादक अंश है और प्रतिपाद्य अंश है यों फिर शब्द प्रतिपादक बन गया और शब्दस्वरूप प्रतिपाद्य हो गया। तो यों शब्दमें अंशसहितकी कल्पनाके द्वारा प्रतिपादक प्रतिपाद्य भाव मान लगे, तो उत्तरमें कहते हैं कि भेद-कल्पनासे प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना मानोगे तो इसका अर्थ है कि वह सब काल्पनिक हो गया। शब्दका प्रतिपादकपना और स्वरूपका प्रतिपाद्यपना ये दोनों काल्पनिक हो गए और इसी प्रकार शब्द और शब्दव्यापार इससे भी शब्द प्रतिपादक है और शब्दव्यापार प्रतिपाद्य है यह भी काल्पनिक बन जायगा, यथार्थ न रहेगा।

श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा स्वस्वरूप बतानेके कारण शब्दभावनाकी व्यवस्था बनानेपर रूपभावना आदि अनेक भावनाओंकी प्रसक्ति—अब यहाँ भट्ट प्रश्न करते हैं कि जैसे शब्द अपने व्यापारसे पदार्थका ज्ञान करा देता है, जैसे बोला टेबिल, तो टेबिल इस शब्दने अपने ही व्यापारमें इस काठकी बनी हुई टेबिलका ज्ञान करा दिया ना, तो जिस तरह शब्द अपने व्यापारसे बाह्य पदार्थका ज्ञान करा देता है उसी प्रकार शब्द श्रोत्रके द्वारा अपने स्वरूपका भी ज्ञान करा देगा। और फिर जिस कारण कि शब्द श्रोत्रके द्वारा स्वरूपका ज्ञान करा देने लगा तो इस ही कारण यह शब्द स्वरूपका प्रतिपादक बन जायगा। इसपर उत्तर देते हैं कि जब शब्द श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा अपने स्वरूपको बता देता है और इस कारण शब्दभावना श्रुतिवाक्यका अर्थ मानते हो तो देखो! रूप, रस गंध आदिकमें भी स्वरूपके प्रतिपादकपनेका प्रसंग आ जायगा, तब फिर रूपादिक भी भावना बन जायगी। जैसे शब्दभावना बोलते हो ऐसे ही रूपभावना ये भी श्रुतिवाक्यके अर्थ बन बैठेंगे। रूपादिक भी तो अपने-अपने स्वभावको चक्षु आदिक इन्द्रियके द्वारा बोध कराता है पुरुषको और यही हुई भावना चक्षु आदिक इन्द्रियका स्वतन्त्रतासे रूपादिकके ज्ञानमें प्रवर्तन कराया, इसलिए वही बन गई रूपभावना। तो चक्षु आदिकका स्वतन्त्रतासे रूपादिकके ज्ञानमें प्रवर्तन करानेसे रूपादिक प्रयोज्य हुए और चक्षु आदिक इन्द्रिय प्रयोजक हुई। जैसे कि श्रुतिवाक्यका अर्थ लगानेमें शब्दोंको तो प्रयोजक मानते, नियोजक मानते और पुरुषको प्रयोज्य अथवा नियोज्य मानते तो यहाँपर देखो कि इस रूपने चक्षु आदिक इन्द्रियोंने रूपके जाननेमें लगा दिया सो ये रूप आदिक प्रयोज्य हुए और नेत्रादिक प्रयोजक हुए। स रूप आदिकका निमित्तपना होनेसे अपने स्वरूपका सम्वेदन करानेमें ये चक्षु आदिक प्रयोजक बने। जैसे स्वयं सुलगने वाले कंडेकी अग्निमें वहाँ, वही कंडा और अग्नि प्रयोजक प्रयोज्य बन जाते हैं जो इस तरह शब्दस्वरूपको बताते हैं और उससे शब्द

भावना मानते हो तो रूप या रूपके ज्ञानको कराता है, चक्षु आदिक इन्द्रियके द्वारा तब रूपभावना आदिक भी अनेक भावनायें मान लीजिये। अब भट्ट कहते हैं कि रूप आदिक तो प्रकाश्य ही हैं और उनसे भिन्न चक्षु आदिक इन्द्रिय प्रकाशक हैं। चूंकि रूप और चक्षु ये परस्पर भिन्न हैं, एक नही है इस कारण चक्षु आदिक तो प्रकाशक हैं और रूपादिक प्रकाश्य हैं इस कारण यह आरोप नही दिया जा सकता कि रूप भावना भी बनाले। तो उत्तरमें कहते हैं कि इसी तरह शब्दस्वरूप प्रकाश्य हो जाय और उससे भिन्न श्रोत्र प्रकाशक हो गया तो यो भी शब्द और स्वरूपमे प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना न बन सका। भट्ट कहते हैं कि यह बात सत्य है कि इन्द्रिय विषयोके याने श्रोत्र इन्द्रिय जन्य ज्ञानके विषयपनेको अनुभवता हुआ शब्द प्रकाश्य हो है रूपादिककी तरह, परन्तु वही शब्द स्वरूपमे शाब्दी बुद्धिको, शब्दस्वरूप ज्ञानको उत्पन्न करता हुआ ही प्रतिपादक कहा जाता है। शब्द यद्यपि प्रकाश्य है, शब्द स्वय ज्ञेय है, लेकिन वही शब्द स्वरूपकी बुद्धिको भी उत्पन्न कराता हुआ प्रतिपादक माना जायगा। उत्तर मे कहते हैं कि यह कहना युक्त नहीं होता, क्योकि शब्द और शब्दस्वरूपमें वाच्य-वाचकभावका सम्बन्ध नही है। जैसे टेबिल कहा तो यह काठकी टेबिल वाच्य हुई। यो शब्दमे और अर्थभूत टेबिलके ही जो टेढ़े अक्षर हैं वे शब्दमे ही स्वरूपको वाच्य बना दें यह तो सम्भव नही है, क्योकि वाच्य वाचकपना दो पदार्थोंमे रहता है। जैसे टेबिल शब्द वाचक और काठकी टेबिल वाच्य है तो ये दो है तब ना वाच्य वाचकपना बना। एकमे वाच्य वाचकपना नही बनता। शब्द और शब्द ही का भिन्न स्वरूप ये दो चीजें नही हैं। एक है, इस कारण इस एकमें वाच्य वाचकपना नही बन सकता। इस तरह शब्दोको और व्यापारको अभिन्न माननेपर शब्दके द्वारा शब्दव्यापार वाच्य नही हो सकता। क्योकि शब्द और शब्दव्यापार ये दोनो एक स्वरूप हो गए।

शब्द व्यापारको शब्दसे भिन्न माननेपर अनवस्थाकी प्रसक्ति - यदि कहो कि शब्द और शब्द व्यापार ये भिन्न हैं, शब्दसे शब्दका व्यापार न्यारा है तो इस विकल्पमें वह शब्दके द्वारा प्रतिपाद्यमान होता ,आ कारणभूत अन्य प्रकारसे यदि प्रतिपाद्य बनाया जाता है तो इसका भाव यह हुआ कि जैसे पहिले कहा कि शब्द व्यापारके द्वारा पुरुष व्यापार भाव्य होता है इस ही तरह यह भी बन गया कि व्यापारान्तरके द्वारा शब्द व्यापार भाव्य हुआ। सो अर्थ यह बना कि वह व्यापारान्तर भावना हुई शब्द व्यापार भावना न हुई। वह भी व्यापारान्तर यदि शब्दसे भिन्न है तो वह भी किसी अन्य व्यापारान्तरसे भाव्य बनेगा। यहाँ यह कहा जा रहा कि शब्दसे शब्द का व्यापार भिन्न है। यदि शब्द व्यापारको शब्दने जो जाना तो किसी अन्य प्रकारसे जाना तो व्यापारान्तर भावना बनी और फिर वह व्यापारान्तर किसी अन्य व्यापारसे जाना तो वह अन्य व्यापारान्तर भावना बनी। इस तरह नये-नये दूसरे-दूसरे भाव्य भावनाकी कल्पना करते जाइये, उसमे अनवस्था दोष आयगा।

शब्दसे शब्द व्यापारको निरपेक्ष भिन्न व अभिन्न माननेपर उभयत्र दोष प्रसक्ति तथा सापेक्ष भिन्न अभिन्न माननेपर स्याद्वादके आश्रयणकी सिद्धि—अब भट्ट मीमांसक कहते हैं कि शब्दसे शब्दका व्यापार कथंचित् अभिन्न है क्योंकि शब्द और शब्द व्यापार ये दोनों पृथक्रूपसे पाये नहीं जाते। जैसे कि घटका और बेर। घटका आधार न्यारा है किन्तु घटका और बेर ये भिन्न-भिन्न हैं। बेर घटसे अलग पाये जाते हैं इस तरह शब्द और शब्द व्यापार ये दोनों परस्पर पृथक्रूपसे पाये नहीं जाते। अतः वाक्यमें और वाक्य व्यापारमें कथंचित् अभेद है और साथ ही यह भी समझिये कि इनमें कथंचित् भेद भी है, क्योंकि शब्दका धर्म और है तथा शब्द व्यापारका धर्म और है सो विरुद्ध धर्मके रहनेसे इनमें कथंचित् भिन्नता भी है। विरुद्ध धर्म क्या है कि देखिये शब्दकी उत्पत्ति न होनेपर भी शब्दव्यापार उत्पन्न होता है। मीमांसक सिद्धान्तमें शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती। शब्द सदा अनादि अनन्त आकाशवत् नित्य रहता है। तो शब्दकी तो उत्पत्ति नहीं हुई और शब्दव्यापारकी उत्पत्ति हुई। उस शब्दको सुनकर जो काम बना, जो ज्ञान बना, जो पुरुषमें व्यापार बना, वह पहिले तो न था और अब हुआ तो शब्दके अनुत्पाद होनेपर भी शब्द व्यापारका उत्पाद देखा गया है और शब्दका विनाश न होनेपर भी व्यापारका विनाश देखा गया है। जैसे आकाश और अन्धकारमें भेद है क्योंकि आकाशका धर्म है नित्यपना, अन्धकारका धर्म है अनित्यपना। आकाशकी उत्पत्ति न होनेपर भी अन्धकारका उत्पाद देखा गया है और आकाशका विनाश न होनेपर भी अन्धकारका विनाश देखा गया है तो जैसे आकाश और अन्धकारमें जुदे धर्म हो गए ना, इसी तरह शब्दमें और शब्दव्यापारमें जुदे धर्म हो गए। तो यों शब्दसे शब्दका व्यापार सर्वथा भिन्न नहीं है जिससे भिन्न बताकर कोई दोष दे और इसी तरह शब्दका व्यापार सर्वथा अभिन्न नहीं है जिससे कि अभिन्न बताकर दोष दिया जाय। उक्त शंकापर अब उत्तर देते हैं कि शब्द और शब्द व्यापारमें जब भेद मानते हो तो जो भिन्न माननेमें जो दोष बताये गये हैं वे दोष आयेंगे और शब्द और व्यापारको यदि अभिन्न मानते हो तो जो दोष अभेदमें बताये गये थे वे ही दोष आयेंगे। इसलिए शब्दसे शब्दके व्यापारको अभिन्न बताकर या भिन्न बताकर दोषसे मुक्त नहीं हो सकते तो और कथंचित् भेद और अभेद माना तो यह एक स्याद्वादका आश्रय करना हुआ, फिर इसमें तुम्हारे किसी एकान्तवादका तो पक्ष न रहा।

वाक्यस्थ वाक्य व्यापाररूप भावनाको वाक्यका विषय न माननेपर ज्ञान और अर्थमें भी विषय विषयीभावके विरोधका आक्षेप—अब भट्ट मीमांसक कहते हैं कि शब्दका जो व्यापार है वह शब्दमें ही स्थित है क्योंकि जब शब्द सुना कि अग्निष्टोमेन स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे, जैसे कि वेद वाक्यके कहनेमें शब्दका ग्रहण किया तो ऐसा ग्रहण किया गया वह वाक्य भावनारूप ही बना और वाक्यका विषयभूत बना, क्योंकि यह वाक्य पुरुष व्यापारका साधक है इस रूपसे अनुभव होता है, यह

शब्द बोला तो इस शब्दसे पुरुषमें व्यापार बनेगा, वह पक्षके यत्नमें लगेगा ऐसा देखा जाता है ना, तो इस अनुभवसे वाक्यका व्यापार वाक्यमें ही रहता है और वही भावना है जो वाक्यका विषय बनता है ऐसी प्रतीति ही है, अन्यथा अर्थात् यदि भावनाको वाक्यका विषय नहीं मानते तब इन जैनोंके यहाँ भी और सबके यहाँ भी फिर विषय और विषयी भावकी सम्भावना ही नहीं हो सकती याने यह ज्ञान है और इस ज्ञानने इसका विषय किया यह कहीं घटित नहीं हो सकता, यदि भावनाको वाक्यका विषय नहीं मानते। कैसे ? सो सुनिये हम उन जैन आदिकोंसे पूछ सकते हैं कि आप लोगोंका ज्ञान भी अपने अर्थग्रहणरूप व्यापारको विषय करता हुआ यह बतलाओ कि वह ज्ञान अपनेसे अभिन्नरूप व्यापारको जानता है या भिन्नरूप अपने व्यापारको जानता है? या कथंचित् उभय स्वभावरूप व्यापारको जानता है ? यहाँ यह पूछ रहे हैं कि ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको भी तो जानता है। ज्ञान जब स्वात्माको विषय कर रहा तो यह बतलावो कि वह स्वात्मा विषय ज्ञानका स्वरूप जानने वाले ज्ञानसे भिन्न है या अभिन्न है? जिसको कि विषय किया गया। ये सब विकल्प भट्ट मीमांसक जैनोंके प्रति उस ही प्रकारसे कर रहे हैं जैसे कि जैनोंने वाक्य और भावनाके सम्बन्धमें किया था। यदि ज्ञान अपने व्यापारको अभिन्नरूप विषय करता है तो फिर इसमें सम्वेद्य सम्वेदक भाव न रहा। ज्ञानका स्वरूप सम्वेद्य है और ज्ञान सम्वेदक है, फिर यह भेद न रहा क्योंकि सम्वेदक और सम्वेद्यका व्यापार ये दोनों सर्वथा अभिन्न मान लिए गए। तो जब ज्ञान और ज्ञानव्यापार ये सर्वथा अभिन्न हुए तो वाक्य और वाक्य व्यापारमें प्रतिपादकता नहीं बन सकता ऐसा जैनोंने कहा था, सो इसी तरह ज्ञान और ज्ञान व्यापारमें सम्वेद्य सम्वेदकपना नहीं बन सकता। यदि कहा कि सम्वेदनसे सम्वेदनका व्यापार भिन्न है तो भिन्न है तो भी सम्वेद्य सम्वेदक भाव नहीं बन सकता, क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है। याने यदि सम्वेदनके सम्वेदनका व्यापार भिन्न माना गया है तो जो सम्वेदन व्यापार भिन्न माना गया है तो जो सम्वेदन व्यापार सम्वेदकके द्वारा सम्वेद्यमान हुआ है यह यदि व्यापारान्तरके द्वारा सम्वेद्यमान होता है तो वह सम्वेदन व्यापार व्यापार व्यापारान्तरके द्वारा होने वाला समझियेगा। अर्थात् यहाँ ज्ञान तो है एक और ज्ञान व्यापार है शेष तो ज्ञानने स्वकीय ज्ञान व्यापारको जाना तो किसी व्यापारके द्वारा ही तो जाना। यदि वह व्यापारान्तर है जिसके द्वारा ज्ञानने अपने व्यापारको जाना तो वह व्यापारान्तर भी सम्वेदनसे भिन्न रहा, तो वह व्यापारान्तर भी अन्य व्यापारसे जाना जायगा। यों अनवस्था दोष आता है। जैसे कि वाक्य और वाक्य-व्यापारको भिन्न बताकर उसमें अनवस्था दोष दिया था वही अनवस्था दोष जैनोंपर भी प्राप्त होता है। यदि कहो कि ज्ञान और ज्ञानव्यापार उभय स्वभाव है भिन्न भी है, अभिन्न भी है तो इसमें भिन्न और अभिन्न पक्षमें जो जो दोष दिया गया वे सब दोष यहाँ भी लागू होंगे। जैसे कि वाक्य और वाक्यके व्यापारमें उभय स्वभाव माननेपर दोष दिया गया था इसी तरह यहाँ भी दोष आयेंगे तब भी ज्ञान और ज्ञान स्वरूपमें

सम्वेद्य सम्वेदकभाव नही बनता।

शंकाकारके ही द्वारा ज्ञान और अर्थमे सहज संवेद्य संवादकभावपने की सिद्धिकी तरह वाक्य और वाक्य व्यापारमे प्रतिपाद्य प्रतिपादकभावपने की सिद्धिका कथन—यदि जैन लोग यह कहें कि ज्ञानका जो स्वकीय स्वरूपके ज्ञानके व्यापारसे विशिष्ट सम्वेदन निर्वाध ही अनुभूयमान हो रहा है अर्थात् ज्ञानके जाननरूप बन रहा है, सो अपना स्वरूप सम्वेदन करते हुए जाननरूप बन रहा है, इसमें कोई बाधा नहीं आती है, कोई सैकडों भी विकल्प उठावें तो भी उसका निराकरण नही किया जा सकता। इस कारण यह अनुभूयमान सम्वेद जो कि अपने स्वरूप के सम्वेदनरूपसे सहित है यह सम्वेद्य सम्वेदकभावको सिद्ध कर देता है। जैसे कोई कहे कि दीपकने अपने स्वरूपको भी प्रकाशित किया। दीपक जब जलता है तो दीपक भी तो स्वय प्रकाशमान है ना। तो दीपकने जो स्वयको प्रकाशित किया है सो क्या अन्य व्यापारको किया है? नही। दीपक ही स्वयं अपने आपके स्वरूपके प्रकाशन व्यापारमे विशिष्ट होता हुआ अपने आपको प्रकाशित कर रहा है, और इस बात के समझनेमे किसीको कोई बाधा भी नही आती। तो यो ही यह सम्वेदन अपने स्वरूपको स्वतः ही जानता हुआ सम्वेद्य सम्वेदकभावको सिद्ध कर देता है, यदि ऐसा कहो तो फिर भट्ट मीमांसकोंके यहाँ भी मान लीजिये याने यहाँ भी यह बात लेना चाहिए कि वाक्य व्यापार अपने व्यापारमे विशिष्ट होता हुआ पुरुष व्यापारको कराता है। शब्दमें जो व्यापार है वह शब्दके कारण शब्दमे ही उठ रहा है और वह व्यापार फिर पुरुषके व्यापारको कराता है, याने कैसे आज्ञा दी—पूजामें लगा दिया। तो वह शब्द व्यापार पुरुष व्यापारको करा देना, इस तरह वाक्य व्यापार ही भावना और वाक्यका विषयभूत ठहरता है, उसमें किसी प्रकारकी विप्रत्ति नही दे सकते।

वाक्य और वाक्य व्यापारमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकता सिद्ध करनेके लिये ज्ञान और अर्थमे विषय विषयीभावके निराकरणके आक्षेपकी अयुक्तता—उक्त आशकापर अब उत्तर देते हैं स्याद्वादी कि उक्त शका युक्तिसगत नही है। वाक्य और वाक्य व्यापारमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना नही बनता, सो उस दोषको मिटानेके लिए जो ज्ञान और ज्ञान स्वरूपमें सम्वेद्य सम्वेदकपना न बननेकी बात उन्हीं शब्दोंमें दुहरा रहे हो सो यह बात यों ठीक नही है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिरमें विषमता है। वाक्य और वाक्य व्यापारकी तरह ये सब बातें ज्ञान और ज्ञान व्यापारमे नहीं हैं, इसका कारण यह है कि ज्ञानके द्वारा जाना गया ज्ञानस्वरूप अथवा बाह्य पदार्थ या वही निजार्थ वह उस वाक्यका विषय नही है और न वह स्वात्मा सम्वेदक है किन्तु वह ज्ञानका सम्वेद्य स्वरूप जो हो रहा है उसके जाने जानेमें, ज्ञात होनेमें वही सम्वेदन स्वयं उसका सम्वेदक बनता है सो इसका ज्ञान किए जानेमें कहीं अन्य सम्वेदनकी प्रतीक्षा नही करनी होती इस कारण यहाँ अनवस्था दोष नहीं आता। जैसे कि दीपक

मे आने अ पके स्वरूपको प्रकाशित किया तो कोई कहे कि जैसे घडा उठानेके लिए दीपकको जरूरत पडती, इसी तरह दीपकको उठानेके लिए दूसरे दीपककी जरूरत पडेगी, सो क्यो पडती है ? नही पडती। दीपकमें ही प्रकाश अश और प्रकाशक अश मौजूद है। है यद्यपि वह एक है, मगर उस हीका प्रकाश्य धर्म है, इसी प्रकार ज्ञान है एक किन्तु ज्ञानमे सम्वेदकत्व धर्म है और सम्वेद्यत्व धर्म है। वही जानने वाला है और वही जाननेमे आ जाता है, किन्तु शब्द और व्यापारमे ऐसी बात नही है। शब्दके द्वारा भाव्यमान पुरुष व्यापार अर्थात् शब्दसे जिसने कुछ प्रेरणा पायी उस पुरुषमे जो क्रिया हुई है, वह व्यापार उस वाक्यके द्वारा विषय नही बनता, परन्तु भावकत्वरूप भावनानामक शब्द व्यापार विषय माना गया है, इस कारण दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिमे जरा भी समता नही है। ऐसी प्रतीति भी नही होती। देखिये कोई उस वाक्यको सुनता है तो उस वाक्यके श्रवणमे ऐसा विश्वास नही करता कि इस वाक्यने मेरा व्यापार प्रतिपादित किया है। जैसे कहा, किसीने आज्ञा दी मुझे कि मदिर जावो तो इन शब्दोने यह नही जाहिर किया, वहाँ, इसने यह नही जान पाया कि इन शब्दोने उसका मेरा व्यापार प्रतिपादित किया है। तो फिर क्या है सो सुनो, जाति गुण द्रव्य विशिष्ट जो अर्थ है, क्रिया नामक जो अर्थ है वही शब्दके द्वारा प्रकाशित हुआ है यह प्रतीति होती है। किसीने कहा कि मित्र जावो—तो इस शब्दसे अपना जानेरूप व्यापार नहीं बताया गया है किन्तु जानेकी क्रिया कर्तव्यता प्रतिपादित हुई है।

सर्व वाक्योमे कर्मादिविशेषण विशिष्ट क्रियाका प्रकाशन—सब ही वाक्योंके द्वारा कर्मादिक विशेषण विशिष्ट क्रियाका ही प्रकाशन होता है। कोई शब्द बोला, वाक्य बोला तो उस वाक्यमें मुख्य शब्द क्या होता ? क्रिया। जैसे किसीने एक लम्बा वाक्य बोला—देवदत्तने सुबह अष्ट द्रव्योसे भगवानकी पूजाकी। अब पूजाकी इतना शब्द ही महत्वपूर्ण है। जिससे यह जाना कि पूजनकी बात कही गई है। क्रिया सब भाव सामान्यतया समझ लिया जाता है और इस स्थितिमे समझा तो क्या क्रिया और बाकी शब्द बन गए, क्रियाके विशेषण, पूजा की, किसने की, कब की, कैसे की। ये प्रश्न उठे ना, तो ये सारे प्रश्नोके उत्तर विशेषणको सूचित करते हैं। मुख्य अर्थ क्या निकला ? क्रियाका अर्थ। तो समस्त वाक्योके द्वारा क्रिया ही प्रकट की जाती है और वह क्रिया कर्म आदिक विशेषणसे विशिष्ट है। "अमुक बालकने उस छोटे बालक का बिना ही अपराधके पीट दिया।" ऐसा किसीने बोला तो समझा क्या आपने ? पीट दिया, यह समझा। मुख्यता किस बातपर आयी ? क्रिया पर। अब किसने पीटा किसको पीटा, क्यो पीटा ? इसका उत्तर विशेषण बन जायगा। तो वाक्यमें मुख्यता किसकी है ? क्रिया की। क्रियाने सब कुछ बता दिया। और, जो कुछ सन्देह था उसको विशेषणरूपसे बता दिया। जैसे किसीने वाक्य कहा कि हे देवदत्त ! इस सफेद गायको भगा दो। तो क्या अर्थ आया ? कौन सी बात मुख्य हुई ? भगा दो ! अब कौन भगाये, किसको भगाये, कैसे भगाये ? ये उसके विशेषण बन गए। तो इस

प्रसङ्गमें यह कहा जा रहा है कि शुद्ध भी वाक्य हो—श्रुतिवाक्य, वेदवाक्य, इनमें जो क्रिया है बस सारा अर्थ क्रियामें भरा है। फिर उस क्रियाके अर्थको और विशेष स्पष्ट करनेके लिए उसमें कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान आदिक ये सब विशेषरूप बन जाते हैं, अर्थात् क्रियाकी विशेषता महिमा बताती है।

शङ्काकार भट्ट द्वारा क्रियार्थसे भावनाकी सिद्धिका प्रतिपादन और उसकी मीमांसा—उक्त प्रसङ्गको सुनकर भट्ट मीमांसक कहते हैं कि तब तो भगाना आदिकसे युक्त वह क्रिया ही भावना हुई और वहाँ उस क्रियाका अभ्यास भायने भगाया, इस क्रियाका अर्थ निकला कि अभ्यास करा, इसको यहाँसे हटाओ तो यह प्रतीति भी हुई तो अब तो यही निकला कि धात्वर्थसे युक्त क्रियाकी भावना हुई। तो श्रुति वाक्यका अर्थ भावना हुआ। उत्तरमें कहते हैं कि यह बात युक्त नहीं नहीं है क्योंकि क्रिया पुरुषस्थ है, क्रिया पुरुषमें होती तो रह रही है इस रूपसे जाना जा रहा है क्रिया शब्दमें तो नहीं, जैसे कहा देवदत्त गायको भगाओ तो भगाने रूप क्रिया वह हलचल शब्दमें पड़ी है या पुरुषमें ? डंडा उठाकर हाथ घुमाया गया तो पुरुष घुमायगा कि वाक्य घुमा देगा ? क्रिया पुरुषस्थ रूपसे ही ज्ञात होती है, इसलिए क्रियामें शब्द-भावनापन और आत्मभावनापन नहीं बन सकता है और जब उन लिङ्गादिक लकारोंमें शब्दव्यापारका विषयपना न बना तो फिर यह कहना कैसे व्यवस्थित हो सकता कि ये लिङ आदिक लकार शब्द भावना और अर्थभावनाको ही कहते हैं जो कि अर्थभावनासे निराले हैं। लिङ प्रत्ययको कहते हैं। जैसे कहा जावो, पढो तो पढोमें शुद्ध धातु तो पठ है। अब उसके कितने ही रूप बनालो। पढो, पढता है, पढेगा आदि। तो इसमें कमाल है उस प्रत्ययको, याने उसमें जो लिङ लगा है याने उस येने सारा अर्थ बताया और पुरुषको उस काममें लगाया। तो उन लिङ आदिक प्रत्ययोंसे शब्द भावना और आत्मभावना बनती है, यह कथन बिलकुल अयुक्त है। तो यो शब्द व्यापारमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना नहीं बनता और न इसका स्वरूप सही व्यवस्थित रह सकता है।

पुरुषव्यापाररूप अर्थभावनाकी श्रुतिवाक्यार्थताका निराकरण—भट्ट-मीमांसकोंने जो शब्दभावनारूप श्रुति वाक्यका अर्थ कहा था उसके सम्बन्धमें तो अभी बता चुके हैं कि शब्दभावनामें वाक्यार्थता नहीं आ सकती है। अब जो यह भी कहा है भट्ट सम्प्रदायने कि पुरुषका व्यापाररूप अर्थ भावना वाक्यका अर्थ है अर्थात् जैसे कहा कि स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे तो वहाँ उस पुरुषका जो व्यापार है वही अर्थभावना है और श्रुतिवाक्यका अर्थ है, वह भी अयुक्त बात है, क्योंकि इस तरह पुरुष व्यापाररूप अर्थभावनाको वाक्यार्थ माननेपर नियोगमें भी वाक्यार्थपनेका प्रसंग आ जायगा क्योंकि मैं इसवाक्यके द्वारा नियुक्त हुआ हूँ यज्ञादिकमें इस तरह जानने वालेकी प्रतीति होनेसे तो इसमें नियोग अर्थ होती ध्वनित हुआ, इसपर भट्ट कहते हैं कि उस प्रकारका नियोग

भावनास्वरूप ही तो है शब्दव्यापार ऐसा कहनेपर शब्दभावना ही भावनास्वभाव बना, याने यहाँ भी भावना ही अर्थ बना क्योंकि शुद्ध कार्यादिकरूप जो नियोग बताये गये थे उनका निराकरण किया ही गया है। वे तो श्रुतिवाक्यके अर्थ हो नहीं सकते, क्योंकि शब्दव्यापार के ढंगसे जो पुरुषने यह अहंकार किया है कि इस वाक्यके द्वारा मैं अमुक कार्यमें नियुक्त हुआ हूँ तो इसमें पुरुष व्यापार तो आ ही गया है, उसका कैसे निराकरण किया जा सकता है ? उत्तरमें कहते हैं कि यह बात यों ठीक नहीं है कि शुद्ध कार्यादिक नियोग भी विवक्षित क्रियाके विशेषरूपसे होकर वाक्यके अर्थ बन जाते हैं। वाक्यमें केवल क्रियाका ही अर्थ नहीं होता। जितने शब्द बोले गये हैं उन सभी शब्दों का अर्थ होता है, केवल यही न मानना चाहिए कि वाक्यमें जो क्रिया बोली गई है केवल उस धातुका अर्थ ही उस वाक्यका पूरा हृदय है ऐसा यों न मानना चाहिए कि क्रिया यदि निरपेक्ष है तो उससे वाक्यका अर्थ नहीं बन सकता। जैसे-यह आदेश दिया कि अमुक बालक बिना पुस्तक देखे कलका पाठ पढ़े तो इसमें क्रिया तो केवल यही है ना- पढ़े, तो इस वाक्यका यदि केवल पढ़ना ही अर्थ हुआ और वह बालक या विषय इनकी कुछ अपेक्षा न रखें तो केवल पढे इतना ही तो वाक्यका अर्थ हुआ मान रहे तो बताओ पढ़े इससे क्या समझा ? तो वह पढ़े जो क्या है वह बालक, कलका पाठ व बिना देखे आदि जो कर्ता कर्म व क्रिया विशेषण आदिक हैं उन सबकी अपेक्षा ले तब तो क्रिया वाक्यका अर्थ बनेगी। केवल क्रिया ही वाक्यका अर्थ नहीं बनती। यदि केवल करोति अर्थ ही याने क्रियाका अर्थ ही वाक्यका अर्थ बन जाय तो यज्यादिक अर्थ भी वाक्यके अर्थ मान लीजिए याने उसमें जितने और कारक बताये गए हैं उन कारकोंकी अपेक्षासे रहित केवल यज् अर्थ मान लीजिए। अब चाहे वह याग पूजन आदि किसी प्रकार हो, सो तो वाक्यका अर्थ नहीं बनती।

करोति सामान्यको शब्दार्थ सिद्ध करनेका भट्ट मीमांसकका प्रयास :-

अब भट्ट कहते हैं कि क्रिया सामान्य तो समस्त यज्यादिक क्रियाविशेषोंमें व्यापक है। करना, इतना तो सब क्रियाओंमें पाया जाता। अगर कोई पूजता है तो भी करता ही है कोई पकाता है तो भी करता है कुछ भी क्रिया बोलें सबमें करोति सामान्य तो व्यापक ही है। सो जो क्रिया सामान्य है वह नित्य है, इस तरह शब्दका अर्थ क्रिया सामान्य ही ठीक जचता है क्योंकि यह भी बात बतायी गई है कि शब्द और अर्थके सम्बन्ध नित्य हुआ करते हैं तो शब्द भी जो नित्य हो और अर्थ भी जो नित्य हो उस दृष्टिमें लो तभी सम्बन्ध नित्य माना जा सकता। तो करोत्यर्थ सामान्य ही नित्य है। और शब्द तो नित्य है ही अर्थात् कुछ भी क्रिया बोले सभी क्रियाओंमें करोतिका अर्थ तो पड़ा ही हुआ है। कोई कहे यज्ञदत्त बैठता है, तो इसमें कुछ करनेकी बात आयी कि नहीं, आयी कोई कहे देवदत्त चलता है, तो इसमें भी करोति अर्थ आया ना, तो करोति अर्थ सामान्य ही वास्तवमें शब्दका अर्थ है क्योंकि वह सब धातुवोंके साथ जुड़ा हुआ है फिर यज्यादिक क्रिया विशेष पूजन बैठन चलन आदिक जो खास क्रियायें हैं वे

शब्दके अर्थ नहीं बनती, क्योंकि ये क्रियायें अनित्य हैं। बैठता है तो और कुछ क्रिया विशेष नहीं करता। खड़ा हो गया तो बैठना मिट गया ना। चल दिया तो खड़ा होना मिट गया ना। तो यह क्रिया विशेष अनित्य है; मगर करोति सामान्य—यह अनित्य नहीं है। खड़ा हो गया, तो भी कुछ किया चल दिया तो भी कुछ किया। तो करोति अर्थ सामान्य है, नित्य है और तभी वह शब्दार्थ बनता है, पर अन्य क्रिया विशेष है अनित्य वे शब्दार्थ नहीं बन सकते इससे भी यह सिद्ध है कि करोति अर्थ वाक्यार्थ है।

भट्टारेकित करोत्यथकी सामान्यताका निराकरण—उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि धात्वर्थ सामान्य अर्थ लगाकर उसको शब्दका अर्थ बता रहे हो तो इस तरह यों लगाइये ना, कि यजादिक क्रियासामान्य समस्त यजादिक क्रियाविशेषोंमें व्यापकर रहा है याने पूजनसामान्य। जितने प्रकारके पूजन हैं, उन सब क्रियाओंमें रह रहा है तो पूजन सामान्य नित्य हो गया, इस कारण उसमें भी शब्दार्थपनेका विरोध नहीं होता। जैसे किसीने गुरुको पूजा की तो पूजा ही तो की। शास्त्रकी पूजा की तो पूजन सामान्य ही तो रहा। कोई भी पूजा करे, पूजनका सामान्य तो वहाँ भी रहा। तो यहाँ इस तरह घटा लीजिए कि यजादिक क्रियासामान्य समस्त यजादिक क्रियाविशेषोंमें रह रहा है अतएव वह नित्य है और उसमें शब्दार्थपना फिर विरोधको प्राप्त न होगा। अब भट्ट अपने मतव्यकी इस बाधाका निराकरण करनेके अभिप्रायमें कहते हैं कि करोति सामान्य क्रियामें व्यापक है, यजादिक क्रिया सामान्य जो तुम कह रहे सो तो पूजा विशेषकी क्रियामें ही व्यापक है, लेकिन करोति सामान्य सबमें व्यापक है। पूजन हो वहाँ भी करोति सामान्य है, उठना, बैठना हो वहाँ भी है, इस कारण करोति सामान्य ही शब्दका अर्थ है जो अधिकसे अधिक सामान्य बने उसे शब्दार्थ मानिये। यजादि क्रिया सामान्य अधिक सामान्य नहीं बन पाते। इसपर स्याद्वादी उत्तर देते हैं कि यदि तुम्हारी यह हठ है कि जो अधिकसे अधिक सामान्य बन वह शब्दका अर्थ है या सुनो! सबसे अधिक सामान्य तो सत्ता है। अस्ति, यह अर्थ सबसे अधिक सामान्य है। तब फिर सत्ता सामान्य याने भवन क्रिया भू धात्वर्थ यही शब्दका अर्थ बना, करोति अर्थ भी वाक्यका अर्थ नहीं बनता क्योंकि वह सत्ता सामान्य करोतिमें भी मौजूद है। करता है कुछ, यहाँ भी है कुछ तो सत्ता महाक्रिया सामान्य है। जैसे कहते हो कि करोति अर्थ यजते पचति सब क्रियाओंमें व्यापक है, लेकिन उस करोति अर्थसे भी अधिक व्यापक भवति, अस्ति है। महाक्रिया सामान्यकी सदैव अवस्था है क्योंकि सत्ता सामान्य शाश्वत है। जैसे कि किसीने प्रयोग क्रिया पचति तो उसका अर्थ क्या लगाते हो? पाक करोति याने पकाता है। इसमें बात यही तो आई कि पाक करता है और इस तरह करोति सामान्य आप पचतिमें व्यापक बताते हो। तो जिस तरह पचति यजते आदिक क्रियाओंमें करोति अर्थ आप प्रविष्ट मानते हो तो इस तरह पचतिका यह अर्थ करनेपर कि पाचकः भवति—पकाने वाला हो रहा। यों कहना कि देवदत्त पकाता है और यों कह देवे कि देवदत्त पकाने वाला

होता है तो भवन क्रिया सामान्य व्यापक बन गई। यजते पूजता है इसका भाव यह है कि पूजको भवति पूजक होना है, करोति करता है— इसका अर्थ यह हुआ कि कारको भवति याने कारक होता है। तो इस तरह भवति रूपसे भी तो ज्ञान होता है। तब यह महा क्रिया यह सत्ता यह भवन अर्थ करोति क्रियामे भी व्यापक है और यजते पचति आदिक क्रियावोंमें भी व्यापक है तब तो फिर भवति अर्थको ही सत्ता सामान्य को ही शब्दार्थपना कहना युक्त दिखता है यों फिर करोति अर्थ सामान्य भी वाक्यका अर्थ नहीं घटित होता।

भवत्यर्थमे क्रियास्वभावताका निराकरण करके करोत्यर्थमे ही सामान्यता सिद्ध करनेका प्रयास और उसका निराकरण "अब यहां भट्ट मीमांसक कहता है कि करोति ही क्रियास्वभावरूप है, भवति अर्थमे क्रियास्वभावपना नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि भवति अर्थ तो व्यापाररहित भी वस्तुमें देखा गया है। जैसे भवतिका अर्थ है, है अथवा होता है, तो है पना, होना पना यह तो कोई व्यापारको सिद्ध नहीं करता। जैसे कहा—आकाश है, ना है म क्या व्यापार आया ? और देवदत्त करोति, देवदत्त करता है तो करनेमे व्यापार आया ना कुछ तो करना ही रहा। तो भवति अर्थ व्यापाररहित विशेषमे भी पाया जाता है अर्थात् निष्क्रिय पदार्थमें भी अस्ति भवति अर्थ लगता है इसलिए भवति अर्थमे क्रिया स्वभावपना नहीं हो सकता। यदि निष्क्रिय पदार्थमे क्रियास्वभावपना हो जाय तो फिर निष्क्रिय गुण आदिकमे सत्त्वका विनाश होनेसे भवनका भी अभाव हुआ, असत्त्वका प्रसंग आ गया अर्थात् फिर गुण आदिक कुछ न रहेंगे क्योंकि निष्क्रिय ही गुण हो सकता था। इस शंकापर समाधान दिया जाता है कि यह बात यों युक्तिसंगत नहीं कि जो आक्षेप प्रत्याक्षेप इस भवति अर्थमें दे रहे हो वह आक्षेप प्रत्याक्षेप करोति अर्थमें भी लग सकता है। यहां मीमांसकोंका यह कहना है कि करोति अर्थ तो क्रिया सामान्य है। चाहे कोई पूजता हो, पकाता हो, चलता हो, सबमें करना सामान्य पाया जाता है, पर भवति अर्थ क्रिया स्वभाव नहीं बन सकता, क्योंकि भवति अर्थ जब निष्क्रिय पदार्थमे भी पाया जाता है, आकाश है तो उसमें भवति और अस्ति ये तो पाये गए, मगर आकाशमें क्रिया भी है क्या ? कोई व्यापार नहीं। तो व्यापार रहित पदार्थोंमें भवति अर्थ पाया जाता है इस कारणसे भवति अर्थमें क्रिया स्वभाव नहीं है, यही इन भट्टोंका कहना है, तो यही बात करोति अर्थमे भी सम्भव है, परिस्पंदात्मक व्यापारसे रहित पदार्थमें भी करोति अर्थका सद्भाव है। जैसे एक प्रयोग किया कि तिष्ठति, वह बैठता है या ठहरता है तो इसको यों भी तो कह सकते कि स्थान करोति, मायने ठहरना कर रहा है और, भी उदाहरण बतावेंगे, पहिले तो इसीमें ही निरख लो, देवदत्त ठहरता है, तो ठहरनेमें व्यापार तो नहीं कुछ। चलने उठने बैठनेमें तो परिस्पंद है, पर गतिनिवृत्ति में, ठहरनेमें रुकनेमें तो क्रिया नहीं हो रही। तो इस ठहरता है क्रियाको यों भी कह सकते हैं ना, कि ठहरना करता है, स्थान करोति तो, करोति अर्थ तो लग गया मगर

क्रिया कुछ नहीं। तो करोति अर्थमें भी क्रिया स्वभावपना न आ सका। और भी देखिये गुण आदिक पदार्थमें भी कथंचित् करोत्यर्थ है, क्योंकि गुणादिकोमें करोत्यर्थ का अभाव माननेपर सर्वथा उसमें कारकत्वका अभाव होनेसे वे अवस्तु बन जायेंगे। आप तो यह मानते हो कि करोत्यर्थ सबमें है मगर गुणमें कहाँ करोत्यर्थ है? गुण तो है। कर्ममें ही तो क्रिया है। गुणमें क्या क्रिया? लेकिन यह तो विचारिये कि जिसमें अर्थक्रिया नहीं होती वह अवस्तु है यदि करोति अर्थ न रहा तो फिर वह कारक भी न रहा, तब वस्तु भी न रही।

करोत्यर्थमें सामान्यपना सिद्ध करनेके सम्बन्धमें शंका व उसका समाधान—अब भट्ट कहते हैं कि इसी कारणसे तो यह सिद्ध किया जा रहा कि करोति अर्थ व्यापक है, क्योंकि विद्यमान वस्तुमें सभी पदार्थोंमें करोति अर्थका सद्भाव है। अन्यथा अर्थात् करोत्यर्थका किसीमें सद्भाव न हो तो उस वस्तुमें अकारकपना आ गया। जब अवस्तु बन गया तब उसमें भवनपन भी न बन सकेगा। अर्थ क्रियाकारिता के बिना सत्त्व कहाँ ठहर सकता है? भवन क्रिया अर्थात् महा सत्ता आदिकका व्यवहार देखनेसे भी यह सिद्ध होता कि सत्ता तो करोति अर्थका विशेषण ही है। तब करोति अर्थमें ही सर्वत्र प्रधानता होनेसे वाक्यार्थपना आता है। तभी तो कह रहे हैं कि करोति अर्थ सर्वत्र व्यापक है। भट्टकी इस शंकापर उत्तर देते हैं कि यह बात युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि करोति सामान्य कोई नित्य है, एक है अनंश है, सर्वगत है इस सम्बन्धमें विचार करनेपर ऐसा कुछ भी सिद्ध नहीं होता। और नित्य एक निरंश सर्वगत सिद्ध हुए बिना सामान्य नहीं माना जा सकता।

भट्टद्वारा करोति सामान्यकी नित्यता सिद्ध करनेका प्रयास व उसका निराकरण—यदि कहो कि करोति अर्थ सामान्य नित्य तो है क्योंकि वह करोति अर्थ सामान्य प्रत्यभिज्ञायमान है, अर्थात् प्रत्यभिज्ञान द्वारा ज्ञेय हो रहा है शब्दकी तरह। जैसे—यह शब्द वही है जो कल बोला था। शब्दमें प्रत्यभिज्ञान चलता है। तो उस प्रत्यभिज्ञानके बलपर शब्द नित्य कहा जाता है इसी प्रकार यह करोति अर्थ सामान्य भी प्रत्यभिज्ञायमान है इस कारणसे वह भी नित्य है तो उत्तरमें कहते हैं कि यह बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि यहाँ हेतुमें विरुद्धता आती है जो सर्वथा नित्य माना जाय उसमें प्रत्यभिज्ञान नहीं बन सकता, कथंचित् नित्यमें ही प्रत्यभिज्ञानपना बन सकता है, सो कथंचित् नित्य मानना यह मीमांसक सिद्धान्तके विपरीत है। वहाँ तो सर्वथा नित्यकी ही प्रतिष्ठा की गई है। स्याद्वादका आश्रय तो नहीं। तो सर्वथा नित्यमें प्रत्यभिज्ञानकी गति नहीं होती। जैसे प्रत्यभिज्ञानका प्रयोग हुआ कि यह वही देवदत्त है जिसे गतवर्ष देखा था। तो देवदत्त यदि सर्वथा नित्य हो तो भी प्रत्यभिज्ञान नहीं बनता सर्वथा अनित्य हो तो भी प्रत्यभिज्ञान नहीं बनता। यह है तो वही जो गतवर्ष था और अब है। यों तो है नित्यता, परन्तु गतवर्षमें किस रूप वह था और किस

कैसे ज्ञानमे आ रहा था आज उसका अन्यरूप है तत् और इदके द्वारा ज्ञेयोमे कथचित् भिन्नता है। सो यह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण वहीं लग सकता है जो कथचित् नित्य हो। यदि करोति क्रिया सामान्यको कथंचित् नित्य भी नहीं मानते हो तो वह हेतु विरुद्ध है, सर्वथा नित्य पदार्थमें प्रत्यभिज्ञान प्रमाणका लगाव नहीं हो सकता है क्योंकि एकत्व प्रत्यभिज्ञानकी सकल यह है कि वह ही यह है सो वहाँ पूर्वपर्याय और उत्तर पर्यायमें व्यापी एक पदार्थमें ही तो कोई ज्ञान बना। यदि पूर्व उत्तर पर्याय न हो तो एकत्व कहाँ ठहरे, एकत्व न हो तो "तदेवेदम्" इस तरह वह और यहका वाक्य भी नहीं आ सकता है। तब प्रत्यभिज्ञान होता ही वहाँ है जहाँ कथंचित् नित्यपना हो। यहाँ यह सुझाव नहीं चल सकता कि ज्ञान ही पूर्वापरिभूत है पहिले ज्ञान था; अब आजका यह नया ज्ञान है तो ज्ञानमे पूर्वापर बन जाये। पदार्थको पूर्वापर माननेकी जरूरत तो नहीं है। ज्ञानगत धर्म पूर्वापरभूत है। पूर्व वर्षका ज्ञान तब था, अबका ज्ञान अब है और इन ज्ञानोके मेलोमें प्रत्यभिज्ञान बन जायगा, सो यह सुझाव नहीं चल सकता, क्योंकि पूर्वापर पर्याय रहित वस्तुमे पूर्वापर ज्ञानका विषयपना होना असम्भव है, वही वस्तु पहिले थी और वही वस्तु अब है। तो जब पूर्व और अपर ऐसे दो परिणमन वहाँ बने तब जाकर प्रत्यभिज्ञान बनेगा।

पूर्वापरभूत धर्ममात्रमे प्रत्यभिज्ञानकी अगति—यहाँ भट्ट पुनः शंका करता है कि तब तो फिर धर्मको ही पूर्वापरभूत मान लीजिए। ज्ञान धर्म या जो वस्तुमें समझमे आया हो वह धर्म पूर्व और अपर कालमें है। यों मान लीजिए। धर्म सामान्य मत मानो। यदि ऐसा सुझाव रखते हो तब यह बतलावो कि वह ही यह है ऐसी अभेद प्रतीति कैसे हो जायगी? अगर स्वतन्त्र स्वतंत्र ही धर्म पहिले और अब ऐसे दो हैं तो उनमें यह जुडाव कैसे बनेगा कि वह ही यह है, क्योंकि जो पूर्व और अपर स्वरूप है वह अतीत और वर्तमान है। तो इन दो रूपोमे तत्स्वभावसे तो अतीत स्वरूप को छुवा गया याने वह स्मरण ज्ञानके द्वारा छुवा गया अर्थात् जाना गया और इद इस शब्दसे जो कि वर्तमानका उल्लेख कर रहा ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानसे इदं जाना गया। किन्तु यदि विषयमें आये हुए पूर्व और अपर पदार्थमें धर्ममें परस्पर भेद हो गया तब फिर अभेदकी प्रतीति कैसे होगी? इस कारण धर्म ही पूर्वापर भूत नहीं किन्तु धर्म सामान्य द्रव्यत्वसे ठसी हुई वह पर्याय है और तब प्रत्यभिज्ञान बनता है।

करोति सामान्यको कथंचित् भिन्न अभिन्न मानकर प्रत्यभिज्ञानका विषय बनानेपर करोति सामान्यके सर्वथा नित्यत्वके सिद्धान्तका विघात—अब यहाँ भट्ट मीमांसक कह रहे हैं कि एक करोति सामान्यसे ही करोति सामान्यके पूर्व और अपरभूत धर्मोंमें कथंचित् भेद और अभेदकी प्रतीति होती है अतएव उसमें प्रत्यभिज्ञानपना बन जायगा। इसपर उत्तर देते हैं कि इस तरह कथंचित् भेद और अभेदकी प्रतीति बतानेसे यह सिद्ध हो गया कि करोति सामान्यमें कथंचित् अनित्यपना

है क्योंकि अनित्य स्वधर्मसे अभिन्न होनेसे करोति सामान्य भी अनित्य सिद्ध हो जाता है। यहाँ करोति सामान्यके पूर्व और अपरभूत धर्मोंमें कथंचित् भेद और अभेद मानते हैं तो जो अनित्य धर्मसे अभिन्न हो वह तो अनित्य ही कहलायेगा। अनित्यसे अभिन्नको नित्य ही कहना अयुक्त है अनित्यके स्वात्माकी तरह। अर्थात् अनित्यका स्वरूप अनित्यसे अभिन्न है तो स्वरूप भी अनित्य हुआ क्योंकि अनित्यके धर्मको नित्य नहीं कहा जा सकता है। यों ही करोति सामान्यका पूर्वापर धर्म अनित्य है तो अनित्य धर्मसे अभिन्न होनेके कारण करोति सामान्य भी अनित्य है, साथ ही यह भी विचारिये कि कोई यदि सर्वथा नित्य हो तो उसमें न तो क्रमसे अर्थ क्रिया बन सकती है और न एक साथ अर्थक्रिया बन सकती है। नित्यमें यदि क्रमसे अर्थक्रिया मानी जाय तो वह नित्य क्या रहा क्योंकि उसमें समय समयमें अनेक रूप होते जा रहे हैं और नित्यमें यदि एक साथ अर्थक्रिया माना जाय तो त्रिकालमें जितने भी परिणमन हैं वे सब परिणमन एक साथ क्यों नहीं हो जाते? तो सर्वथा नित्य वस्तुमें न तो क्रमसे अर्थ क्रिया बनती है और न एक साथ ही अर्थ क्रिया बनती है, इस तरह वह सामान्य अनित्य सिद्ध हुआ। प्रयोग भी है कि वह सामान्य अनित्य है क्योंकि पर्यायार्थिकनयसे भेद कथन होनेसे, शब्दकी तरह। जैसे शब्द पर्याय दृष्टिसे भेदरूप है और अनित्य है उस ही प्रकार सामान्य भी अनित्य है। तथा इसी विधिसे करोति सामान्य अनेक भी है शब्दकी तरह।

करोति सामान्यके एकत्वकी मीमांसा— अब यहाँ भट्ट कहता है कि करोति इस प्रकारके स्व प्रत्ययका अविशेषपना होनेसे अर्थात् सभी व्यक्तियोंमें याने क्रियाविशेषोंमें करोति अर्थकी समानता होनेसे करोति सामान्य एक ही है और सद्भूत है। यों स्वप्रत्ययकी अविशेषतासे जैसे एक सत्ता सामान्य एक है क्योंकि सबमें सत् सत् समानरूपसे प्रत्यय होता रहता है। तो सबमें सत् सामान्यका बोध होनेसे वह सत् एक है। इसी प्रकार करोति सामान्य भी सर्वत्र करोति अर्थके प्रत्ययकी अविशेषता होनेसे एक सिद्ध हो जायगा। इस शंकापर उत्तर देते हैं कि यह बात यों युक्तिसंगत नहीं है कि हेतुकी याने स्वप्रत्ययकी अविशेषताकी सिद्धिका कोई प्रमाण नहीं है अर्थात् करोति सामान्यमें स्वप्रत्ययकी अविशेषता है यह बात असिद्ध है। इसका कारण यह है कि पर्यायार्थिक नयसे भेदका भी तो कथन होता है। करोति अर्थकी व्यक्तिके प्रति करोति इस प्रत्ययकी विशेषता होनेसे अर्थात् घटको करता है, पटको करता है, इस तरह करनेमें भी तो भेद होनेसे वहाँ करोति प्रत्ययकी अविशेषता तो न रही। जैसे प्रत्येक पदार्थ अपनी भावान्तर सत्तासे है तो प्रति व्यक्तिमें सत् सत् जो प्रत्यय हो रहा है सो उसके स्वरूपसे, वह सत् जैसा है वैसा अन्यके स्वरूपका सत् तो नहीं है। तो प्रतिव्यक्तिमें भी सत् प्रत्ययकी विशेषता पाई जा रही है। यों ही प्रत्येक क्रियामें करोति प्रत्ययकी विशेषता पाई जा रही है। घटका करना, पटका करना ये सब करनेकी विशेषतायें हैं। यदि कहो कि वे भिन्न-भिन्न घटकरण, पटकरण आदिक व्यक्ति विषयक जो करोति अर्थ है वह तो विशेष प्रत्यय है। हम तो करोति सामान्यकी बात

कह रहे हैं कि करोति सामान्य एक है। करोति विशेष प्रत्यय भले ही अनेक बने रहे पर इससे करोति सामान्यकी एकताका घात नहीं होता है। तो उसके उत्तरमे कहते हैं कि फिर तो घट-पट आदिक रूप पदार्थ व्यक्तियाँ सामान्यसे सर्वथा यदि भिन्न कहा जाते हैं तब तो इसमें यौग मतका प्रवेश हो गया। यौग उन घट पट आदिको करोति सामान्यसे सर्वथा भिन्न मानते हैं सो यह प्रसग मीमासकोके आयगा। यदि उस सामान्यसे व्यक्तियोको कथचित् अभिन्न मानते हो तब तो सिद्ध हो गया कि सामान्य विशेष प्रत्ययका विषयभूत है क्योंकि विशेष प्रत्ययके विषयभूत विशेषोंसे सामान्यको कथचित् अभिन्न मान लिया गया है तो कथचित् विशेषोंसे जो अभिन्न है ऐसे सामान्योमे विशेष प्रत्ययकी विषयता बन ही जाती है। जैसे कि विशेषका स्वरूप विशेषसे अभिन्न है तो वह विशेष प्रत्ययका विषयभूत होता ही है। इससे सिद्ध हुआ कि करोति सामान्य अनेक ही है, जितने विशेष हैं उतने ही सामान्य होते हैं। यो करोति सामान्य एक न रह सका। करनेकी जितनी विशेषतायें हैं, जितने प्रकार हैं उतने ही प्रकारके करोति सामान्य बन जायेंगे सत्ता सामान्यकी तरह। जैसे जितने व्यक्ति हैं, पदार्थ हैं उतने ही वे सत् कहलायेंगे। तब करोति सामान्य एक है यह सिद्ध न हो सका। जब करोति सामान्य न नित्य सिद्ध हुआ, न एक सिद्ध हुआ फिर इसमे सामान्यपना कैसे रह सकता है? जो एक हो, नित्य हो, अनश हो, सर्वव्यापक हो वही तो नित्य कहा जा सकता है। तो करोत्यर्थकी नित्यता और एकता तो रही नहीं।

करोतिसामान्यकी अनशताकी मीमासा—अब करोत्यर्थ सामान्यकी अनशतापर विचार किजिए। करोति सामान्य अनश भी नही है क्योंकि उसमें कथचित् सांशपनेकी प्रतीति हो रही है। देखिये! जो अवयव सहित घट पट आदिक हैं, जो कि प्रकट भिन्न-भिन्न हैं उनसे अभिन्न है वह सामान्य। तो जो अवयवोसे अभिन्न हो वह भी तो अवयवके धर्मरूप बनेगा। घट सामान्य विशेषोसे भिन्न तो नहीं है। करोति सामान्य जो घट पट आदिक किये जा रहे हैं उन घट पटोसे भिन्न तो नही है, किया जाता तो करोति सामान्य सावयक घट पट आदिकसे अभिन्न हानेके कारण करोति सामान्यमे भी साशता आ गयी, भेद आ गया घट पट आदिकके स्वरूपकी तरह जैसे घट पट सावयव हैं तो बताओ घट पटका स्वरूप सावयव है या नहीं? वह भी सावयव है क्योकि घट पटका स्वरूप सावयव घट पटमे कहीं अलग नहीं है। तो इस तरह करोति सामान्यमें अशता भी सिद्ध नही होती। जब करोति सामान्य सावयव हो गया तो जो सावयव है वह सामान्यरूप नहीं हो सकता। तो यों करोति सामान्यरूप न रह सका।

करोतिसामान्यकी सर्वगतताकी मीमांसा— अब करोति सामान्यकी सर्वगतता पर विचार कीजिए। करोति सामान्य सर्वगत भी नहीं है क्योंकि घट पट आदिक क्रियमाण व्यक्तियोंके अन्तरालमें पाया नही जाता। जो पदार्थ किए जा रहे हैं

वे पदार्थ जहाँ जहाँ ठहरे हैं। उनके बीचमें अन्तराल भी है, घट इस कमरेमें किया जा रहा है और पट उस कमरेके दूसरे कोनेमें किया जा रहा है। तो करोति सामान्य यदि सर्वव्यापक होता तो बीचमें भी करोति सामान्य पाया जाना चाहिये था। जैसे आकाश सर्वव्यापक है तो सब जगह पाया जाता है। उसका कहीं अन्तराल नहीं है। यदि करोति सामान्य सर्वव्यापक होता तो दुनियामें जितने भी पदार्थ क्रियावान हो रहे हैं, उन पदार्थोंके बीचमें भी करोति क्यों रह रहा है? अन्तरालमें क्यों नहीं पाया जाता? तो घट पट आदिक व्यक्तियोंके अन्तरालमें न पाया जानेसे करोति सामान्य सर्वगत भी नहीं सिद्ध होता। यहाँ भट्ट कहते हैं कि करोति सामान्य है तो सर्वगत, पर अन्तरालमें अभिव्यक्त न होनेसे उसकी उपलब्धि नहीं होती है, अर्थात् करोति सामान्य सब जगह है। यहाँ घट बन रहा है और दूसरे कमरेमें पट बन रहा है तो करोति सामान्य तो सब जगह है पर उस बीचमें व्यक्त नहीं हो रहा है, करोति सामान्य, तो अव्यक्त होनेके कारण करोति सामान्यकी घट पट आदिक व्यक्तियोंके अन्तरालमें उपलब्धि नहीं होती है। इसपर उत्तर देते हैं कि फिर तो उस ही कारण अर्थात् अनभिव्यक्ति होनेसे व्यक्तिकी स्वात्माका भी अनुपलम्भ हो जाय। हम घट पट आदिक विशेष पदार्थोंके स्वरूपमें भी यह कह डालेंगे कि ये घट पट आदिक व्यक्तिगत पदार्थ भी सर्वगत हैं। सब जगह ठसाठस एकरूपसे मौजूद हैं लेकिन अन्तरालमें उन पदार्थोंकी अभिव्यक्ति नहीं है इस कारण वे उपलब्ध नहीं होते, और यों हम इन सब पदार्थोंमें भी सर्वगतपना सिद्ध कर डालेंगे लेकिन ऐसा तो स्वीकार नहीं किया जा सकता है। तो जैसे घट पट आदिक पदार्थोंको अन्तरालमें नहीं माना जा सकता है इसी तरह घट पट आदिक व्यक्त पदार्थोंके आश्रय जो क्रियमाणता हो रही है, करोति अर्थ उपयुक्त हो रहा है वह करोति सामान्य भी उन व्यक्तियोंको छोड़कर व्यक्तियोंके अन्तरालमें नहीं सिद्ध हो सकता है। जहाँ पदार्थ किये जा रहे हैं जिन क्षेत्रोंमें, जिन अपने अवयवोंमें पदार्थमें अर्थक्रिया बन रही है उसमें ही करोति सामान्य जाना जा सकता है बाहर नहीं। तो इस तरह करोति सामान्य सर्वव्यापक सिद्ध न हो सका तो वह सामान्य भी नहीं बन सकता है।

व्यक्त्यन्तरालमें विशेषवत् सामान्यके सद्भावकी असिद्धि निवारण करनेका शंकाकारका असफल प्रयास—अब यहाँ भट्ट मीमांसक कहता है कि अन्तरालमें व्यक्तियोंका याने बीचके रिक्त स्थानमें पदार्थ विशेषका सद्भाव सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। इस कारण व्यक्तिके अन्तरालमें व्यक्तिका असत्त्व होनेके ही कारण अनुपलब्धि है, अभिव्यक्ति न होनेसे अनुपलब्धि है, यह बात नहीं है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि इस तरह फिर सामान्यका भी सद्भाव बताने वाला प्रमाण नहीं है, इस कारण असत्त्व होनेसे ही व्यक्तियोंके अन्तरालमें सामान्यकी अनुपलब्धि बनेगी, क्योंकि जो बात व्यक्ति विशेषमें कह रहे हो, व्यक्तिके अन्तरालमें असत्त्व सिद्ध करनेके लिए, वह ही बात सामान्यके सम्बन्धमें भी लगेगी, अर्थात् घट पट आदिक जो वस्तु-

भून पदार्थ हैं व्यक्ति हैं उनके अन्तरालमे सामान्यकाभी सद्भाव सिद्ध करने वाला प्रमाण न होनेसे उसकी अनुपलब्धि सिद्ध होती है। और, प्रत्यक्षसे भी ऐसा अनुभव नही होता कि व्यक्तिके मध्यमे कोई सामान्यका सत्त्व है जैसे खरविषाण असत् है इसीप्रकार व्यक्तियोको छोडकर व्यक्तिके बीचमे सामान्य असत है। यहाँ यह प्रसग छिडा है कि जैसे १००गायें हैं। अब वे गायें मान लो २, ३, ४, खेतोमें खडी हैं, अब जो खडी हैं वे गायें तो गाय विशेष कहलाती हैं और उन सब गायोमे यह भी गाय है, यह भी गाय है इस प्रकारका जो बोध होता है जिस गोत्वकी सदृशतामे, वह कहलाता है गोत्व सामान्य। तो मीमासक सामान्यको व्यापक मानते हैं व एक मानते हैं, सामान्य एक है और सवव्यापक है। तो यहाँ यह पूछा जा रहा है कि सामान्य यदि सवव्यापक है तो जो गायें खडी हुई हैं उनमे एक गाय और दूसरी गायके बीचमें जो जगह पडी है जहाँ कोई गाय नही है वहाँ भी गोत्व सामान्य होना चाहिए, पर वहाँ तो नही है गोत्व सामान्य। गायमे ही गाय सामान्य पाया जाता है। इसपर मीमांसकोने यह कहा था कि गोत्व सामान्य तो बीचमे भी सब जगह एक पडा है मगर प्रकट नही हो पा रहा है इसलिए असत् है। तो यो तो यह भी कहा जा सकता है कि कोई व्यक्ति भी सब जगह भरे पडे हैं, पर बीचमे प्रकट नही हो रहे इसलिए नही दीखते। इसपर मीमासकोने यह कहा है कि गाय व्यक्ति विशेष तो अन्तरालमे असत् ही है इसलिए अनुपलब्धि है। तो यही बात गोत्व सामान्यके लिए भी है कि गायें खडी हैं वहाँ अन्तरालमे गोत्व सामान्य असत् है इसलिए गोत्व सामान्यकी उपलब्धि नही है। ऐसा नही है कि गोत्व सामान्य हो और अभिव्यक्ति नही है इस कारण उपलब्धि है। प्रत्यक्षसे भी ऐसा अनुभव नही होता कि व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्य सत्त्वरूपसे पाया जाता है।

व्यक्त्यन्तरालमे सामान्यका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये शकाकार द्वारा प्रस्तुत अनुमान - अब यहाँ तर्क करते हैं कि उन व्यक्तियोंके अन्तरालमे सामान्य है, यह बात अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होती है। प्रयोग है कि व्यक्तियोके अन्तरालमें सामान्य है क्योकि एक साथ भिन्न देशमे अपने आधारमे रहते हुए भी एक होनसे, बाँसकी तरह। जैसे १० खम्भोपर एक बाँस पडा हुआ है तो यह बाँस एक है क्योकि एक साथ भिन्न देशमे रह रहा है लेकिन अपने ही आकारमे रह रहा है और एक है। इसी तरह सामान्य भी एक साथ भिन्न देशमें रह रहा है, पर वह अपने ही आधारमे रह रहा है और एक है-इस कारणसे व्यक्तियोके वस्तुवोके अन्तरालमे भी सामान्य बराबर मौजूद है। इस अनुमानसे तो सब जगह सामान्यके सद्भावकी सिद्धि हो जायगी और देखिये हमने इस अनुमानमे जो हेतु दिया है वह कितना पुष्ट है। यदि हम हेतुके विशेषणको न देकर केवल इतना ही कहते कि व्यक्तियोके अतरालमे सामान्य है एकपना होनेसे तो इतना कहनेपर किसी भी एक वस्तुके पुरुषके जैसे मानो देवदत्त नामका ही पुरुष है, उसीके साथ व्यभिचार हो जायगा, क्योकि एक तो वह भी है

और जो एक हो वह व्यक्तिके अन्तरालमें होना चाहिए। तो इस व्यभिचारके परिहार के लिए हे, मैं हमने यह विशेषण दिया है कि अपने आधारमें रहता हो स्वाधार वृत्तिपना हो, अब आगे देखिये! यदि हम इतना भी हेतु दें कि व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्य है क्योंकि अपने आधारमें रहते हुए वह एक है तो हेतुका इतना रूप बनानेपर भी एक वस्त्रपर बैठे हुए उस देवदत्तके ही साथ व्यभिचार हो जाता है। अर्थात् वह देवदत्त अपने ही आधारमें बैठा हुआ है और एक है तो वह भी व्यक्तिके अन्तरालमें सद्भूत सिद्ध हो जाता है सो उस व्यभिचारकी निवृत्तिके लिए भिन्न देश विशेषण दिया है कि व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्य है, क्योंकि भिन्न देशमें अपने ही आधारमें रहकर एक होनेसे। तो वह देवदत्त भिन्न देशमें तो नहीं रह रहा इस कारण देवदत्तके साथ हमारे हेतुका व्यभिचार न होगा। अब और भी सुनो! यदि हमने हेतुमें ये दो विशेषण ही दे दिया कि व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्य है क्योंकि भिन्न देशमें अपने ही आधारमें रहकर एक होनेसे तो इतना कहनेपर व्यभिचार आता है कि वही देवदत्त क्रमसे अनेक आसनों पर बैठ जाय तो वह देवदत्त भी देखिये भिन्न देशमें और स्वके ही आधारमें रहकर एक है ना, तो वहाँ पर भी साध्य घटित हो जाना चाहिए। सो उस व्यभिचारके दूर करनेके लिए हेतुमें युगपत् यह विशेषण दिया है तो अब हेतुका अन्तिम समग्ररूप यह हुआ कि व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्य है क्योंकि एक साथ भिन्न देशमें अपने ही आधार में रहता हुआ वह एक है तो इस हेतुसे व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्यकी सिद्धि हो जाती है।

व्यक्त्यन्तरालमें सामान्यका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये दिये गये हेतु की असिद्धि—उक्त शंकाकार उत्तर देते हैं कि इस तरह अपने मन-माफिक कुछ भी कहने लगना यह तो अपने घरकी बात है, पर युक्तिसंगत नहीं हो सकती क्योंकि आपके द्वारा दिये गए हेतुको प्रतिवादी तो नहीं मानता। स्याद्वादी और अन्य सिद्धान्तके लोग भी सामान्यका एकत्व स्वीकार नहीं करते। तो जब हेतु ही प्रतिवादी नहीं मान रहा तब फिर हेतुका विशेषण देकर सोचना और उससे अपने मन चाहे साध्यकी सिद्धि करना यह कैसे युक्त होगा? और भी देखिये! जिस तरह कि छप्पर आदिकमें अथवा दो तीन खम्भे खड़े हैं उन खम्भोंपर एक बाँस रखा है तो उस घटनामें उन अनेक खम्भोंकी जगहमें जैसे वह बाँस एक है, यह प्रतीत होता है, इस तरह भिन्न देश में रहने वाले व्यक्तियोंमें सामान्य एक है यह बात प्रतीत नहीं होती। जिससे कि फिर आप जो अपना हेतु दिये जाते हैं कि एक साथ भिन्न देशमें अपने ही आधारमें रहकर एकत्व है वह सामान्यको सिद्ध करता हुआ अपने आधारके अन्तरालमें अस्तित्वको सिद्ध कर सके। अब उक्त अनुमान देना, हेतु बताना सब असंगत है। देखिये! प्रत्येक व्यक्तिमें सदृश परिणमनरूप सामान्यका भेद पाया जाता है। अर्थात् सदृश परिणमन हो तो सामान्य है और वह सामान्य व्यक्तिमें ही पाया जा रहा है। व्यक्तिको छोड़कर अन्य जगह नहीं है। जैसे एक गाय खेत पर खड़ी है बीचमें एक गाय खड़ी है। और

तीसरे खेतपर एक गाय खड़ी है, तो अब गाय सामान्यपना उन दोनो गायोमे पाया जा रहा है मगर जितने निज निज क्षेत्रमे भी गायें हैं उतने ही क्षेत्रमे वह सामान्य है न कि बीचके खेतमे भी गोत्व सामान्य पड़ा हो, सारी दुनियामे वह गोत्व सामान्य व्यापक हो ऐसा नही है। तो प्रत्येक व्यक्तियोमे सदृश परिणामरूप सामान्य भिन्न-भिन्न रूपसे पाया जाता है जैसे कि प्रत्येक व्यक्तिमे विसदृश परिणामरूप विशेष भिन्न-भिन्न रूपमे पाया जाता है गोत्व सामान्य और गो विशेष—गो विशेष भी तो जितनी गौवें हैं और उसका आकार क्षेत्र, प्रकार है उतनेमे ही तो पाया जा रहा है सो इस ही तरहगोत्व सामान्य भी वहाँ जितनेमे गौ है उतनेमे ही तो पाया जाता है, सामान्य हुआ सदृश परिणामरूप। और विशेष हुआ विसदृश परिणामरूप। सो सदृश परिणाम भी प्रति-व्यक्तिमे भी है, व्यक्तिके अन्तरालमे नही है और विसदृश परिणाम भी प्रत्येक व्यक्तिमे है। व्यक्तिके अन्तरालमे नही है

विशेषको तरह सामान्य भी व्यक्त्यन्तरालमे न पाया जानेसे सामान्य की सर्वंगतताकी असिद्धि—विशेषकी तरह सामान्य भी पदार्थके अन्तरालमें नही है इस बातको अब स्पष्टरूपसे समझिये कि जैसे ही कोई व्यक्ति घट पट आदिक रूप कुछभी पदार्थ जो उपलभ्यमान है वह मुकुट आदिक पदार्थोंसे भिन्न है और ऐसी भिन्नता विसदृश परिणामके देखनेमे बिल्कुल युक्त प्रमाणित होती है उस ही तरह सदृश परिणमन देखनेमे कोई वस्तु किसी वस्तुके समान है इस प्रकारका निश्चय होता है सो यह भी बाधारहित ही है। जैसे कि घट पट मुकुट आदिक अनेक पदार्थोंमे भिन्नता समझमे आती है ना। घट है सो मुकुट नही मुकुट है सो घट नही। सो यह विशिष्ट भिन्नता क्यो समझमे आ रही कि उन दोनोका परिणाम आकार विसदृश है। मुकुटका ढग और है और घटका पटका ढग आकार और है ऐसा विसदृश परिणाम देखनेमे वह व्यक्ति यानि पदार्थ अपने ही क्षेत्रमे है, व्यक्तिके अन्तरालमे नही है और उसकी सिद्धि विसदृश परिणाम देखनेसे होता है। यही बात सामान्यके अवबोधमे है, बहुत सी गायें खडी हैं तो उनमे सदृश परिणमन देखनेमे ये कई गायें एक दूसरी गायोके समान हैं, ऐसा वहाँ जो निश्चय हो रहा है वह भी बाधारहित है और उसमे फिर यह ज्ञात होता है कि यह उसके समान है, वह उसके समान है, ऐसा जो समानता का बोध होता है उसे ही तो सामान्यका प्रतिभास कहते है चाहे समानता कहो चाहे सामान्य कहो, समानके भावको सामान्य कहते हैं और समानके भावको समानता कहते हैं तो सामान्य और विशेष दोनोकी स्थिति समान है। सामान्य तो है सदृश परिणमनके देखनेके आधारपर और विशेष है विसदृश परिणमनके देखनेके आधारपर। सो जैसे विशेष व्यक्तियोके अन्तरालमें नही है उसी तरह सामान्य भी व्यक्तियोके अन्त-रालमे नहीं है। और, जब सामान्य इस तरह सर्वंगत न बन सका तो जिस प्रकरणमे करोति सामान्यको सब क्रिया विशेषोमें व्यापी सिद्ध कर रहे थे उस प्रकार करोति सामान्य भी व्यापक न बन सकेगा।

व्यक्त्यन्तरकी जानकारी न करने वाले पुरुषको एक पदार्थके देखनेपर समानता ज्ञान न होनेके कथनकी पृच्छनापर विसदृशतामें अविशेष उत्तर—

जैसे कि घट पट आदिक कोई पदार्थ उपलब्ध हो तो वह अन्य पदार्थोंसे तो विशिष्ट है अर्थात् भिन्न है यह बात कैसे जानी ? यों कि उसका अन्य पदार्थोंसे विसदृश परिणमन देखा गया। तो जैसे विसदृश परिणमन देखनेसे अन्य व्यक्तिसे भिन्न कोई पदार्थ उपलभ्यमान ज्ञात होता है उसी प्रकार सदृश परिणमन देखनेसे कोई पदार्थ किसी पदार्थके समान है ऐसा निर्णय होता है क्योंकि वहाँपर यह उसके समान है वह उसके समान है, ऐसा समानताका बोध होता है, इस कथनपर अब यहाँ भट्ट शंकाकार कहता है कि यह तो बताओ कि जिस पुरुषने रहने किसी अन्य पदार्थ का अनुभव नहीं किया उसको एक ही पदार्थके देखनेपर समानताका ज्ञान क्यों नहीं होता ? क्योंकि सदृश परिणमनका सद्भाव तो सदा ही है। जैसे कि एक बालकने रोझको कभी नहीं देखा नहीं जाना, अब उस गायके देखनेपर ऐसा ज्ञान क्या नहीं होता कि यह गाय रोझके समान है क्योंकि सदृश परिणमन तो सदैव गायोंमें रह रहा। जैसा रोझ होता है उसी प्रकारका परिणमन गायमें तो सदैव है ना, फिर उसे क्यों नहीं बोध होता ? इस शंकापर समाधान दिया जाता है कि फिर यह तुम बताओ कि तुम्हारे यहाँ भी जिस पुरुषने किसी अन्य वस्तुको नहीं जाना है उसको एक वस्तुके देखनेपर यह उससे विलक्षण है, ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होता ? जैसे कि किसीने भैंसको देखा ही नहीं, उस पुरुषको गायके देखनेपर यह ज्ञान क्यों नहीं होता कि यह गाय भैंससे विलक्षण है क्योंकि वैसादृश्य तो सदा गायमें मौजूद है। जिसने भैंस नहीं देखी उस पुरुषको भी गायमें विसदृशताका बोध हो जाय क्योंकि विसदृशता गायमें सदा है, कोई जाने या न जाने ?

विसदृशताके बोधकी भांति सदृशताके बोधकी परापेक्षता

अब अनी शंकाका दोष मिटानेके लिये भट्ट कहता है कि बात यह है कि विसदृशताका बोध तो परका अपेक्षा रखता है। जब वह भैंसका जान तब ही तो यह ज्ञान कर सकेगा कि यह गाय भैंससे विलक्षण है। तो वैसादृश्यका ज्ञान परकी अपेक्षा रखता है। इसपर समाधान करते हैं कि तब परापेक्ष होनेसे ही उस एक गायके देखनेसे सादृश्यका ज्ञान भी न होगा। जिस पुरुषने किसी अन्य सदृशको जाना हो नहीं तो उसको एक पदार्थके देखनेपर (जैसे गायके देखनेपर) उसे यह समानताका बोध नहीं होता। यह गाय गायके सदृश है ऐसा सदृशताका बोध होनेका कारण यह है कि सदृशताका बोध परापेक्ष होता है। सदृशताका बोध परापेक्ष न हो ऐसा तो है नहीं, क्योंकि परापेक्षाके बिना कभी भी किसी भी समय सदृशताका बोध नहीं होता। जैसे ये दो केला हैं तो द्वित्व संख्याका ज्ञान परापेक्ष है कि नहीं ? ये केला ७ हैं, यह कब बताया जा सकता जब उन ७ केलोंको एक एक करके जानकर गिनती करें तो जैसे यह द्वित्वादिक संख्या परापेक्ष है तो यह द्वित्वादिकका ज्ञान परापेक्ष है। और जैसे यह दूर है यह

निकट है इस प्रकारका ज्ञान परापेक्ष है इसी प्रकार सदृशताका भी ज्ञान परापेक्ष है।

वस्तुधर्मोका द्वैविध्य—वस्तुके धर्म दो प्रकारके होते हैं एक परापेक्ष दूसरा परानपेक्ष। जैसे कि रूप रस, गध आदिक और मोटा पतला आदिक। इनमे रूप रस गध आदिक तो परकी अपेक्षा न रखने वाले धर्म हैं। रूपज्ञान रसज्ञानकी अपेक्षा नही रखता। न हो रसका ज्ञान, रूपका ज्ञान हो जाता है। अन्य पदार्थका न भी हो ज्ञान पर जिसके सम्बन्धमे रूपादिक जानने है ज्ञान लिए जाते है। तो रूपादिक धर्म परापेक्ष नही हैं तथा मोटा पतला आदिक धर्म ये परापेक्ष है। किसी पुरुषको कोई मोटा कब कहेगा, जब उसकी दृष्टिमें कोई अन्य पतला पुरुष हो अथवा उसके बुद्धिमे हो। तो दो प्रकारके धर्म हो गए—एक परापेक्ष एक परानपेक्ष। तो सदृशताका धर्म भी परापेक्ष धर्म है इसी कारण जिस पुरुषने दूसरे सदृशतास साधन व्यक्त्यन्तरका अनुभव नही किया उसको एक व्यक्तिके देखनेपर सदृशताका बोध नही होता।

सदृशतमे एकत्वके कथनका हेतु उपचार अब शंकाकार कहता है कि सादृश्य धर्म तो सामान्य है, जैसे सास्ना हुआ। गाय बैलोके गलेसे नीचे जो लटकता रहता है उसका नाम सास्ना है। तो सास्ना आदिक होना यह गोत्व सामान्य है। तो सामान्य सादृश्यके होनेपर यह बतलाओ कि चितकबरी गायको देखकर सफेद गायको देखने वाले पुरुषके यह वही गौ है ऐसा ज्ञान कैसे घटित होगा इसके उत्तरमे कहते है कि एकत्वके उपचारसे यह बात घटित हो जायगी। चितकबरीके समान सफेद गाय है ऐसा एकत्वका उपचार करनेसे यह वही गौ है ऐसा ज्ञान हो जाता है। एकत्व दो प्रकारका होता है याने एकपना एक होना यह दो प्रकारसे होता है। एक तो मुख्य और एक उपचरित। मुख्य तो आत्मा आदिक द्रव्योमे है। जैसे आकाश एक है, यह उपचरित कथन तो नही है, यह मुख्य एक है। आत्मा एक है, यह उपचरित कथन तो नही है, यह मुख्य एक है। मीमांसक सिद्धान्तमें आत्माको एक माना गया है उसीका ही दृष्टान्त देकर समाधानसे कर रहे हैं। तो कोई तो मुख्य एकत्व होता है और कोई उपचरित एकत्व होता है उपचरित एकत्व सादृश्यमें होता है। जो चीज एक दूसरेके समान हो उसे भी यही कहते कि यह वही है। जैसे एक ही आकारकी, एक ही कम्पनीकी, एक समान अनेक घडियां हैं, उनमेसे किसी घडीको देखकर यह कहते कि इसकी और हमारी ये घडी एक ही है तो वहाँ उपचरित एकत्व है। अब गोत्व लक्षण तो मुख्य है। और वहाँ चितकबरी और सफेद गायमे मुख्य एकत्व मानने पर फिर यह उसके समान है, यह ज्ञान कैसे हो सकेगा? कोई चितकबरी गायको देखकर यह अन्य गायकी तरह है ऐसा ज्ञान करता है तो वह कैसे हो जायगा? एक ही गाय जातिमें रहने वाली अनेक गायें वस्तुतः एक ही तो हैं नही समान पर उनमे जो मुख्य एकत्व मान लिया जाय कि सब एक ही है तब फिर उनके सम्बन्धमे यह ज्ञान कैसे हो सकेगा कि यह उसके समान है।

सामान्यके सम्बन्धसे एकत्व प्रत्ययहोनेकी असिद्धि–भट्ट कहते हैं कि जब सबल और धवल गायमें एकत्व सामान्यका सम्बन्ध है एक ही गोत्व पाया जाता है इस कारणसे सबल और धवल गायोंमें समानताका बोध हो जायगा। उत्तरमें कहते हैं कि यदि एक सामान्यके सम्बन्धसे उनमें कुछ ज्ञान माना जा सकता है कि ये दोनों सामान्य वाले हैं सबल गाय और धवल गाय। इनमें है गोत्व सामान्यका सम्बन्ध। तो गोत्व सामान्यका सम्बन्ध होनेसे यह ज्ञान बनेगा कि यह सबल गाय गोत्व सामान्य वाली है, धवल गाय गोत्व सामान्य वाली है पर उनके बारेमें यह उसके समान है ऐसा ज्ञान नहीं बन सकता। और, यदि कहो कि उन सबल और धवल गायोंमें अभेद का उपचार हो जायगा तो अभेदका उपचार होनेपर सामान्य और सामान्य वालेमें यह सामान्य है इस तरहका ज्ञान बनेगा पर यह ज्ञान न बन सकेगा कि यह उसके समान है। जैसे कोई पुरुष लाठी लिए हुए है तो लाठीके सम्बन्धसे पुरुषमें यदि अभेद उपचार किया जाता है तो यही तो कहा जायगा कि लो अब लाठी आयी। पर यह न कहा जायगा कि यह पुरुष लाठीके समान है। जैसे कोई पुरुष केला बेचने वाला पुरुष केले की आवाज देता जा रहा है तो अब केलेका साहचर्य होनेसे उस पुरुषमें यदि अभेदका उपचार किया जा रहा है तो अब केलेका साहचर्य होनेसे उस पुरुषमें यदि अभेदका उपचार किया जायगा तो कहा जा सकेगा कि ए केला आवा। यह केला गया, पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह पुरुष केलेके समान है।

मृण्मय गायमें गोसादृश्यका सद्भाव अभाव माननेका विवरण—अब शंकाकार कहता है कि अच्छा यह बताओ कि एक मिट्टी की गाय बनाई। अब वह मिट्टीकी गाय सत्य रोझके समान है। जैसा आकार–प्रकार सत्य रोझका है वैसा ही इस गायका है। अब उस रोझके समान हो गई ना यह मिट्टीका गाय! तो इसमें यो सादृश्यकी समानता आ गयी। तो गो सादृश्य सामान्यके होनेपर उस मिट्टीकी गायमें गोत्व जातिका प्रसंग आ जायगा। लो अब यह मिट्टीकी गाय भी गो जातिका पदार्थ बन गया। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह बात यों ठीक नहीं है कि सत्य गवय के व्यवहारके कारणभूत सदृशताका उस मिट्टी वाली गायमें अभाव है। यदि मिट्टी वाली गायमें उस सादृश्यका सद्भाव हो तो वह मिट्टी वाला गाय भी सत्य गाय कहलायेगी। रही भाव गौकी बात अथवा परिणाममें यह आया कि यह गौ है और लोग कहते भी हैं कि गौको खरीदो! तो भाव गौकी बात भाव गौ आदिकके साथ जो स्थापना गौ आदिककी सदृशता है वह तो केवल गौ आदिक व्यापारोंका कारणभूत और उस भाव गौके साथ एक जाति है जिसकी ऐसा स्थापना गौके ज्ञानका कारणभूत है सत्वादिक सादृश्यकी तरह। अर्थात् मिट्टीकी गायमें और सचमुचकी गायमें जो सदृशता है वह केवल आकार और एक गौ नाम धारण करनेके लिये है न कि इस सदृशताके कारण मिट्टीकी गायसे भी दूध निकलने लगे। मिट्टीकी गाय, सचमुचकी गायके समान तो है मगर यह समानता किस सीमामें है? एक आकार–प्रकार आदिक

देशकी सीमामे है। यह कभी दूध दुहने जैसी अर्थक्रिया करनेकी सदृशतामे नही है।

करोति सामान्यमे शब्दकी अविषयत्वकी सिद्धि—उक्त प्रकार मीमांसक के द्वारा माने गए स्वभाव सदृशता वाले करोति सामान्यकी उपपत्ति न होगी, जो कि समस्त यजनादिमान क्रियाविशेषमे व्यापकर रहने वाले कर्ताके व्यापाररूप भावनाको बताना हुआ उस वेदवाक्यका विषयभूत हो सके अर्थात् प्रतिपादन कर सके। यदि यह कहो कि प्रतिनियत क्रियामे प्राप्त हुआ अर्थात् करोति क्रियाविशेषमे आया हुआ जो करोति सामान्य है वह है शब्दका विषय तब फिर हम यह कहे तो कौन निवारण कर सकता कि भाई यज्यादिक सामान्य है और वह है शब्दका विषय। इसका कौन निवारण कर सकता है जिससे कि वह यजन सामान्य भी वाक्यका अर्थ न हो जाय। जैसे कहते हो कि श्रुतिवाक्यका अर्थ करोति सामान्य है इसी प्रकार यजन सामान्य वाक्यका अर्थ हो जायगा। तो इस तरह यह भावना वाक्यका अर्थ है ऐसा जो सम्प्रदाय है, अभिमत है वह सही नही है, क्योंकि इसमें बाधक तत्वका सद्भाव है, नियोगादिक वाक्यार्थ सम्प्रदायकी तरह।

श्रुति सम्प्रदायावलम्बियोमे परस्पर विरुद्ध वचन होनेसे आप्तताका अभाव—श्रुति सम्प्रदायका आलम्बन लेने वालेके मतमे इस ही कारण जो कि उपरोक्त कथनमे कहे हैं कोई सवज्ञ नही है, ऐसा यदि कहे कोई तो वह अयुक्त बात है। मीमांसकका अभिप्राय यह है कि श्रुति प्रमाणभूत है सर्वज्ञ प्रमाणभूत नही है। सो यह बात यो अयुक्त है कि श्रुति, आगम, वेद वाक्य ये सबके लिए एक समान हैं अतएव इनकी अप्रमाणतामे विसवाद है क्योकि परस्पर विरुद्ध अर्थको कहने वाले हैं इस कारण यह बात बिल्कुल युक्तिसगत कही गई कि जैसे ही सुगत आदिक परस्पर विरुद्ध क्षणिक नित्य आदिक एकान्त सिद्धान्तके कहने वाले हैं इसी कारण वे शब्द सर्वज्ञ नही कहे गए। तो जैसे उनमे कोई सवज्ञ नही इसी प्रकार ये वेद वाक्य, ये श्रुतिवाक्य भी परस्पर विरुद्ध कार्य अर्थ भावना स्वरूपादिक अर्थके कहने वाले हैं। इस कारण ये श्रुतियाँ भी सब प्रमाणभूत नही हैं। इस ही कारण कोई भी श्रुति प्रमाणरूप नहीं हो सकती। और, विचारो तो सही, कोई श्रुति कार्य अर्थमे तो अपौरुषेयी बन जाय अर्थात् उसमे तो कहे कि अपौरुषेय वाक्यके द्वारा यह कहा गया और ब्रह्मस्वरूपमे श्रुति अपौरुषेयी न बने, अर्थात् यह उसका अर्थ न कहलाये, यह कैसे माना जा सकता है? और सभी अपौरुषेय होनेका हेतु देकर उन अर्थोंमेसे किसी एक अर्थका ज्ञान कराने वाली श्रुतिको तो प्रमाण मान लो और दूसरेको अप्रमाण मान लो यह कैसे हो सकेगा। अरे प्रमाण हो तो दोनो हैं किन्तु दोनो प्रमाण हो नही सकते क्योंकि उनमें परस्पर विरोध है। होता तो इनमेसे कोई एक ही अर्थ प्रमाण रूप था। जो कि बाधारहित हो, लेकिन दिखता तो यह है कि उन सब अर्थोंमेसे कोई भी अर्थ बाधारहित नहीं है। हिंसाका वर्णन करने वाले लोगोका तो यह मत कोई भी प्रमाणरूप नही है। भला जैसे

वेदवाक्य बोलागया कि जिसको विभूति सम्पन्न बननेकी इच्छा हो वह सफेद बकरा लाये तो इसका मतलब क्या है ? अथवा धनी पुरुषको मार डाले ऐसे ऐसे भी प्रयोग किए गए है जो धर्मके विषयमे प्रमाणरूप नही बन सकते हैं, तो ऐसे २ वाक्य हैं। क्या यहाँ तक प्रमाणता आ सकती है ?

श्रुतिकी सबके प्रति समानता होनेपर अन्यतर अर्थको प्रमाण मानने की अयुक्तता उन श्रुति वाक्योके जितने अर्थ किये जाते हैं वे अर्थ हैं अपूर्वार्थ याने अपूर्व अर्थपना भी समस्त श्रुतियोमे समानता रूपमे पाया जाता है क्योकि अन्य प्रमाण से न जाने गए धर्मादिकमें परम ब्रह्मादिकमें प्रवृत्ति होती है, लेकिन देखो कोई श्रुति स्वय अपने अर्थका प्रतिपादन नही करती। अन्य अर्थका व्यवच्छेद कराकर यह कहा कि कार्य अर्थमें हीमें प्रमाणभूत हूँ ऐसा श्रुतिवाक्य नही कहता अथवा स्वरूपार्थमे ही मैं प्रमाणभूत हूँ अन्य अर्थमे नही एसा कोई श्रुति याने वेद वाक्य स्वय अपना अर्थ नही कहता है। और अन्य योगका व्यवच्छेद भी नहीं करता आदिक। श्रुति तो सब प्रकारके अर्थके निकालनेके लिए एक समान वाक्य है। फिर उस श्रुतिसे यह कैसे सिद्ध किया जा सकता कि इसका अर्थ यही है, अन्य कोई अर्थ नही है। तो जब उस श्रुतिमें भावना नियोग विधि अनेक अर्थ निकल रहे हैं तो उन अर्थोंमें कोई ही अर्थ तो प्रमाण भूत हो सकेगा। तो जब परस्पर विरुद्ध धर्म अर्थको बताने वाले वे श्रुतिवाक्य हैं तो उनमें फिर किसीको भी प्रमाणता नही दी जा सकती है। जैसे कि क्षणिक नित्य अद्वैत नानात्व आदिक सिद्धान्तका एकान्त करने वाले जितने भी वक्ता हैं उन सबको प्रमाण तो नही कहा जा सकता। प्रमाण होते तो उनके वाक्य परस्पर विरुद्ध न होने चाहियें थे। इसी प्रकार यदि श्रुतिवाक्य प्रमाण है तो उसका अर्थ परस्पर विरुद्ध न होना चाहिए था। लेकिन परस्पर विरुद्ध अर्थ हो रहे हैं अतएव श्रुतिवाक्य भी प्रमाण नहीं हैं। यो सिद्ध हुआ कि तीर्थ चलाने वाले या तीर्थ विच्छेद करने वाले सम्प्रदायोंमें तीर्थके नातेसे कोई सर्वज्ञ नही हो सकता।

पदोसे प्रसिद्धार्थकी प्रतिपत्ति होनेसे श्रुतिमे अर्थप्रतिपादकता होनेके कारण श्रुतिकी प्रमाणताका मीमासकोका सिद्धान्त – अब यहाँ मीमांसक कहते हैं कि पद लोकमें जिन अर्थोंमे प्रसिद्ध हैं वेदमें भी उन ही अर्थोंमें वे पद प्रसिद्ध हैं। क्योंकि वेदमें उल्लिखित पदोका अध्याहार प्रकरणसे अर्थकी प्रतिकल्पना करनेकी आवश्यकता नही है और न उनकी अलगसे परिभाषा निर्माणकी आवश्यकता है। जैसे कि गणितकी परिभाषायें निश्चित् रहती हैं- बारह मासेका एक तोला आदिक रूपसे तो कुछ व्यवहारकालसे पहिले इस शब्दका यह अर्थ है ऐसा वहाँ सकेत बना हुआ है। अब उसके बाद जो परिभाषण होता है वह व्यवहार निमित्तका कारण है, क्योकि उसका सब कुछ पहिलेसे ही सकेत निश्चित् है। इसी तरह जिस तरह लोकमें जिन अर्थोंमें जो पद प्रसिद्ध हैं वेदमें भी पद उन्ही अर्थोमे प्रसिद्ध हैं। सो जैसे लौकिक पदों

का जिन अर्थोंमे परिभाषण होता है उन्ही अर्थोमे वैदिक पदोका भी परिभाषण होता है। इसी अर्थप्रसिद्धताके कारण पद ही अपना अर्थ बता देते हैं। तो जैसे किसीने जिस काव्यको कभी नही सुना वह उस काव्यको सुनकर उस वाक्यार्थको जान जाता है उस ही तरह विद्वान पुरुष श्रुतिवाक्यके अर्थको जान जाते हैं, जिसको कभी सुना भी नहीं ऐसे भी वैदिक पदोको जान सकते है। तब यह बात युक्त हुई कि श्रुतिवाक्य अपने अर्थका प्रतिपादन स्वयमेव कर देता है और जो उसका अर्थ नही है उन अर्थोंका व्यवच्छेद कर देता है। यहाँ मीमासकके इस कथनका भाव यह है कि जब उन्हे यह आपत्ति दी गई थी कि वेदवाक्य स्वय तो अपना अर्थ नही कहते। इसपर मीमासक कह रहे हैं कि जैसे लोकमें बोले जाने वाले पद अपना अर्थ स्वय बता देते हैं, उनकी प्रसिद्धि है जिन अर्थोमे वे ही अर्थ तो उन पदोके हैं। जैसे आग पानी आदिक यहा बोलते हैं और उन शब्दोमे वह अर्थ समझ लेते हैं तो वे ही शब्द तो वैदिक पदोमे हैं अत जैसे जिन्होने कभी किसी काव्य साहित्यको नही देखा वे विद्वान भी देखकर पढ कर तुरन्त अर्थ लगा देते हैं। इसी तरह जिन्होने श्रुतिवाक्य कभी नही सुना और वे जब सुनते हैं तो शीघ्र ही वे अर्थ लगा लेते हैं। तो अब वह वेदवाक्य भी अपने अर्थ का स्वय ही अन्य अर्थका परिहार करके प्रतिपादन करता है।

श्रुतिमे अर्थप्रतिपादकताके पक्षका समाधान—उक्त आशकापर उत्तर देते हैं कि परीक्षा करनेपर यह कथन भी सगत नही बैठता क्योकि जितनी भी श्रुतियाँ हैं, सब श्रुतियोमे उस प्रकारके अर्थके प्रतिपादनकी अविशेषता है। कोई वाक्य बोला तो नियोगवादी उसमेसे नियोग अर्थ बनाता है, भावनावादी भावना अर्थ बनाता है, स्वरूपवादी स्वरूप अर्थ बनाता है। तो जब सभी अर्थ बन रहे हैं और सबके लिए वह श्रुति समान है तो अर्थ असलमें क्या है ? यह तो जाहिर न हो सका। अगर श्रुतिवाक्य ही अपना अर्थ कहता तो सुनने वाले लोगोको तो श्रुति समान है, वही अर्थ सबके ज्ञानमें होता किन्तु ऐसा नही है। श्रुतिके अर्थमे लोगोको विसम्वाद है, इस कारण श्रुति अपने अर्थका स्वय प्रतिपादन नही करते, यह बात बिल्कुल युक्ति-सगत है। देखिये ! श्रुतिका भाव ही अर्थ है अथवा नियोग ही अर्थ है यह व्यवस्था नही की जा सकती। जैसे कि लोकवाक्यका भी भावना ही अर्थ है या नियोग ही अर्थ है, यह बात निश्चित् नही की जा सकती। नियोगका अर्थ है कि मैं इस काममे लगाया गया हूँ, ऐसा नियोजन और भावनाका अर्थ है, उस शब्दको सुनकर आत्मामें व्यापार होने लगे। तो यह बात तो लौकिक वाक्यके सुननेमे भी हुआ करती है। जैसे किसीने कहा कि वह पानी लावे ! तो सुनने वाला यह भाव, यह अर्थ कर सकता है कि मैं इस वाक्यके द्वारा पानी लाये जानेके काममें नियुक्त हुआ हूँ। यह बन गया इस लौकिक वाक्यका नियोग अर्थ और कोई उस अर्थको सुनकर आत्मामे उस तरहका यत्न करे तो उसने भावना अर्थ लगाया तो वहाँ भी भावना ही अर्थ है या नियोग ही अर्थ है ? यह बात नही ठहर सकती, ऐसे ही वैदिक वाक्यका भी भावना ही अर्थ है

या नियोग ही अर्थ है, यह बात नही ठहरा सकते और न ही सत्तामात्र विधि ही अर्थ है किसी वाक्यका याने ब्रह्मस्वरूप ही अर्थ है यह भी नही ठहरा सकते । तो जब श्रुतिके उन तीन चार अर्थोंमेसे किसी एक अर्थमे प्रतिष्ठा नहीं कर सकते कि इस वाक्यका यह ही अर्थ है, और अर्थ नहीं है, यह अन्य–योग व्यवच्छेद न हो सका अर्थात् अन्य अर्थका निषेध करके किसी एक अर्थको प्रतिष्ठित करना यह बात तो न बन सकी, क्योंकि उन सर्व श्रुतियोंमें उनके समस्त अर्थोंमें अनेक प्रकारकी बाधायें आती हैं जैसा कि इस प्रकरणमें बहुत बार वर्णन किया जा चुका है। तो इससे यह सिद्ध है कि जैसे सुगत आदिक परस्पर विरुद्ध वाक्य बोलनेके कारण प्रमाण नही है इसी प्रकार श्रुति भी, आगम भी, परस्परविरुद्ध अर्थको बतानेके कारण प्रमाण नही है यह बात सिद्ध होती है। और, फिर इस कारिकाका जैसे अर्थ लगाया गया कि तीर्थ करने वालेके सिद्धान्तमे परस्पर विरोध आता है अत उन सबकी आप्तता नहीं है। इसी प्रकार यह अर्थ भी घटित होता है कि तीर्थका विनाश करने वाले सम्प्रदायोंमें भी परस्पर विरोध होनेसे उन सबकी भी आप्तता प्रमाणमें नहीं आ सकती।

आप्तमीमांसा-प्रवचन

[द्वितीय भाग]

●

[प्रवक्ता - अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' जी महाराज]

●

मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तार कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातार विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये ।

प्रकरणमे वक्तव्यकी प्रारंभिक भूमिका—तत्त्वार्थ महाग्रन्थके मगलाचरणकी भूमिका रूपमें रचित इस आप्तमीमासा ग्रन्थमे आप्तकी मीमांसाकी गई है । आप्तका अर्थ है अरहत देव जिनके द्वारा धम देशना विकसित हुई है, जिनका वचन पूर्णतया प्रमाणभूत है, जिनके प्रणीत तत्त्वोपदेशोपर चल कर यह जीव शान्त निर्मल हो सकता है । ऐसे आप्त प्रभुकी मीमासामे सर्वप्रथम बताया है कि हे प्रभो ! आपके पास देव आते हैं, आपका आकाशमे गमन होता है, आपके निकट चामरादि विभूतियाँ हैं इन बातोसे आप हमारे महान नही हैं, क्योकि ये चमत्कार मायावी पुरुषोमें भी देखे जाते हैं । हे प्रभो ! आपका शरीर सम्बन्धी अन्तरङ्ग अतिशय है, पुष्पवृष्टि आदि बहिरङ्ग महोदय है इस कारण आप मेरे लिये महान नही हो, क्योकि ये बातें रागादिमान सुर असुरोमे भी पाई जाती हैं । हे प्रभो ! आपने एक तीर्थ (शासन) चलाया है इस कारण महान होनेके सम्बन्धमे बात यह है कि तीर्थ चलाने वाले विभिन्न अनेक पुरुष हुए हैं किन्तु उन सबके वचनोमें परस्पर विरोध है, इस कारण सबके आप्तपना नही हो सकता कोई ही गुरु हो सकता है । यह बात सुनकर भट्ट प्रभाकर मीमासक बोले कि सत्य है यह बात कि तीर्थ चलाने वालोके वचनमे परस्पर विरोध है इसी कारण तो कोई सर्वज्ञ हो ही नही सकता । अत अपौरुषेय श्रुति ही प्रमाण है । इसपर कहा गया है कि तीर्थं कृन्तति इति तीर्थकृत् अर्थात् तीर्थच्छेद सम्प्रदायमे भी परस्पर विरोध है, भावनावादी भट्ट श्रुतिवाक्यका अर्थ भावना कहते हैं नियोगवादी प्रभाकर श्रुतिवाक्य का अर्थ नियोग कहते हैं, विधिवादी वेदान्ती श्रुतिवाक्यका अर्थ स्वरूप अर्थात् ब्रह्म कहते हैं । उन सबमें भी परस्पर विरोध है इस कारण इनमे भी आप्तता नही है ।

चार्वाक द्वारा आप्त आगम आदिका निराकरण और इन्द्रियगोचर

पदार्थमें ही प्रमाणत्वका कथन –यह सब कथन सुनकर चार्वाक लोग कहते हैं कि यह सब बड़ा ही अच्छा कहा गया है। ये सब बातें तो हमें इष्ट ही हैं, क्योंकि न तो सुगत आदिक कोई सर्वज्ञ है, और न ये कोई प्रमाण हैं, न वेदवाक्य भी प्रमाण हैं। प्रमाण तो केवल यही है जो कुछ आंखोंसे दिख सकता है, जो इन्द्रियोंके द्वारा अनुभव में आता है। निष्कर्ष यह है कि केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। न तो कोई तीर्थंकर प्रमाण है, न कोई वेद अथवा अन्य आगम प्रमाण है, न तर्क प्रमाण है, क्योंकि उन सबमें परस्पर विरोध है। और, देखिये तर्क तो अव्यवस्थित चीज है। तर्क वितर्कों की क्या व्यवस्था ? तर्क करके झूठेको सच्चा बना दिया जा सकता, सच्चेको झूठा बना दिया जा सकता। तर्क तो यों है जैसे कि मोमकी नाक, उसे जहाँ चाहे जब चाहे मोड़ दें ऐसे ही तर्कमें जान नहीं होती, वह अव्यवस्थित है और आगम विभिन्न है। कोई कुछ कहता, कोई कुछ कहता, तो किसका प्रमाण माना जाय ? एक दूसरेके प्रति सभी अप्रमाण हैं और कोई लोकमें सुगत, कपिल, जिन आदि कोई मुनी ऐसा नहीं है जिसके वचन प्रमाणभूत हों। सो बात यह है कि धर्मका जो तत्त्व है वह तो गुफामें रखा है, अर्थात् कुछ है नहीं। जैसे लोकमें कहते हैं ना कि अपनी बात ताकमें रख दो, मायने प्रमाण करने योग्य नहीं है। सो धर्मका तत्त्व तो गुफामें रखा हुआ है इस कारण यह बात निश्चित रखो कि जिस रास्तेसे महाजन गए हैं वही हमारा रास्ता है। न किसी आगमका विश्वास करो, न तर्कका, न किसी ऋषी संतके वचनका, न भगवानका, किन्तु जिस रास्तेसे महाजन गए हैं वही पथ है। उसपर चलना चाहिए। क्योंकि सब बातें तो प्रमाणरूप नहीं हैं, किन्तु हमारे जो गुरु हैं, जिन्हें हम देवतारूप मानते हैं वे वृहस्पति ही वास्तवमें सम्वादक है, क्योंकि हमारे गुरुका प्रत्यक्षसिद्ध पृथ्वी आदिक तत्त्वोंका उपदेश है, इस कारण प्रमाण तो एक प्रत्यक्ष ही है, न आगम, न तर्क न सुगत आदिक ये सब कोई प्रमाणभूत नहीं हैं।

चार्वाकाभिमत नास्तिक्य पक्षका निराकरण—चारुवाकके उक्त कथन पर समाधान करते हैं कि उन चारुवाकोंका यह सिद्धान्त अप्रमाण है क्योंकि वह लौकायतिक है याने लोकमें जैसा अज्ञानी पुरुषोंका मन्तव्य है ठीक वैसा ही मतव्य है, क्योंकि चारुवाकोंका जो मतव्य है कि सर्वज्ञ आदिक परोक्ष अर्थका अभाव सिद्ध करना सो सर्वज्ञ आदिक परोक्ष अर्थके अभावकी व्यवस्था इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं बन सकती, क्योंकि बताइये कि सर्वज्ञ और प्रत्यक्षके अलावा अन्य प्रमाण ये सब नहीं हैं, यह तुमने कैसे जाना ? यह बात प्रत्यक्षका तो विषय है नहीं। कोई कहे कि हमने तो प्रत्यक्षसे जान लिया कि सर्वज्ञ नहीं है तो सर्वज्ञका अभाव जानना क्या इस इन्द्रियका काम है अथवा अनुमान आदिक प्रमाण नहीं हैं यह जानना क्या प्रत्यक्षका काम है ? यदि प्रत्यक्षसे सर्वज्ञका और अन्य प्रमाणका अभाव जान लिया जाय तो इसमें तो बड़ा दोष आता है। देखिये ! यदि प्रत्यक्ष सर्वज्ञके, मुनिके, अथवा प्रमाणके, वेदादिक आगमके, अनुमानके और तर्कके अभावकी व्यवस्था कर लेता है यह हेतु देकर कि

प्रत्यक्ष इन पदार्थोंमे प्रवृत्ति नही करता प्रत्यक्षसे यह जाना नही जाता इसलिए इन सबका अभाव है। यो यदि प्रत्यक्षसे सर्वज्ञका व प्रमाणान्तर आदिकका अभाव मानते हो तो फिर वह ही प्रत्यक्ष अन्य देश कालमे रहने वाले पुरुषान्तरके प्रत्यक्षका भी अभाव सिद्ध कर देगा। दुनियामें कितने मनुष्य हैं ? विदेशोमें रहने वाले लोग तो हमारे प्रत्यक्षमे नही आ रहे तो फिर कह दो कि कोई दुनियामे है ही नही। हम हैं और हमारे पडोसके लोग हैं, बाकी तो लोग होते ही नही क्योकि प्रत्यक्षसे उन्हे तो देख ही नही रहे। सो यदि प्रत्यक्षसे सर्वज्ञ प्रमाणान्तर आदिकके अभावकी व्यवस्था करेंगे तो, लोग भी नही हैं ऐसा भी प्रत्यक्षसे सिद्ध करलो और फिर दूसरेके प्रत्यक्षमे भले ही आये यह पृथ्वी लेकिन न तो उनके ज्ञानका प्रत्यक्ष है और न स सारी जमीन का प्रत्यक्ष है। तब फिर पृथ्वी आदिकका भी अभाव सिद्ध कर दो कि ये भी कुछ नही हैं। और, फिर सबसे बडा प्रसग यह भी आ जायगा कि तुम लोग जो स्वय बृहस्पतिको मान रहे हो चारुवाकोंका गुरु बृहस्पति है तो वह बृहस्पति इन इन्द्रियोसे नहीं दिखता तो वह भी न रहा और बृहस्पति आदिकके द्वारा जो प्रत्यक्ष हो रहा वह भी न रहा तो सभी चीजोका अभाव सिद्ध हो जायगा। इस कारण प्रत्यक्ष सर्वज्ञके अभाव को सिद्ध कर ही नही सकता। न किसी अन्य प्रमाणके अभावको सिद्ध कर सकता। प्रत्यक्षके ये विषय नही हैं इस कारण सर्वज्ञके अभाव और अन्य प्रमाणोके अभावकी व्यवस्था नही की जा सकती है।

प्रत्यक्ष प्रमाणसे सर्वज्ञाभाव व प्रमाणान्तराभाव सिद्ध करनेके मन्तव्य का निराकरण—अब यहाँ चा कि कहते हैं कि बृहस्पतिका प्रत्यक्ष स्वय बृहस्पति के प्रत्यक्षकी व्यवस्था कर देगा और पृथ्वी आदिक अपने विषयकी भी व्यवस्था कर देगा, क्योकि बृहस्पतिके प्रत्यक्षकी उसमे प्रवृत्ति हो रही है, इस कारण न तो बृहस्पति के प्रत्यक्ष ज्ञानका अभाव होगा और न उस प्रत्यक्षके विषयभूत पृथ्वी आदिक पदार्थों का अभाव होगा। इसपर उत्तरमे कहते हैं कि जैसे चार्वाक यह कह रहे हैं कि बृहस्पतिका प्रत्यक्ष अपने और पर पदार्थका ग्रहण करने वाला है, और उनका प्रत्यक्ष स्वरूप उनके प्रत्यक्षसे जान लिया जाता है और पृथ्वी आदिक पदाथ भी जान लिए जाते हैं, और यो हमारे गुरुके प्रत्यक्षका और प्रत्यक्षके विषयभूत पृथ्वी आदिक पदार्थों का अभाव नही होता है। तो यो सर्वज्ञ भी स्वसम्वेदनसे अपने स्वरूपका और स्वर्गादिक धम अधर्म आदिक विषयोको प्रसिद्ध करले तो इसमे कौन सी आपत्ति है ? और, फिर कैसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होगा ? साथ ही यह भी देखिये कि तक आदिक अन्य प्रमाण और हेतुवादरूप अनुमान प्रमाण तथा अहेतुवादरूप आगम प्रमाणके भी वे सर्वज्ञ व्यवस्थापक बन जायेंगे, फिर अन्य प्रमाणोके अभावकी भी सिद्धि कैसे होगी ? अब यहाँ चार्वाक कहते हैं कि सर्वज्ञ अपना और परपदार्थोंका व्यवस्थापक है इसमें क्या प्रमाण है ! तो इसपर जैन आदिक उत्तर देते हैं कि अपने एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानने वाले चारुवाकके यहाँ प्रत्यक्षान्यर याने बृहस्पतिका प्रत्यक्ष स्व और पर

को विषय करने वाला, इस बातमें भी क्या प्रमाण है ? तब चार्वाक कहते हैं कि हमारे गुरुपरम्पराका प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष और परपदार्थका ग्रहण करने वाला है यह तो हमारी गुरु परम्परामें प्रसिद्ध ही है। तो उत्तरमें कहते हैं कि इस तरह सर्वज्ञके प्रत्यक्षसे भी स्व और परकी व्यवस्था बनी हुई है, यह बात गुरु परम्परामें ही प्रसिद्ध है इस कारण प्रत्यक्ष सर्वज्ञके अभावको अथवा प्रमाणान्तरके अभावको सिद्ध कर सकने वाला नहीं है। अन्यथा अर्थात् प्रत्यक्षसे ही यदि सर्वज्ञ आदिके व प्रमाणान्तर आदिके अभावको सिद्ध करने लगोगे तो इसमें ऐसे दोष आयेंगे कि जिनका परिहार करना ही कठिन है। फिर तो परमाणु आदिक अनन्त पदार्थोंको भी अदृश्य मानना पड़ेगी। जो जिसका विषयभूत नहीं है वह उसको भी विषय करने लगे तब तो अटपट ज्ञान ज्ञेयका प्रसंग आ जायगा प्रत्यक्ष सर्वज्ञके अभाव और प्रमाणान्तरोंके अभावको विषय नहीं करता और फिर प्रत्यक्षसे ही सर्वज्ञका अभाव अथवा प्रमाणान्तरका अभाव मान बैठोगे तब फिर इस प्रत्यक्षसे दूसरा प्रत्यक्ष या अन्य देशका, पदार्थका प्रत्यक्ष भी न होनेसे उनका अभाव मानना होगा। तो इस कारण प्रत्यक्ष सर्वज्ञके अभावका और अन्य प्रमाणके अभावका साधक नहीं है अब चार्वाक यहाँ कहते हैं कि हम अनुमानसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करने लगेंगे। सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाणका विषयभूत नहीं है ऐसा हम अनुमानसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध कर देंगे, तो उत्तरमें कहते हैं कि आप अनुमानसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध कर ही नहीं सकते, क्योंकि प्रथम तो एक कोई अनुमान बाधारहित ऐसा है ही नहीं कि जिससे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध हो जाय। फिर दूसरी बात जो आपके लिए मुख्य लागू होती है वह यही है कि आपके मतमें अनुमान माना ही नहीं गया है, अनुमान आपके यहाँ असिद्ध है। असिद्ध अनुमानसे कुछ बात सिद्ध नहीं की जा सकती है। और, इस तरहसे तो फिर चूँकि आपने अनुमानको तो माना है अमुख्य अप्रमाण, गौण और प्रत्यक्षको ही आप एक मुख्य प्रमाण मानते हो तो जो गौण प्रमाण है उससे मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाणका निश्चय नहीं हो सकता है।

चार्वाकको अनिष्ट व असिद्ध अनुमानसे सर्वज्ञाभावकी व प्रमाणान्तराभावकी सिद्धि करनेकी अशक्यता—अब यहाँ पर चार्वाक लोग कहते हैं कि अनुमान क्या सामान्य साध्यको सिद्ध करता है या विशेषरूप साध्यको ? यदि सामान्य साध्यका साधक अनुमानको मानते हो तो वह सिद्ध ही बात है। अनुमान सामान्यरूप है अर्थात् कोई प्रमाणताको लिए हुए नहीं है। एक साधारण बात है। तो सामान्य रूप अनुमान माननेपर तो सिद्ध साधनकी बात है और यदि विशेष साध्यका साधक अनुमान मानते हो तो उसकी सिद्धि ही नहीं, उसका अवगम ही नहीं है और फिर सभी अनुमानोंमें विरुद्ध हेत्वाभास दोष सम्भव हो जायगा। ऐसी बात कहनेपर उत्तरमें कहते हैं कि देखो कितने पागलपनकी बात है कि स्पष्ट यह कहकर कि सामान्य साध्यका साधक अनुमान सामान्य है अप्रमाण है सो सिद्धसाधन है विशेष साध्यको सिद्ध करनेमें हेतु विरुद्ध हो जाता है सो यो अनुमान सिद्ध नहीं हो सकता यों कहकर स्वयं अनुमान

प्रमाणको तो मानते नहीं, अनुमानका निराकरण करते हैं और अनुमानसे ही सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करना चाहते अथवा अनुमानसे अन्य प्रमाणका अभाव सिद्ध करना चाहते। जब अनुमान प्रमाण चारुवाक मानते ही नहीं तो अप्रमाण अनुमानसे किसी बातकी सिद्धि कैसे की जा सकती है ? तो यो अनुमानका निराकरण करते हुए चारुवाक लोग अनुमानसे सर्वज्ञके अभावकी, प्रमाणान्तरोंके अभावकी सिद्धि करते हैं तो ये कैसे बेसुध न कहे जायेंगे। प्रतिपत्ताको (चारुवाकको) जो प्रमाण प्रसिद्ध हो वही तो अपने प्रमेयका निर्णय करने वाला हो सकता है। अप्रसिद्ध प्रमाण और प्रसिद्ध प्रमाण अपने प्रमेयका निश्चय करने वाले नही हो सकते। यदि अप्रसिद्ध प्रमाण किसी प्रमेयका निश्चय करने वाला हो जाय तो अप्रसिद्ध प्रमाण खरविषाण आकाश पुष्प आदिक असत् पदार्थोंकी भी व्यवस्था कर बैठे। इससे यह भी नही कह सकते कि अनुमान प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध कर दिया जायगा। या प्रमाणान्तरका अभाव मान लिया जायगा। अनुमान प्रमाण मानते ही नही चारुवाक लोग, फिर अनुमानसे कैसे कुछ सिद्ध कर सकते।

परप्रसिद्ध अनुमानसे सर्वज्ञादिकी असत्ता कहनेका विफल प्रयास—अब यहाँ चार्वाक कहते हैं कि जैन आदिकके यहाँ तो अनुमान प्रसिद्ध है ना ? वे लोग तो प्रमाण मानते हैं, तो दूसरोंके यहाँ प्रसिद्ध याने प्रमाणरूपसे माने गए अनुमानसे सर्वज्ञके अभावको सिद्ध कर देंगे पर प्रसिद्ध अनुमान ही अन्य प्रमाणके अभावकी सिद्ध कर देगा। तो इसपर उत्तर देते हैं कि आप जो परप्रसिद्ध अनुमानसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करना चाहते हो तो यह तो बतलावो कि जैन आदिकके यहाँ अनुमान प्रमाण सिद्ध है या प्रमाणके बिना ही है। चारुवाक लोग जैन आदिकके द्वारा प्रसिद्ध अनुमान से सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करना चाहते तो वे यह बतलाये कि वह अनुमान प्रमाण जैन आदिकके यहाँ प्रमाणसे सिद्ध है या नहीं ? यदि कहो कि जैनादिकके यहाँ प्रमाणसे सिद्ध है तो प्रमाणसे ही तो सिद्ध हो गया ना। जो बात प्रमाणसे सिद्ध है वह चाहे जैनोंके यहाँ सही पर प्रमाणसे सिद्ध बात तो अपनेको भी प्रसिद्ध न होना चाहिये। जो प्रमाणसे सिद्ध है वह तो सभीको सिद्ध है वादीको भी और प्रतिवादीको भी। तो जैसे जैन आदिक परके यहाँ अनुमान प्रमाणसिद्ध है उसी प्रकार चार्वाकको भी अनुमान प्रमाण सिद्ध मानना ही होगा क्योंकि जो प्रमाणसिद्ध बात है उसमें सभीको भी विवाद न रहना चाहिए। जैसे कि प्रत्यक्ष एक प्रमाणसिद्ध है ना, तो प्रत्यक्षके बारेमें न चार्वाक विवाद रखते हैं और न जैनादिक विवाद रखते हैं तो ऐसे ही जब अनुमान प्रमाणसिद्ध है तो जैसे जैन आदिकको अनुमानकी प्रमाणतामें विवाद नही है इसी प्रकार चार्वाक आदिक सभीको विवाद न होना चाहिये अन्यथा इसमें अतिप्रसग दोष होंगे। कैसे कि जब प्रमाण सिद्धको भी विवादग्रस्त मान लेते हो तो प्रमाण सिद्ध प्रत्यक्षमे भी विवाद आ बैठेगा। और, जब प्रत्यक्षमें भी विवादकी विषयता आ पडेगी तो वह चार्वाकके वहा भी सत्य न माना जायगा। इस कारण यह बात मानना होगा

कि जो किसी परके यहाँ प्रमाणसे सिद्ध बात है, वह वादीके यहाँ भी प्रमाणसिद्ध होगी ही जैसे यहाँ अनुमान प्रमाण जैनादिकने प्रमाण सिद्ध मान लिया है तो वह चार्वाक को अपने लिए भी प्रमाणसिद्ध मानना होगा। जो चीज प्रमाणसिद्ध है वह तो सबको ही प्रमाण सिद्ध है। जैसे कि प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है तो सभीके लिए प्रमाणसिद्ध है और अनुमानका यहाँ पर चार्वाकोंने प्रथम सिद्ध रूपमें प्रमाणसिद्ध मान ही लिया है। इस कारण अनुमान चार्वाकवादीके लिए भी असिद्ध नहीं हो सकता। चारुवाकको भी अनुमान प्रमाण मानना ही पड़ेगा। अन्यथा अर्थात् यदि प्रमाणके बिना ही वह अनुमान है तो जैनोंके यहाँ भी अनुमान प्रमाण न रहेगा। तो जब किसीके यहाँ भी अनुमान प्रमाण न रह सका तो अनुमानसे कुछ सिद्ध तो नहीं कर सकते। तो यों भी अनुमानसे सर्वज्ञका अभाव भी सिद्ध नहीं कर सकते।

प्रमाणसिद्धको मान्य करनेकी व असिद्धको अमान्य करनेकी सर्वत्र घटिता—जो परके यहाँ प्रमाण सिद्ध नहीं है वह वादीके भी प्रमाण सिद्ध न होगा। और इस तरह फिर यह बात घटित हो जाती है कि जो प्रमाणके बिना सिद्ध है वह दूसरेके यहाँ भी सिद्ध नहीं है। जो बात बिना प्रमाणके है और प्रमाणसे व्यवस्थित होती ही नहीं वह तो किसीके यहाँ भी व्यवस्थित न होगा। जैसे कि जैन आदिकके द्वारा न माना गया पदार्थ वह प्रमाण बिना है इस कारणसे सभीके यहाँ भी असिद्ध है या जो जो भी बात प्रमाणके बिना न सिद्ध हो अर्थात् जिसमें प्रमाण लगता हो न हो, अप्रमाण हो वह तो परके लिए अप्रमाण है। और, यहाँ इस समय जैन आदिकने अनुमान प्रमाणके बिना मान लिया कि वह अप्रमाण है तो परके यहाँ भी अनुमान सिद्ध न हो सका तो फिर ऐसी असिद्धमें अनुमानके द्वारा सर्वज्ञका अभाव अथवा अन्य प्रमाणका अभाव कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? अन्यथा जो बात चारुवाकने स्वयं नहीं माना है, ऐसा जो तत्त्व है, अनुमान है, परलोक है उसकी भी सिद्धि बन बैठेगी, क्योंकि अब तो अप्रमाणिक कथनसे भी जिस चाहेको प्रमाण मान लिया जाता है। तो चारुवाकके यहाँ भी अनभिमत तत्त्व सिद्ध हो जायगा।

प्रत्यक्षसे सर्वज्ञका अभाव मानने वालोंके सर्वज्ञत्वकी प्रसक्ति—देखिये ! ये चारुवाक एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाणसे सब सर्वज्ञरहित पुरुष समूहको जान रहे हैं तो क्या कर रहे कि यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है इस सिद्धान्तका घात कर रहे, सो ये प्रत्यक्षप्रमाणसे इन्द्रियज्ञानसे सारी दुनियाको जान रहे हैं। जब सारी दुनियाको जान लिया कि यहाँ सर्वज्ञ नहीं है तभी तो निषेध करेंगे कि कोई सर्वज्ञ नहीं है। तो सर्वज्ञ नहीं है, यह जाननेके लिए पहिले सारी दुनिया जाननी होगी। इस तरह जब सारी दुनिया जान ली तो ये चारुवाक ही सर्वज्ञ हो गए अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्षका विषय सारी दुनियाका जानना बन गया। सो दोनों ही सिद्धान्तका जो कि चारवाक लोग मानते हैं घात हो गया। जो स्वयं स्वीकार नहीं किया गया, अथवा जो अनिष्ट है

चारुवाकोको, ऐसा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भी इन चार्वाकोंके यहाँ सिद्ध हो जायगा । जब एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सारी दुनियाको समस्त पुरुषसमूहको सर्वज्ञरहित जान लिया तो क्या मान लिया कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है कुछ । और, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष चारुवाकोको इष्ट है नही । इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा सवज्ञ रहित पुरुष समूहका ज्ञान बन सकता । अत अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके बिना, इन्द्रिय प्रत्यक्षके ही द्वारा अन्य प्रमाणके अभावका ज्ञान जैसे नही बनता इसी प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्षके द्वारा सर्वज्ञ रहित सारे विश्वका भी ज्ञान नहीं बनता । और यदि मान लिया जाय कि ये चारुवाक सब जगह सब समय जीवोमें सवज्ञपनेके अभावके प्रत्यक्षसे जान रहे हैं तो इसके मायने यह हुआ कि यह चारुवाक स्वय सर्वज्ञ हो गया और ऐसा माननेपर चारुवाकका यह कथन निराकृत हो जाता है कि सर्वज्ञ अथवा अनुमान आदिक प्रमाण हैं ही नही । स्वय सर्वज्ञ बन गया । सर्वज्ञका अभाव कैसे सिद्ध करोगे ? अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसा जो चारुवाकका अभिप्राय है वह निराकृत हो गया । जब अन्य देश अन्य काल अन्य पुरुषोके प्रत्यक्षको स्वय प्रत्यक्षसे प्रमाण मान लिया तो वही सर्वदर्शी बन गया ।

अनुमानसे सवज्ञाभावकी सिद्धि करनेका यत्न करनेपर अनुमानमे प्रामाण्यकी प्रसिद्धि– देखिये ! लिङ्गजनित अनुमान जो कि सम्वादक है अर्थात् यथार्थ कथन करने वाला है, विवाद रहित है उस अनुमानसे यदि सर्वज्ञके अभावकी या किसी की सिद्धि करोगे तो इसके मायने है कि अनुमानमे प्रमाण आ गया । तात्पर्य यहाँ यह है कि चार्वाक अनुमान प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करना चाहते हैं । सो अनुमान प्रमाण यदि प्रमाणभूत है, तो प्रमाणान्तरका अभाव कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ? और, यदि अनुमान प्रमाण स्वय प्रमाण नही है, अप्रमाण है तो अप्रमाणभूत अनुमानसे न तो सवज्ञके अभावका सिद्धि का जा सकती न अन्य परिमाणके अभाव की सिद्धि की जा सकती । जैन आदिकके यहाँ प्रसिद्ध अनुमानके द्वारा कुछ भी सिद्धि करनेपर यह तो सिद्ध हो ही गया कि वह अनुमान प्रमाणभूत है, जिस अनुमानके द्वारा कुछ सिद्ध किया गया । तो जब अनुमानमे प्रमाणता सिद्ध हो गई तो चारुवाकके यहा भी अनुमानमे प्रमाणताकी सिद्ध होना अनिवार्य हो गया, उसे भी मानना ही पडेगा कि अनुमान भी प्रमाण है अन्यथा अर्थात् प्रमाणके बिना ही असिद्ध अनुमान होनेपर जैन आदिकके यहाँ भी उस अनुमानकी प्रसिद्धि न रहेगी । तो अप्रसिद्ध अनुमानमे सवज्ञका अभाव कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? यदि अनुमान आदिक प्रमाणभूत मानकर फिर अनुमानसे सवज्ञका और प्रमाणान्तरका अभाव सिद्ध करते हो सो अनुमान स्वय प्रमाणभूत हो ही गया ।

अनुमानमे प्रामाण्य माननेपर चार्वाकके सर्व अभिमतोकी सिद्धि— अब आगे देखिये ! जब अनुमान प्रमाणभूत हुआ तो उसके साथ तर्क आदिक ज्ञान भी प्रमाणभूत हो जाते हैं, क्योकि अनुमान प्रमाण तर्क माने बिना सिद्ध नहीं होता । जब

तक साध्य साधनकी व्याप्ति स्वीकार न कर ली जाय तब तक साधनको साध्यका ज्ञापक नहीं कहा जा सकता और साध्य साधनकी व्याप्तिको स्वीकार करनेका ही अर्थ है तर्कज्ञानको मान लेना, और तर्कज्ञान भी तब तक नहीं बन सकता जब तक सामान्यरूपसे साध्यसाधनका स्मरण न कर लिया जाय। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, इस तरह जब तक अनेक जगहोंका साध्य-साधन स्मरणमें न आये तब तक तर्क ज्ञान नहीं बन सकता। तो लो यो स्मरण, प्रमाण भी मानना पडेगा। तो इस तरह अनेक प्रमाणोंकी सिद्धि अनिवार्यरूपसे हो ही जाती है। यो चारुवाकके यहाँ न तो प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है यह सिद्ध हो सकता अर्थात् अनुमान, तर्क आदि कोई प्रमाण नहीं हैं, यह सिद्ध नहीं हो सकता तथा सर्वज्ञ भी नहीं है यह भी सिद्ध नहीं हो सकता, परलोक आदिक नहीं हैं, यह भी सिद्ध नहीं हो सकता। तो चारुवाक को जो यह सन्तोष हो रहा है कि जब प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है तो न सुगत सर्वज्ञ है, न वेद प्रमाण है, न अन्य कोई प्रमाण भी है। और, तब इस जीवनमे खूब आरामसे जिया जाय, खूब खाया पिया जाय, मौज उडाया जाय, न परलोक है, न उसका कुछ फल है। इस तरह स्वच्छन्द बनकर अपने सांसारिक सुखोंका पोषण करनेका मतव्य चारुवाकके यहाँ चारुवाक चारुवाक मन्तव्यके समर्थकोंका ही विघात करने वाला है। इस कारण चारुवाकका कहीं मतव्य नहीं है। परलोक है अनुमान प्रमाण है, उससे आत्माके स्वरूपकी सिद्धि है, निर्दोष आत्माकी सिद्धि है, पुण्य-पापके फलकी व्यवस्था है, इन तथ्योंका निराकरण नहीं किया जा सकता।

शून्यवादीका मतव्य चार्वाक एक प्रत्यक्षका ही प्रमाण मानता है, अन्य प्रमाणोंको अथवा सर्वज्ञ आदिक परोक्षभूत अर्थोंको नहीं मानता है। इसके निराकरण मे जब यह आपत्ति दी गई कि परके अप्रसिद्ध अनुमानसे प्रमाणान्तरके अभावको सिद्ध करें अर्थात् अप्रमाण अनुमानमे प्रमाणान्तरोंका अभाव सिद्ध करें, तब फिर इस तरह प्रत्यक्षमें भी प्रमाणता न रहेगी। प्रत्यक्ष भी अनेकोंके यहाँ अप्रसिद्ध है, क्योंकि कोई कोई लोग प्रत्यक्षको भी प्रमाण न मानने वाले हैं। तब चार्वाक सिद्धान्तका भी विघात हो जायगा। यह बात सुनकर तत्त्वोपप्लववादी कहते हैं कि वाह! यह तो बहुत ही भली कही। यह तो हमे इष्ट ही है। तत्त्वोपप्लववादका यह अर्थ है कि तत्त्व कुछ भी नहीं है। सब तत्त्वोमे बाधा आती है, इसलिए सर्व कथन अप्रमाण हैं। एक शून्य ही वास्तविक तत्त्व है। इस तरहका तत्त्वोपप्लव मानने वाले दार्शनिक समस्त प्रत्यक्षादिक प्रमाण तत्त्वोंको और प्रमेय तत्त्वोंको बाधित ही मानते हैं। सो उनका कहना है कि प्रत्यक्ष भी प्रमाण मत बनो अनुमान आदिक भी प्रमाण मत बनो सर्वज्ञ का अभाव भी सिद्ध है। यो एक शून्यमात्र ही वास्तविकता है।

शून्यवादके मन्तव्यका निराकरण—तत्त्वोपप्लववादियोके उक्त कथनपर समाधान करते हैं कि उनका इस प्रकारका मतव्य प्रमाणरहित है। तत्त्व कुछ नहीं है

शून्य है, इसकी सिद्धि करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। तब यही सिद्ध हुआ कि सब कुछ बाधित है। तत्त्व है नहीं कुछ, यह भी कहना अशक्य है। और, प्रमाणके बिना तत्त्वोपप्लव माना जाय तो तत्त्व सब अबाधित है यह कहना भी शक्य है। जैसे कि एक वचनमात्रसे ही तत्त्वोप्लवको मान लिया, सबको बाधित निराकृत असत् सिद्ध किया। और भी देखिये ! तत्त्वोपप्लव है ऐसा कहना किसी तत्त्वकी मुख्यता रखता है, उनके भी वचन मात्रसे ही यह सिद्ध हो बैठेगा कि तत्त्व कुछ अबाधित है ही। यदि कहोगे कि तत्त्व है, इसमे प्रमाण क्या ? यह तो अ माण है तो अप्रमाणता तो अब दोनो जगह समान है। और अभी तत्त्वकी सिद्धिमे प्रमाण तुम मान भी नहीं रहे हो, इसमे तत्त्वोपप्लव सिद्ध नहीं होता। और भी देखिये ! सर्वज्ञ अथवा प्रमाणान्तरका अभाव सिद्ध करने वाला प्रत्यक्ष तो है नहीं। अर्थात् समस्त तत्त्वोंका उप्लव सिद्ध कहने वाला प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रत्यक्षको परोक्षभूत अर्थके अभावका साधक माननेपर बहुतसे दोष आते हैं, फिर तो जो अत्यन्त निकटमे ही कुछ है वही मात्र कुछ है वही मात्र कुछ मान लें और बाकी मर्या दुर्नियाके पुरुष ये कुछ भी न रहेंगे। तो प्रत्यक्षमे सर्वज्ञका और प्रमाणान्तरका अभाव सिद्ध नहीं होता इसी प्रकार अनुमान भी सर्वज्ञका और प्रमाणान्तरका अभाव सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि अनुमानकी असिद्धि है। देखिये! प्रत्यक्षके विषयभूत पदार्थको, अनुमेय पदार्थको, जो कि अत्यन्त परोक्षभूत हैं ऐसे भी पदार्थोंको, सबको जानने वाले सर्वज्ञके अभावको स्वय असिद्ध प्रत्यक्ष व अनुमान कैसे सिद्ध कर सकता है, तथा प्रमाणान्तर अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान आगम आदिक सब अभावको स्वय असिद्ध प्रत्यक्ष व अनुमान कैसे सिद्ध कर सकता है ? जिससे कि इनका अभाव सिद्ध हो और तत्त्वका उपप्लव सिद्ध हो। जब कि तत्त्वोप्लव के यहाँ कोई भी प्रमाण नहीं माना गया। न प्रत्यक्ष प्रमाण है न अनुमान प्रमाण है, तब उनकी इष्ट सिद्धि कैसे हो सकती है ? यदि स्वय असिद्ध प्रमाणका विषय सर्वज्ञाभाव व प्रमाणान्तराभाव बन जाय याने प्रमाण कुछ न होनेपर भी उनका अभाव सिद्ध करोगे तो सभी प्रमाण और सभीका इष्ट तत्त्व जिन्होने जो कुछ माना है उन सबकी ये बातें अपने आप सिद्ध हो जायें या जो कुछ भी प्रमाण हो वह सबको सिद्ध कर बैठे तो फिर तत्त्वोपप्लव रहा ही कहाँ ?

सर्वज्ञ प्रमाण आदिकके अभाव सिद्धिका शङ्का-समाधान—अब यहाँ तत्त्वोपप्लववादी कहते हैं कि हमारे यहाँ तो कोई प्रमाण सिद्ध है नहीं, क्योंकि वास्तविकता तो यह है कि तत्त्व कुछ है ही नहीं। लेकिन जैन आदिकके यहाँ जो प्रमाण सिद्ध है उस प्रमाणसे हम सर्वज्ञ तत्त्व प्रमाण सबके अभावको सिद्ध कर देंगे। इस शकापर जैन शासनकी ओरसे समाधान किया जाता है कि भला यह तो बतलावो कि जिस परप्रसिद्ध प्रमाणके द्वारा सर्वज्ञ प्रमाण आदिकका अभाव सिद्ध करना चाहते हो वह परप्रसिद्ध प्रमाण परके यहाँ प्रमाणसे सिद्ध है या प्रमाणके बिना ही है ? यदि कहो कि वह प्रमाणसे सिद्ध है तो जो बात प्रमाणसे सिद्ध है परके लिए, वह अपने

लिए भी प्रमाणसे सिद्ध कहलायेगा, क्योंकि जो प्रमाणसिद्ध बात है वह वादी और प्रतिवादी दोनोंके लिए मान्य होता है अन्यथा अर्थात् प्रमाणके बिना भी वह प्रमाण है तो फिर जैन आदिकके यहाँ भी प्रमाण मत मानो और फिर प्रमाणके बिना जो सिद्ध किया जाय वह सिद्ध भी न कहलायेगा। इस प्रकार ये तत्त्वोपप्लव आदिक स्वयं किसी एक प्रमाणके द्वारा अथवा अपनी प्रसिद्ध किसी धारणाके द्वारा जब यह जान रहे हैं कि विश्वमें समस्त पुरुष समूह समस्त तत्त्वोंको जानने वाले प्रमाणोंसे रहित हैं अर्थात् सर्वज्ञतासे रहित हैं, इतना जब तुमने निर्णय कर लिया अर्थात् जिसने यह जान लिया कि ये समस्त पुरुष सकल तत्त्वसे विरहित हैं यह जिस बुद्धिके द्वारा जाना वही तो प्रमाण है और इस तरह ये तत्त्वोपप्लव बड़ी सफाईके साथ सिद्ध करने वाले तत्त्वको मान ही बैठे और तत्त्वोप्लव सिद्धान्तका विघात कर ही बैठे, क्योंकि प्रमाणके स्वीकार करने पर तत्त्वोपप्लववादिता नहीं रहती। तत्त्व कुछ नहीं है। सब शून्य ही है इस प्रकारसे सिद्ध करनेके लिए जो भी आप प्रमाण देंगे तो आपने वह प्रमाण दिया ना, तो वही एक तत्त्व हो गया। फिर तत्त्वोपप्लवका सिद्धान्त कहाँ रहा?

तत्त्वको बाधित सिद्ध करनेका शून्यवादीका प्रयास—अब बहुत विस्तार पूर्वक तत्त्वोपप्लववादी अपना पक्ष रख रहे हैं कि जो तत्त्वोपप्लव नहीं मानते हैं ऐसे जैन आदिकके यहाँ भी प्रमाणतत्त्व व प्रमेय तत्त्व प्रमाणसे सिद्ध है प्रमाणसे या प्रमाणके बिना ही प्रमाणतत्त्व व प्रमेयतत्त्वको माना जा रहा है। यदि उनके वे सब तत्त्व प्रमाण से सिद्ध हैं तो वह प्रमाण भी प्रमाणान्तरसे सिद्ध किया जा सकेगा। और फिर वह प्रमाणान्तर अन्य प्रमाणान्तरसे सिद्ध किया जा सकेगा, इस तरह इस सिद्धिके प्रसंगमें ही अनवस्था है फिर प्रमाण तत्त्वकी व्यवस्था कैसे बन सकती है। यदि यह कहो कि प्रथम प्रमाण द्वितीय प्रमाणका व्यवस्थापक बन जायगा और द्वितीय प्रमाण प्रथम प्रमाणका व्यवस्थापक बन जायगा तो इसमें इतरेतराश्रय दोष आता है। प्रथम प्रमाण जब सिद्ध हो तब सिद्ध होगा द्वितीय प्रमाण और, जब द्वितीय प्रमाण सिद्ध हो तब सिद्ध होगा प्रथम प्रमाण, तो इस परस्परके आश्रयणसे एक भी प्रमाणकी व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि कहो कि प्रमाणमें प्रामाण्यकी व्यवस्था स्वतः हो जाती है इस कारण इतरेतराश्रयका दोष नहीं आता, तो इसमें तो उस तत्त्वोपप्लववादकी ओरसे यह कहना है कि यदि प्रमाणमें प्रामाण्यकी व्यवस्था स्वतः हो जाती है तब फिर समस्त प्रवादियोंको प्रवक्ताओंको किसी भी कथनमें विवाद न करना चाहिए क्योंकि विवाद करनेका अवसर कहाँ? प्रमाणमें प्रामाण्यकी व्यवस्था स्वतः ही हो जाया करती है। यदि यह कहो कि किसी भी प्रमाणसे विवादका निराकरण हो जायगा तो वहाँ भी जब प्रमाणान्तरसे विवादका निराकरण हुआ तो उस प्रमाणान्तरमें भी विवाद उपस्थित होगा। तो उसका निराकरण करनेके लिए अन्य प्रमाणान्तर चाहिये। इस तरह यहाँ भी अनवस्था दोष इतने ही फैलावके साथ उपस्थित होता है। यदि इस

विवादके निराकरणके प्रसगमे भी यह कहोगे कि प्रथम प्रमाण दूसरे प्रमाणका विवाद मिटाता है, दूसरा प्रमाण प्रथम प्रमाणका व्यवस्थापक होगा तो इस तरह परस्पर विवादका निराकरण करनेपर वही अन्योन्य समयणका दोष होगा। जिसको किसी तरह निवारण नही कर सकते। तो यह बात सिद्ध हुई कि प्रमाणतत्व और प्रमेयतत्व प्रमाणसे तो सिद्ध किया नही जाता है। यदि कहो कि प्रमाणके बिना ही प्रमाणतत्व और प्रमेयतत्वकी सिद्धि हो जायगी तो उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है कि प्रमाणके बिना तत्व की व्यवस्था जब करने लगे तो तत्वोपप्लवकी भी व्यवस्था बन जायगी। उसका निराकरण नही किया जा सकता है।

प्रमाणतत्त्वके विचारमे प्रमाणकी प्रमाणताके हेतुके सम्बन्धमें शून्य-वादी द्वारा पूछे गये चार विकल्प—अब यहा तत्ववादी कोई कहे कि देखिये। प्रमाणादिक तत्वकी व्यवस्था विचारके उत्तरकालमे हुआ करती है। और, विचार जिस किसी भी प्रकारसे किया जाय वह उलाहनाके योग्य नही हो सकता, क्योकि विचार मात्रमे भी यदि उलाहना दिया जाय तो फिर कभी भी वचन व्यवहार नही बन सकता। सवथा वचनके अभावका प्रसग आ जायगा। इसपर तत्वोपप्लववादी कहता है कि यदि विचार मात्रमे कोई व्यवस्था बना ली जाती है तो तत्वोपप्लववादियोके यहाँ भी विचारके उत्तर कालमे तत्वोपप्लवकी उस ही प्रकार व्यवस्था बन जाय, क्यो कि विचार जिस किसी भी प्रकार किया जाता है चाहे प्रमाणके द्वारा हो अथवा प्रमाणके बिना हो, विचार उपालम्भके योग्य नही होते, यह बात भी सभीमे घटित हो जायगी अब विचारका बात सामने रखनेपर चलिये। प्रमाणतत्व और प्रमेयतत्वमेसे इस समय प्रमाणतत्वका ही विचार करें। बतायें तत्ववादी लोग कि प्रमाणकी प्रमाणता कैसे बनती है? क्या दोष रहित कारक समूहसे उत्पन्न किये जानेसे प्रमाणमे प्रमाणता बनती है या बाधारहितपना होनेसे प्रमाणमें प्रमाणता बनती है या प्रवृत्ति की सामर्थ्यसे प्रमाणमे प्रमाणता बनती है अथवा अविसम्वादकपना होनेसे प्रमाणमे प्रमाणता बनती है? इन चार विकल्पोका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि मीमासक सिद्धान्तमे माना गया है कि प्रमाणमे प्रमाणता इस कारण है कि वह प्रमाण निर्दोष चक्षु आदिक इन्द्रियसे उत्पन्न किया गया है। तथा वह प्रमाण बाधारहित है, तो यहाँ जो पूछा गया है इसमे दो प्रथम विकल्पोकी बात तो मीमासकोको लक्ष्यमे रखकर पूछा गया है। तीसरा विकल्प किया गया है कि क्या प्रमाणमे प्रमाणता प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे होती है? यह नैयायिक मतको लक्ष्यमे रखकर पूछा गया है। नैयायिक सिद्धान्तमे प्रमाणकी प्रमाणता प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे मानी गयी है। जैसे जलका ज्ञान किया कि यह जल है तो यह जल है, इस प्रकारका ज्ञान प्रमाण कैसे बना कि लोग जाकर जलको पीते हैं, जलमें नहाते हैं। ज्ञानसे प्रवृत्तिमे सामर्थ्य बनती है, क्या इस कारण प्रमाणमे प्रमाणता आती है। चौथा विकल्प जो कहा गया है कि अविसम्वादकपना होनेसे प्रमाणमें प्रमाणता है क्या? यह प्रश्न क्षणिकवादियोके लक्ष्यसे पूछा गया है। यो चार विकल्पो

से तत्त्वोपप्लव आदिक यह पूछ रहे हैं कि प्रमाणकी प्रमाणता कैसे बनती है।

अदुष्ट कारकों द्वारा उत्पाद्य होनेसे प्रमाणकी प्रमाणता होना माननेके प्रथम विकल्पकी शून्यवादी द्वारा मीमांसा—उक्त चार पक्षोंमेंसे यदि प्रथम पक्ष का ज्ञान कहते हो कि निर्दोष चक्षु आदिक इन्द्रियके द्वारा प्रमाण उत्पाद्य होनेसे प्रमाण की प्रमाणताका परिज्ञान होता है तो यही बताओ पहिले कि उन चक्षु आदिक कारकों में निर्दोषता है, निर्मलता है, यह बात कैसे परिज्ञात कर ली गई है? पहिले यही सिद्ध करो कि ये चक्षु आदिक इन्द्रियाँ निर्दोष हैं, फिर इ के द्वारा जाने गए प्रमाणमें प्रमाणता है यह सिद्ध करनेका साहस करिये। तो पहिले तो यही बताओ कि चक्षु आदिक इन्द्रियकी निर्दोषता किस प्रमाणसे जाना गई है? प्रत्यक्षसे तो नेत्र की निर्मलता और स्वसंवेदनके कारणभूत अतीन्द्रिय मनकी निर्दोषताका तो प्रत्यक्ष किया नहीं जा सकता, यह बात स्पष्ट ही है। कोई भी मनुष्य अपने नेत्रकी निर्मलताका कैसे प्रत्यक्ष कर सकता है? और मनको भी प्रत्यक्षसे कहाँ किया जा सकता है? तो प्रत्यक्षसे तो कारकोंकी निर्दोषता जानी नहीं जा सकती। और, इसी प्रकार अनुमानसे भी कारकों की निर्मलता नहीं जानी जा सकती, क्योंकि निर्मलताको समझाने वाले निर्मलताके अविनाभावी कोई साधन अर्थात् हेतु नहीं है। तो पहिले यही सिद्ध नहीं कर सकते कि प्रमाणकी उत्पत्तिकी कारणभूत इन्द्रियकी निर्दोषता है। यदि कोई यह कहे कि विज्ञान तो प्रमाणका कार्य है और वह लिङ्ग है अर्थात् अनुमानसे यह सिद्ध हो जायगा कि इन्द्रियाँ निर्दोष हैं, क्योंकि विज्ञान होनेसे। इस तरह यदि विज्ञानको हेतु बनाकर कारकोंकी निर्दोषता सिद्ध करोगे तो उसका उत्तर यह है कि विज्ञान दो प्रकारसे होता है विज्ञान सामान्य और विज्ञान विशेष अर्थात् प्रमाणभूत विज्ञान। तो इनमेंसे विज्ञान सामान्य तो कारकोंकी निर्दोषताका अव्यभिचारी नहीं है क्योंकि जैसे सीपमें चाँदीका ज्ञान किया गया तो यहाँ भी ज्ञान कार्यलिङ्ग है विज्ञानभूत है फिर भी कारणोंकी सदोषताको सिद्ध कर रहा है तब व्यभिचार हो गया अर्थात् विज्ञान सामान्यसे इन्द्रियादिक कारकोंकी निर्दोषता सिद्ध करना चाहा, सो विज्ञान सामान्य तो निर्दोष इन्द्रियसे उत्पन्न हुए ज्ञानमें भी है और सदोष इन्द्रियादिकसे उत्पन्न हुए संशय आदिक ज्ञानमें भी है। तब विज्ञान सामान्यरूप हेतु कारणकी निर्दोषता रूप साध्यका अव्यभिचारी कैसे रहा, इसमें अनैकांतिक दोष उपस्थित होता है। सो विज्ञान सामान्यसे तो कारकों की निर्दोषता सिद्ध नहीं हो सकती। यदि कहो कि प्रमाणभूत विज्ञानसे कारकोंकी निर्दोषता सिद्ध हो जायगी तो यह बताओ कि फिर उस लिङ्गभूत विज्ञानकी प्रमाणभूतताका निश्चय कैसे होगा? यदि कहो कि उस ज्ञानकी प्रमाणताका भी निश्चय निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न हुआ है इस हेतुसे हो जायगा तो इसमें तो अन्योन्याश्रय दोष हो गया कि विज्ञानकी प्रमाणभूतता सिद्ध होनेपर यह सिद्ध होगा कि यह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न हुआ है और निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न हुआ है यह सिद्ध होनेपर उस विज्ञानमें प्रमाणभूतताकी सिद्धि होगी। अतः अनुमानसे ज्ञानके कारकोंकी निर्दोषता

सिद्ध नही हो सकती ।

कारकोकी गुणाश्रयतासे ही ज्ञानमें प्रमाणता माननेपर शून्यवादी द्वारा अपौरुषेय वेदवाक्यके समर्थनके प्रयासकी व्यर्थताका प्रतिपादन— अब तत्वोपप्लववादी अन्य दूषणोको कह रहे हैं—देखिये ! चक्षु आदिक कारणोको गुण और दोषोका आश्रयभूत स्वीकार करनेपर उन कारणोके द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होगा उस ज्ञानमें दोषकी आशकाकी निवृत्ति नही हो सकती अर्थात् उसमे दोषका सन्देह रहेगा ही, क्योकि ये चक्षु आदिक इन्द्रियाँ गुणके भी आश्रयभूत है । जैसे कि जो पुरुष गुणका आश्रयभूत भी है व दोषका भी आश्रयभूत है ऐसे पुरुषके वचनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान तो दोषकी आशकासे निवृत्त नही रहता है याने जो पुरुष गुणसे युक्त है और दोषसे भी युक्त है, ऐसे पुरुषके वचन सुनकर जो बात ज्ञानमे लाई गई उस ज्ञानमे नि सन्देहता नही रहती है । ठीक भी हो, न भी ठीक हो, यदि कहो कि गुणके आश्रयरूपसे ही अर्थात् चक्षु आदिक इन्द्रियमे जो गुण हैं उन गुणोका आश्रय करके ही सम्वेदनमें प्रमाणताका निश्चय होता है अर्थात् उस इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमे दोषकी आशका नही रहती, क्योकि गुणयुक्त इन्द्रियके आश्रयसे यह ज्ञान प्रकट हुआ है । ऐसा कहनेपर यह भी कहा जा सकता है कि तब पुरुष भी कोई गुणके आश्रयभूत रहता है, गुणके आश्रयपना होनेसे उस पुरुषके वचन से उत्पन्न होने वाले ज्ञानमें भी दोषकी आशका नही रह सकती । और, जब गुणके आश्रयभूत होनेके कारण उसका निर्णय बना, सो ज्ञानमे दोषकी आशका न रही फिर अपौरुषेय शब्दके समर्थन करनेसे लाभ क्या है ? क्योकि अपौरुषेय आगमका समर्थन इसीलिए तो कर रहे थे कि प्रमाणता आ जाय लेकिन अब तो गुणके आश्रयभूत पुरुषके वचनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानमे भी प्रमाणता आ गई ।

मीमासक द्वारा पुरुषमे गुणाश्रयताकी शङ्का किये जानेपर शून्यवादी द्वारा अपौरुषेय श्रुतिवाक्यमे मिथ्याज्ञानहेतुताका प्रतिपादन करके प्रमाणकी प्रमाणताके प्रथम हेतु विकल्पकी मीमासाका उपसहार—अब यहाँ मीमांसक कहते हैं कि पुरुषमे गुण है याने पुरुष गुणका आधारभूत है, यह निश्चय नही किया जा सकता है, क्योकि दूसरेके चित्तमे रहने वाली परिणतियोका जानना कठिन है । दूसरी बात यह है कि पुरुषके व्यापारमें साकर्य देखा जाता है अर्थात् गुणवान् पुरुष हो तो भी अथवा गुण रहित हो तो भी उन सबमें एक समान व्यापार देखा जा सकता है गुणीकी तरह निर्गुणकी भी चेष्टा बन सकती है इस कारण उनके व्यापारमें जब कि साकर्य है याने जैसे दोषी पुरुषकी वचन चेष्टा है उसी प्रकार गुणी पुरुषकी वचनचेष्टा है तब फिर उस पुरुषके वचनसे प्रमाणताका निश्चय किया जाना अशक्य है, इसी कारण पौरुषेय आगमका समर्थन करना कठिन है । मीमासककी इस शकापर शून्यवादी कहता है कि फिर तो चक्षुरादिक इन्द्रियाँ भी अतीन्द्रिय हैं ना तो उनमे भी

करनेकी दृढतासे उसका निर्णय बनाये हुए है उसे बाधा नही नजर आती। विपरीत ज्ञानमे बाधकपना तब बने जब कि उस पदार्थके निकट जानने वाले पहुँचें। जैसे दूरसे चमकीली रेतमे जलका ज्ञान हुआ, अब उस देशके निकट पहुँचे तो उसको यह ज्ञान दूषित समझमे आ जाता है और निर्णय करता है कि यह तो रेत है, जल नही है। तो मिथ्या ज्ञानका बाधक कारण है उस पदार्थके निकट देशमे पहुच जाना। यदि पदार्थके निकट देशमें पहुचे नो फिर वह मिथ्या ज्ञान नही रहता। तो मिथ्या ज्ञानमें भी जब स्वकारणकी विकलतासे बाधकज्ञान नही बनता यह जल नही है इस प्रकारका ज्ञान नही बनता तो मिथ्या ज्ञानमे भी प्रमाणपनेका प्रसग आ जायगा। तो बाधाकी अनुत्पत्तिसे प्रमाणमे प्रमाणता आ जाती है यह कहना नि सन्देह बात नही है।

यथार्थग्रहण निबन्धनक बाधानुत्पत्तिकी अशक्य निश्चयता—अब यहाँ मीमांसक कहते हैं कि यथार्थ परिज्ञानका कारणभूत बाधाकी अनुत्पत्ति होना जो कि अप्रमाणमे असम्भव ही नही है ऐसी बाधाकी अनुत्पत्ति प्रमाणपनेको सिद्ध करने वाली होती है। इसपर शून्यवादी पूछता है कि उस बाधाकी अनुत्पत्तिमे यह कैसे निश्चय बना कि यह सत्य अर्थके परिज्ञानका कारणभूत है क्योकि तुम यह कह रहे हो कि जो सत्य ज्ञानका कारणभूत बाधानुत्पत्ति है वह प्रमाणकी प्रमाणताका कारण है तो यह निर्णय कैसे कर लिया कि यहाँ जो बाधाकी अनुत्पत्ति हो रही है, कोई बाधक ज्ञान नहीं बन रहा है यह सत्य अर्थके ग्रहणके कारण है इसका निर्णय होना कठिन है। यदि कहो कि ज्ञानके प्रमाणपनेका निश्चय होनेसे यह निश्चय बन जाता है कि यह बाधानुत्पत्ति सत्यार्थके परिज्ञानके कारण बना है और सत्यार्थके परिज्ञानका कारण है। यो ज्ञानमे प्रमाणपनेका निश्चय करनेम बाधानुत्पत्तिको सत्यार्थ ग्रहण निबन्धनक मानोगे तो इसमे इतरेतराश्रय दोष आता है कि ज्ञानमे प्रमाणपनेका निश्चय होनेपर तो यह निर्णय बनता है कि यह बाधानुत्पत्ति यथार्थ परिज्ञानके कारण है और जब यह निर्णय बन जाय कि यह बाधानुत्पत्ति यथार्थ परिज्ञानके कारणसे है तब ज्ञानमे प्रमाणपनेका निश्चय होगा। इस तरह ज्ञानके प्रमाणपनेके निर्णयसे बाधानुत्पत्तिको सत्यार्थ ग्रहणका कारण माननेपर इतरेतराश्रय दोष आता है। अब यदि मीमांसक यह कहे कि अन्य प्रमाणसे प्रमाणोमे प्रमाणताका निश्चय हो जायगा उस ज्ञानमें प्रमाणपने का निश्चय हो जायगा, तो फिर बाधाकी अनुत्पत्तिसे प्रमाणके प्रमाणपनेके निश्चय की बात कहना बेकार है। इसमें बाधानुत्पत्तिके कारण प्रमाणकी प्रमाणता बताना मिथ्या है।

प्रामाण्यसाधनभूत बाधानुत्पत्तिकी उत्पत्तिके साधनके विकल्पोका शून्यवादी द्वारा निराकरण—और भी सुनिये। बाधाकी अनुत्पत्तिमे जो यथार्थ ग्रहण का कारणपना माना है तो बाधानुत्पत्तिमे यथार्थ परिज्ञानका कारणपना है यह बात क्या स्वत ही निश्चय करली जाती है या किसी अन्य प्रमाणसे निश्चित कीजाती है।

यदि बाधाकी अनुत्पत्तिसे यथार्थ ग्रहण–निबन्धनता स्वत. ही निश्चय की जाती है तब फिर किसी भी परिज्ञानमे सन्देह न रहना चाहिए, किन्तु सन्देह तो देखा जाता है कि इस ज्ञानमें हमको जो बाधा नही दिख रही है, जो ज्ञान बनाया है, वह ज्ञान बराबर बना चला जा रहा है उसके विरुद्ध दूसरी बात नही जच रही है। ऐसी जो बाधाकी अनुत्पत्ति है वह क्या यथार्थ ग्रहण करनेसे हुई है या अपने कारणकी विकलतासे हुई है ? बाधाकी अनुत्पत्ति सम्यग्ज्ञानमें भी हुई है और मिथ्याज्ञानमें भी हुई है। रेतमें जलका परिज्ञान किया दूरसे देखकर, तो उस दूर देशमें ठहरे रहकर तो वह रेत जल ही जल ज्ञात होगा तो वहाँ भी बाधा तो न आई और समीचीन ज्ञानमें भी बाधा नही आती, वह यथार्थ ग्रहणके कारण नही आती। तो अब बाधाकी अनुत्पत्तिसे यह सन्देह हो गया कि क्या यथार्थ ग्रहण करनेसे बाधाकी अनुत्पत्ति है या उस देशमें पहुचनेरूप आदिक बाधक कारण नही जुट पाया इस कारणसे बाधाकी अनुत्पत्ति है ? इस तरह दोनो ज्ञानोंका स्पर्श करने वाला तत्व, उभय कोटिका स्पर्श करने वाला ज्ञान बनानेसे अपने कारणकी विकलतासे अर्थात् निकट देशमें न पहुँचनेके कारण बाधक ज्ञानकी अनुत्पत्ति हुई है। रेतको जल जाना तो जल ही जल जाना जा रहा है, यह ज्ञान नही बन पा रहा कि यह तो रेत है जल नही। तो देखिये ! इस मिथ्याज्ञान में बाधाकी अनुत्पत्ति अपने कारणकी विकलतासे हुई है और निकट देशमें पहुचनेपर अथवा किसी पदार्थके निकट देशमें खडे हुए है और जैसा वह पदार्थ है वैसा ही ज्ञान कर लिया गया तो यहाँ जो सम्यग्ज्ञान हुआ है वह उस सच्चे ज्ञानके कारणकी बात बननेपर हुआ है या पहिले जो रेतमें जलका ज्ञान हो रहा था तो दूर खडे–खडे जब रेतमें जलका ज्ञान हो रहा था जब निकट देशमें पहुच गए तो बाधक ज्ञान बन बैठे कि यह जल नहीं है, यह तो रेत है। तो यहाँ जो बाधक ज्ञानकी उत्पत्ति हुई है सो देखो ! उस बाधक ज्ञानका कारण बननेपर हुई है याने निकट देशमें पहुँचनेपर हुई है, इसमें सन्देह बन गया कि बाधा अनुत्पत्ति क्या यथार्थ ग्रहणके कारणसे हुई है या बाधक ज्ञानके कारणकी विकलतासे हुई है ! तब बाधानुत्पत्तिसे प्रमाणकी अप्रमाणता का निर्णय नहीं दे सकते।

अर्थज्ञानके अनन्तर ही या सर्वदा बाधानुत्पत्तिसे प्रमाणकी प्रमाणताके विकल्पोंका निराकरण—अब यहाँ शून्यवादी पुन कह रहे हैं कि पदार्थके ज्ञानके अनन्तर ही होनेवाली बाधानुत्पत्ति उस ज्ञानकी प्रमाणताकी व्यवस्था करता है या सदा ही रहनेवाली पदार्थ ज्ञानमें बाधाकी अनुत्पत्ति उसकी प्रमाणताका निश्चय करता है ? यहां दो विकल्प किए गए हैं कि क्या पदार्थज्ञानके बाद ही बाधाकी अनुत्पत्ति होना ज्ञानमे प्रमाणता निर्णीत करता है या सदाकाल ही बाधाकी अनुत्पत्ति होना सो प्रमाणकी प्रमाणताका निर्णय करता है ? यदि कहो कि पदार्थज्ञानके बाद ही बाधाकी अनुत्पत्ति हो उसमे प्रमाणता जानी जाती है तो पदार्थके ज्ञानके बाद ही बाधाकी अनुत्पत्ति होना तो मिथ्याज्ञानमें भी देखा जाता है। रेतमें जलका ज्ञान किया और उस

ज्ञानके बाद कोई बाधा भी नजर न आई । जल ही जल जाने जा रहे हैं तो ज्ञानके बाद ही बाधाकी अनुत्पत्ति होनेसे प्रमाणमे प्रमाणता माननी पडेगी । यदि कहो कि सर्वदा बाधाकी अनुत्पत्ति होनेसे उसमे ज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय होता है । जो पदार्थ ज्ञान किया गया है उस ज्ञानमें कोई भी बाधा न आये अर्थात् उससे विपरीत दूसरा कोई ज्ञान कभी न बने, उससे ज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय होता है । ऐसा कहना तो बिल्कुल असगत है, क्योकि कभी भी इस ज्ञानमें बाधा नही आ सकती । ऐसा ज्ञान किया जाना अशक्य है । भले ही कुछ दिन, कुछ महीने उस ज्ञानमे बाधा आये लेकिन वर्षों और युगोके बाद भी उसके ज्ञानमे बाधाकी उत्पत्ति देखी जाती है । जैसे किसी पुरुषका मिथ्याज्ञान बहुत वर्षों तक रहता है, बादमें उसे विदित होता कि वह ज्ञान झूठा था, तो सदा काल बाधाकी अनुत्पत्ति रहे इससे ज्ञानमें प्रमाणता माननेपर तो यह निर्णय कभी सम्भव ही न हो सकेगा कि सदा ही इसमे बाधा न आयगी । बहुत चिरकाल तक भी बाधकज्ञानकी उत्पत्ति न हो फिर भी अपने कारण की विकलतासे भविष्यमे किसी भी समय बाधाकी अनुत्पत्ति न होगी, यह निश्चय नही किया जा सकता । बताओ बहुत काल तक बाधानुत्पत्ति होनेपर भी आगे यह कभी भी बाधा न आयगी इस ज्ञानमे यह निश्चय आप किस विधिसे कर रहे हैं । तो यह विकल्प भी असगत है कि सदा काल बाधक ज्ञानकी अनुत्पत्ति होनेसे प्रमाणमें प्रमाणताका निश्चय होता है और फिर देखिये ! किसी मिथ्याज्ञानमें किसी तरह बाधा न भी उत्पन्न हो बाधक कारणकी विकलतासे तो इतने मात्रसे कि सदा काल यहाँ बाधा की अनुत्पत्ति है, पदार्थ ज्ञानमे प्रमाणता न बन जायगी । कोई कोई मिथ्याज्ञान ऐसा होता है कि उसमे बाधा आती ही नही । जीवनभर बाधा न आयगी । तो इससे वह ज्ञान प्रमाणभूत तो न हो जायगा । जैसे देहको माना कि यह मैं आत्मा हूँ तो यह किन्हीकी दृष्टिसे मिथ्याज्ञान है ना, और यह मिथ्या ज्ञान यावत जीव बना रहता है ।

किसी देशमे या सर्वत्र स्थित प्रतिपत्ताके बाधानुत्पत्तिसे प्रमाणकी प्रमाणताके दोनो विकल्पोका निराकरण अब और भी विचारिये कि किसी देशमें स्थित जाननहार पुरुषकी, चाहे जो दूरमे खडा हो स्थित हो उसकी जो बाधानुत्पत्ति है वह अर्थज्ञानमे प्रमाणताका कारण है या सभी जगह चाहे दूरमे या समीपमे हो सभी जगह स्थित ज्ञाताकी बाधानुत्पत्ति क्या प्रमाणताका कारण है ? यहाँ दो विकल्प पूछे गए कि बहुत दूर देशमे स्थित पुरुषको पदार्थ ज्ञानमें बाधानुत्पत्ति हो रही है सो क्या दूर देशमे खडे पुरुषकी बाधानुत्पत्ति ज्ञानमे प्रमाणताका कारण है या निकट या दूर कहीं भी सर्वत्र देशमें खडे हुए पुरुषके ज्ञानकी बाधानुत्पत्ति ज्ञानकी प्रमाणताका कारण है ? यदि कहो कि दूर देशमे खडे हुए पुरुषके ज्ञानमें बाधानुत्पत्ति प्रमाणकी प्रमाणताका कारण है तब तो किसी भी पुरुषके मिथ्या ज्ञानमें भी प्रमाणपना आ जायगा क्योंकि वहा बाधक कारण विकलता है और वैसा ही ज्ञान बराबर बनाया जा रहा है । यदि द्वितीय विकल्प लेते हो कि समीपमे खडे हुए ज्ञाता पुरुषके

ज्ञानमें बाधानुत्पत्ति ज्ञानमे प्रमाणताका कारण है, तो यह बात यों नही बन सकती कि दूरमे स्थित किसी पुरुषकी बाधानुत्पत्ति होनेपर भी समीपमें बाधा उत्पत्ति भी बन सकती है क्योंकि बाधक ज्ञान जिसके भी बन जाय वह कही भी बन सकता है। दूर देशमें खडा हुआ पुरुष भी यह जान जायगा कि यह ज्ञान झूठा है और समीपमे खडा हुआ पुरुष भी कहो न जान पाये कि यह ज्ञान मिथ्याज्ञान है तो दूरमें बाधा न हो और समीपमें बाधा आ जाय और समीपमें बाधा न हो दूरमें बाधा आ जाय। इस कारण यह कहना असगत है कि बाधानुत्पत्तिके कारण प्रमाणमें प्रमाणता आती है। इस प्रकार मीमासकके इन दो मतव्योमे कि निर्मल कारणसे उत्पन्न होनेसे प्रमाणता होती है और बाधानुत्पत्तिसे प्रमाणता होती है, ये दोनों विकल्प बाधित होजाते हैं।

किसीकी बाधानुत्पत्ति या सबकी बाधानुत्पत्तिसे प्रमाणका प्रमाणता माननके दो विकल्पोमे शून्यवादी द्वारा प्रमाणके प्रामाण्यकी उपपत्तिका निराकरण—शून्यवादी कह रहे है मीमांसकोंस की बाधानुत्पत्तिके द्वारा जो प्रमाणकी प्रमाणता कहते हो तो वह बाधानुत्पत्ति क्या किसीके होना मानी गई है अथवा सबके मानी गई है? अर्थात् किसीको बाधानुत्पत्ति हो क्या उतने मात्रसे ज्ञानमें प्रमाणता आती है या सबको बाधानुत्पत्ति हो तो प्रमाणमें प्रमाणता आती है? यदि कहो कि किसीको बाधानुत्पत्ति होना ज्ञानकी प्रमाणताका कारण है तो यह बात उल्टे ज्ञानमें भी लगाई जा सकती है अर्थात् विपर्यय ज्ञानमे भी किसीको बाधानुत्पत्ति होती है इससे विपरीत ज्ञानमे भी प्रमाणता आ जायगी। तथा मरीचिका आदिकमे जलका ज्ञान होने के सम्बन्धमें अन्य देशमे गमन आदिकके द्वारा बाधाकी अनुत्पत्ति होनेपर भी प्रमाणता आ जायगी इससे यह नहीं कह सकते कि किसीको बाधा उत्पन्न हो इतनेमात्रसे ज्ञानमें प्रमाणता आती है। यदि कहो कि सभी मनुष्योंका बाधानुत्पत्ति हो तो उससे अर्थज्ञान में प्रमाणता आती है, यह बात भी कहना युक्तिसगत नहीं है, क्योंकि छद्मस्थ जीव, अल्पज्ञ लोग ये जान नहीं सकते कि सभी प्राणियोंको इस सम्बन्धमें बाधानुत्पत्ति है और यदि अल्पज्ञ पुरुष सबकी बाधानुत्पत्तिको जाननेमें समर्थ हो जाय तब उनमें ही सर्वज्ञताकी प्रसक्ति हो जायगी इस तरह असर्वज्ञताके व्यवहारका अभाव बन जायगा। समस्त देश, समस्तकाल और समस्त प्राणियोंकी अपेक्षासे बाधकके अभावका निर्णय करना बन नहीं सकता, इस कारण सम्वेदन ज्ञानमे प्रमाणता बाधारहित होनेके कारण नही कही जा सकती है।

यौगाभिमत प्रवृत्तिसामर्थ्यसे प्रमाणकी प्रमाणता माननेका शून्यवादी द्वारा निराकरण—उक्त प्रसगमे शून्यवादी दो विकल्पोसे प्रमाणकी प्रमाणताका निराकरण कर चुके हैं। अब तृतीय विकल्पके सम्बन्धमे कह रहे हैं, कि सामर्थ्यसे भी प्रमाणमे प्रमाणता नहीं बतायी जा सकती है। क्योंकि इसमें अनवस्था दोषका प्रसग आता है प्रवृत्तिकी सामर्थ्यका अर्थ क्या है क्या फलसे सम्बध हो जाना इसका नाम प्रवृत्ति

का सामर्थ्य है या सजातीय ज्ञानकी उत्पत्ति होना इसका नाम प्रवृत्तिका सामर्थ्य है ? इन दो विकल्पोका भाव यह है कि प्रवृत्तिका सामर्थ्य फलसे अभिसम्बन्ध होना पक्षिल भाष्यमें लिखा है तो फलका सम्बन्ध होनेका नाम क्या प्रवृत्तिका सामर्थ्य है अथवा खान पान आदिकके द्वारा उस पुरुषमे जो पूर्वज्ञानमे सदृश सजातीयज्ञान उत्पन्न हुआ है क्या वह प्रवृत्तिका सामर्थ्य है। शून्यवादी ही कह रहे हैं कि यदि फलको सम्बन्ध होनेका नाम प्रवृत्ति सामर्थ्य है तो यह बतलावो कि वह फलका सम्बन्ध होना क्या ज्ञात होकर ज्ञानमे प्रमाणताको जनाता है ?

अवगत या अनवगत होकर फलाभिसम्बन्ध ज्ञानकी प्रमाणताको जना दे इनविकल्पोमे भी शून्यवादी द्वारा आपत्तिप्रदर्शन—यदि कहो कि अज्ञात होकर फलाभिसम्बन्ध ज्ञानकी प्रमाणताको जनाता है तो सुनिये वह फलके साथ सम्बन्ध होना ज्ञानकी प्रमाणताको सिद्ध नही कर सकता, क्योकि इसमे बहुत दोष आता है। फिर तो पर्वत आदिकमे धुवेंका ज्ञान न भी हो। धुवाँ साधन न भी हो तो भी अग्निका निश्चय कर बैठना चाहिए क्योकि अब अनवगत फल सम्बन्ध ज्ञानकी प्रमाणताको सिद्ध करने वाला मान लिया गया है। तो अनवगत होकर फलाभिसम्बन्ध ज्ञानकी प्रमाणताको नही जना सकता। यदि कहो कि वह अवगत होकर फलसम्बध ज्ञानकी प्रमाणता को जना देगा तो बतलावो कि वह अवगत कैसे हो ? क्या उस ही प्रमाणसे जाना गया या अन्य प्रमाणसे वह फल सम्बन्ध जाना गया उस ही प्रमाणसे फल सम्बन्ध जाना गया, यह तो यो नही कर सकते कि ऐसा कहनेमें फिर इतरेतराश्रय दोष आता है। वह इस तरह कि फलके साथ हुए अभिसम्बन्धका ज्ञान होनेपर तो उस हुए ज्ञान की प्रमाणताका निश्चय होगा और उस ज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय होनेपर विज्ञानके द्वारा फलके अभिसम्बन्धका ज्ञान बनेगा तो यो ही प्रमाणका फल सम्बन्धका ज्ञान माननेपर इतरेतराश्रय दोष आता है। यदि कहो कि अन्य प्रमाणसे वह जान लिया जायगा तो यह बतलावो कि वह अन्य प्रमाण किसके द्वारा प्रमाणताकी व्यवस्थाको प्राप्त हो ? अर्थात् उस अन्य प्रमाणमे प्रमाणता किस प्रमाणके द्वारा आयी ? यदि कहो कि प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे आयी तो वह भी प्रवृत्ति सामर्थ्य यदि फलके साथ अभिसम्बन्धरूप है और अवगत हो कर या अनवगत हो कर ज्ञानकी प्रमाणताको जनाता है तो इसके व्यवहारमें २–३ प्रसग उलट–उलट कर घटित होनेका चक्रक दोषका प्रसग होगा वह चक्रक दोष इस प्रकार है कि वह प्रवृत्ति सामर्थ्य यदि फलके साथ अभिसम्बध रूप है तो वह ज्ञात होकर या अज्ञात होकर ज्ञानकी प्रमाणताको जनाता है? यदि अज्ञात होकर ज्ञानकी प्रमाणताको जनाता है तो इसमे अतिप्रसग दोष आता है और यदि वह ज्ञात होकर जनाता है तो उस ही प्रमाणसे ज्ञात होकर प्रमाणकी प्रमाणताको जनाता है या अन्य प्रमाणसे ज्ञात होकर प्रमाणकी प्रमाणताको जनाता है। उस ही प्रमाणके द्वारा ज्ञात होकर प्रमाणकी प्रमाणताको तो फलाभिसम्बन्ध नही जना सकता, क्योकि इसमे इतरेतराश्रय दोष है। यदि अन्य प्रमाणसे जाना हुआ वह प्रमाणताको जनाये

तो बतलायो कि वह अन्य प्रमाण किस प्रमाणके द्वारा प्रमाणभूत हुआ ? यदि कहो कि प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे, तो इतना ही प्रश्न यहाँ लगाया जायगा और यों चक्रक दोषका प्रसंग आता है इस तरह प्रवृत्तिका सामर्थ्य फलके साथ अभिसम्बन्धरूप सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण इस विधिसे सजातीय ज्ञानकी उत्पत्तिरूप प्रवृत्तिसामर्थ्यसे भी ज्ञानकी प्रमाणताका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि सजातीय ज्ञानका प्रथम ज्ञानसे प्रामाण्य निश्चित होनेपर परस्पर इतरेतराश्रय दोष ज्योंका त्यों उपस्थित होता है। यदि अन्य प्रमाणसे उसकी प्रमाणताका निर्णय होता है तो इसमें अनवस्था दोष आता है।

अवगत या अनवगत ज्ञेयकी स्थितिमे हुई ज्ञानप्रवृत्तिसे प्रमाणके प्रामाण्यकी उपपत्तिका निराकरण— यहाँ फिर तत्त्वोपप्लववादी पूछ रहा है उन मीमांसकोंसे कि ज्ञाताकी प्रवृत्ति, ज्ञेय पदार्थोंके स्थानपर जो पहुँचनेकी होती है वह ज्ञेय के जाननेपर होती है या ज्ञेयके न जाननेपर ही होजाती है अर्थात् ज्ञाता जो ज्ञेय पदार्थों के निकट पहुँच गया तो ज्ञेयके जाननेपर पहुँचा या न जाननेपर ही पहुँचा ? न जानने पर पहुचा यह बात तो एक दम असंगत है, क्योंकि इस तरह सभी प्रमेयोंमें सभीकी प्रवृत्ति हो पडेगी, क्योंकि अब तो बिना जाने भी ज्ञेय पदार्थोंके निकट पहुँचना मान लिया गया है। तो बिना जाने तो प्रवृत्ति बनी नहीं। यदि कहो कि उस प्रमेयके जान लेनेपर प्रवृत्ति हुई है तो यह बतलायो कि किस ज्ञानसे उसने प्रमेयका ज्ञान किया है ? क्या निश्चित प्रामाण्य वाले ज्ञानसे ज्ञेयका ज्ञान किया है ? यदि कहो कि निश्चित प्रामाण्य वाले ज्ञानसे ज्ञेय पदार्थका ज्ञान किया है तो इसमें इतरेतराश्रय दोष हो आता है, क्योंकि प्रवर्तक ज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय होनेपर तो उससे प्रमेयका ज्ञान बनेगा और प्रमेयके ज्ञान होनेपर प्रवृत्तिकी सामर्थ्य उसकी प्रमाणताका निश्चय होगा। यदि कहो कि अन्य प्रमाणसे प्रमेयज्ञान बन जायगा तब फिर प्रथम ज्ञान होना व्यर्थ हो गया। प्रथम ज्ञानने कुछ नहीं किया। प्रथम ज्ञानसे जाने हुए उस अर्थ ज्ञानमें प्रमाणता तो अन्य प्रमाणसे आयी तब प्रथम ज्ञानका प्रयोजन कुछ न रहा और वही प्रश्न यहाँ भी उपस्थित हो जाता कि उस प्रमाणान्तरसे भी हुई प्रामाण्यप्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे जो उस ज्ञाताकी प्रवृत्ति हुई वह प्रमाणान्तरसे हुई या अप्रमाणसे हुई आदिक प्रश्न अब भी आपत्ति करने वाले उत्पन्न होते हैं। यदि कहो कि अनिश्चित प्रामाण्य वाले ज्ञानसे प्रमेयकी प्रतिपत्ति होती है तो ज्ञेयका ज्ञान अनिश्चित प्रामाण्य वाले प्रमाणसे हुआ है तब फिर प्रामाण्यका निश्चय करना ही व्यर्थ है। स्वयं अनिश्चित प्रामाण्य वाले ज्ञानसे प्रमेयकी प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति सिद्ध हो गई।

संशयसे प्रवृत्ति माननेपर आपत्तिप्रदर्शन— यदि कहो कि संशयसे प्रवृत्ति देखी जाती है इसलिए दोष न होगा, तो ऐसी शंका करने वाले नैयायिकसे शून्यवादी कह रहे हैं कि फिर प्रमाणकी परीक्षा करना किसलिए है ? जब प्रवृत्ति संशयसे भी

दे जाती है तो प्रमाणकी परीक्षाका क्या प्रयोजन रहा ? यहाँ इस विकल्पकी मीमांसा नैयायिक सिद्धान्तको लक्ष्यमें लेकर की जा रही है। नैयायिक मानते हैं कि प्रमाणमे प्रमाणता प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे हुई है तो उसी विकल्पमे ये प्रश्नोत्तर चल रहे हैं । जब संशयका प्रवृत्ति करना मान लिया गया तब फिर इसमें दोष क्या है ? किसलिए प्रमाणकी परीक्षा करते हो ? यदि कहो कि लोकसमाचारकी सार्थकताके लिए प्रमाणकी परीक्षा की जाती है तो शून्यवादी कहता है। कि प्रमाण प्रमेयरूप जो व्यवहार है यही है लोकसमाचार। सो प्रमाण प्रमेयरूप यह व्यवहार निर्विवाद कैसे प्रसिद्ध होता है ? स्वत या परत. ? जिस लोकवृत्तिके अनुवादके लिए अर्थात् प्रमाणप्रमेयरूप लोकव्यवहारकी साथकताके लिए प्रमाण शास्त्रोकी रचना की जा रही है वह लोकव्यवहार स्वत हो प्रसिद्ध हुआ अर्थात् स्वरूपसे ही सिद्ध हुआ तो प्रमाणसे पदार्थकी प्रतिपत्ति करनेपर प्रवृत्तिका सामर्थ्यस प्रमाण अर्थवान हुआ यों फिर परसे प्रामाण्य बतानेका विरोध आयगा। जब मान लिया कि प्रमाण प्रमेयका व्यवहार स्वय ही हो रहा तब फिर ऐसा जो कथन किया गया है कि प्रमाणसे पदार्थके ज्ञानके प्रसङ्गमें प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे ही वह प्रमाण सार्थक है, तो उसका विरोध हो जायगा, क्योकि इस कथनमे तो प्रामाण्य परत सिद्ध किया और विकल्प चल रहा है स्वत प्रामाण्य माननेका। देखिये ! स्वत प्रसिद्ध प्रमाण प्रमेयरूप लोकव्यवहार ही उसी प्रकार बताया जानेके लिए युक्त है आपके प्रमाणशास्त्रमे अन्यथा प्रसिद्ध प्रमाण प्रमेयरूपका कथन युक्त नही है, अतिप्रसग होनेसे। तो जब स्वत माना तब स्वत· ही कहना चाहिये था फिर परत प्रामाण्यका अनुवाद क्यों किया गया ?

स्वत· व परत प्रामाण्य मानने वालोके मन्तव्यकी शून्यवादी द्वारा मीमासा— अब यहाँ मीमांसक कहता है कि जिस प्रकारसे हम लोगोके द्वारा कहा जाता है, जैसे कि यहाँ परस हुए पद्धतिम कहा जाता है तो उस ही प्रकार फिर लोक वृत्ति प्रसिद्ध हो गयी। स्वत न हुआ फिर। यदि ऐसा कहोगे तो यह बात यो युक्त नही होती कि सब प्रमाणोकी प्रमाणता स्वत है ऐसा अन्य मीमांसक आदिक पुरुषोने भी इस प्रमाण प्रमेय व्यवहारका कथन किया है तब सब प्रमाणोकी स्वत ही प्रमाणता होगी, ऐसी ही प्रसिद्धिका प्रसग होगा। और, वह स्वत प्रामाण्य हुआ इस प्रकारका अनुवाद यदि कहो कि वह मिथ्या अनुवाद है तब फिर नैयायिकोका भी यह परत प्रामाण्य करनेका अनुवाद मिथ्या क्यो न हो जायगा ? यदि स्वत प्रामाण्यका कथन मिथ्या कहते हो तो परत प्रामाण्यका कथन भी मिथ्या हो जायगा। यहाँ शून्यवादी इसका खुलासा कर रहा है कि परत प्रामाण्य माननेमें विरोध कैसे आता है। नैयायिक कहता है कि परत प्रमाणरूपसे ही प्रमाण प्रमेय व्यवहार प्रसिद्ध है तो इस पर मीमांसक यह भी तो कह सकते हैं कि स्वत. प्रामाण्यरूपसे प्रमाणपनेका व्यवहार प्रसिद्ध है यदि नैयायिक यह दोष दे कि स्वत प्रमाण प्रमेय व्यवहारकी प्रसिद्धि होनेपर स्वतः प्रामाण्यका कथन करना सत्य बनेगा और स्वतः प्रामाण्यका कथन सत्य बनने

पर स्वतः प्रामाण्यकी बात प्रमाण प्रमेय व्यवहारकी प्रसिद्धि बने तो इस तरह इतरेतराश्रय दोष आ जायगा। तो शून्यवादी कहता है कि ऐसा दोष तो नैयायिकके यहाँ भी समान है उनसे भी यह कहा जा सकता है कि स्वतः ही प्रमाण प्रमेय व्यवहार प्रसिद्ध होनेपर स्वतः प्रामाण्यका अनुवाद करना सत्य होगा और स्वतः प्रामाण्यके अनुवादकी सत्यता होनेसे स्वतः प्रमाण प्रमेय व्यवहारकी प्रसिद्धि होगी। ऐसा इतरेतराश्रय दोष नैयायिकके सिद्धान्तमें भी घटित हो जाता है। तो इस तरह स्वतः प्रामाण्य वाला प्रथम विकल्प तो सिद्ध न बना। यदि कहो कि परतः प्रामाण्यके प्रकारसे अन्य लोकव्यवहारसे प्रकृत लोकव्यवहारकी प्रसिद्धि बन जायगी। तो उत्तरमें कहते हैं शून्यवादी कि फिर तो अनवस्था दोष यहाँ अवश्य ही आ जायगा। इस तरह प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे ज्ञानमें प्रामाण्यके कथनका निश्चय करना युक्त नहीं है। यों प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे प्रमाणमें प्रमाणता व्यवस्थित नहीं बनती है। यों नैयायिक सिद्धान्तमें जो माना गया था कि प्रमाणमें प्रमाणता प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे बनेगी, युक्त न हुआ।

बौद्धाभिमत अविसंवादित्वसे प्रमाणमे प्रामाण्य माननेके चतुर्थ विकल्पका शून्यवादी द्वारा निराकरण—पूर्वोक्त तीनों विकल्पोंके निराकरणकी तरह सौगत सिद्धान्तमें माने गए अविसम्वादत्वसे प्रमाणमें प्रमाणता आ जायगी, यह भी बात युक्तिसगत नहीं बनती, क्योंकि ज्ञानकी अविसम्वादकता यह है अर्थ क्रियाके सद्भावरूप। तो पदार्थमें अर्थ क्रिया हो रही है उसके अनुकूल काम हो रहा है तो वहाँ विसम्वाद न रहा? यह बात प्रसिद्ध होती है। तो अर्थ क्रियाके सद्भावरूप ज्ञानका अविसम्वाद बिना जाने हुए तो प्रमाणकी व्यवस्थाका कारण नहीं बन सकता। याने यहाँ दो विकल्प किये जाते हैं कि वह अविसम्वाद क्या जाने हुए प्रमाणकी व्यवस्थाका करने वाला होता है या न जाने हुए प्रमाणकी व्यवस्थाका करने वाला होता है? उसमेसे न जाना हुआ अविसम्वाद तो प्रामाण्यकी व्यवस्थाका कारण नहीं बन सकता, क्योंकि इसमें अतिप्रसग दोष होगा। फिर तो बिना जाने जिस चाहेकी व्यवस्था कर ली जायगी। इसी तरह जाने हुए भी अविसम्वादमे प्रामाण्यकी व्यवस्थाका कारण मानोगे तो यह बताओ कि अविसम्वादका जानना इसमे जो प्रमाणता आई वह किससे आई? यदि अन्य प्रमाणसे आई तो वह ज्ञान भी अन्य ज्ञानसे प्रमाणरूप बना। तो इस तरह अनवस्था दोष आयगा। यदि कहो कि अर्थक्रिया स्थितिरूप अविसम्वाद ज्ञानका प्रमाण अभ्यासदशामे स्वतः सिद्ध होता है इस कारण दोष नहीं है। तो शून्यवादी बौद्धोंसे पूछ रहे हैं कि इस अभ्यासका अर्थ क्या है? क्या बारबार ज्ञानमें सम्वादका अनुभवन करना यह अर्थ है? तो यहाँ अर्थ सत्यरूप सामान्यमें होता है या विशेषरूपमें होता है? याने ज्ञानमें बारबार सम्वादका अनुभव सामान्यमें होता है या, विशेषमे?

अतज्जातीय ज्ञानमे सवादकताकी असिद्धि— यदि कहो कि अतज्जातीय

ज्ञानमे बारबार सम्वादका अनुभव होता है तो यह सम्भव हो नही सकता क्षणिकवाद मे क्योंकि ज्ञाता क्षणिक है, नष्ट हो जाता है क्षणभरमे, तो वह बारबार ज्ञान कैसे करेगा यदि कहो कि सतानकी अपेक्षासे वारबार ज्ञान करना सम्भव हो जायगा। तो भाई सतानको तो बौद्धोने अवस्तु माना, तो उसकी अपेक्षा बन ही नही सकती। और यदि सतान वस्तुरूप हो जाय तो वह भी क्षणिक बन गया। फिर सतानकी अपेक्षासे वह अभ्यास क्या हो सकता है ? अत बारवार ज्ञानमे सम्वादका अनुभवन करना क्षणिकवादियोके बन ही नही सकता। यदि सतानको अक्षणिक अर्थात् नित्य मानते हो तब यह सिद्धान्त कि जो सत् है वह सब क्षणिक है, इसका विघात हो जायगा। क्योंकि सतान नाम तो है अनेक समयोमें उसकी परम्परा रहनेका। तो तब अनेक समयोमे कुछ रहा तो क्षणिक कैसे रह सकेगा तो इस तरह अतज्जातीय ज्ञानमे बराबर सम्वादका अनुभव होना सम्भव नही है।

तज्जातीय ज्ञानमे भी सवादकताकी सिद्धिका अभाव बताते हुए शून्यवादी द्वारा तत्त्वोपप्लववादके समर्थनका उपसहार—अब यदि कहो कि तज्जातीय ज्ञानमे बारबार सम्वादका अर्थात् सत्यरूपताका अनुभव हो जायगा सो यह भी नही कह सकते, क्योंकि जो जातिका निराकरण करने वाले हैं उन लोगोके यहाँ किसी भी ज्ञानमें तज्जातीयता नहीं बन सकती है। बौद्ध जन जातिको नही मानते क्योंकि जातिका सम्बन्ध है सामान्यके साथ, और सामान्यतत्त्व माननेपर फिर अनेक बातोको व्यापक व नित्य मानना पडेगा इस कारण जाति निराकरणवादमें तज्जातीयताकी बात ही नही बनती। यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि अन्यापोह रूप जातिके द्वारा किसी ज्ञानमें तज्जातीयता बन ही जायगी। तो उत्तरमें कहते हैं कि यह बात यो युक्त नही है कि अन्यापोह तो अवस्तुरूप है। केवल काल्पनिक है, सद्भूत नहीं। यदि अन्यापोहको वस्तुरूप मान लोगे तो जातिपनेका विरोध हो जायगा, क्योंकि स्वलक्षण जो विशेष है उसे ही सौगत सिद्धान्तमें वस्तुरूपसे माना गया है। और अन्यापोहको मान रहे हो यहाँ जाति तो यदि जाति है तो वस्तुरूप नही वस्तुरूप है तो जाति नही है इस प्रकार सामान्यसे प्रमाणका लक्षण नही बनता है और विशेषसे भी प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण नही बनते हैं। अत विचार करनेपर प्रमाणतत्त्वकी सिद्धि नही होती है। और जब प्रमाणतत्त्वकी सिद्धि न बन सकेगी तो प्रमेय तत्त्वकी व्यवस्था कहाँसे सम्भव है ? तो यो न प्रमाणतत्त्व रहा न प्रमेयतत्त्व रहा। सो अब तत्त्वोपप्लवकी व्यवस्था युक्तिसगत हो गयी। इस प्रकार शुन्यवादी तत्त्वका अभाव सिद्ध कर रहे हैं।

शून्यवादीके शून्यवादका निराकरण— अब उक्त तत्त्वोप्लवके सिद्धान्तके सम्बन्धमें समाधान रूपसे जैन शासनकी ओरसे कहा जा रहा है कि शून्यवादीका वह सब कथन असार है क्योंकि विचार किये जानेपर तत्त्वोप्लवकी व्यवस्था नही बनती है, क्योंकि अबाधित तत्त्वकी सिद्धि का निराकरण सम्भव नही है। इस समय शून्य-

वादी कह रहे हैं कि तत्त्वोपप्लवके सम्बन्धमे विचार करनेकी आवश्यकता ही नही है। क्योंकि यह शून्यवादका सिद्धान्त सर्वथा विचार करने योग्य नही है। क्योंकि वह तो बाधित ही है, अभावरूप है, इस कारण वह विचारसह है, अर्थात् उसपर विचार नही चल सकता। और यदि शून्यवादके सम्बन्धमें विचार चल सकता है, विचारसह है ऐसा मानते हो तब अनुपप्लुत-अबाधित तत्त्वकी सिद्धि हो गई तत्त्वोपप्लव रहा ही नही तो फिर आप खण्डन किसका करेंगे? शून्यवादकी सिद्धि तो इस प्रकार की जाती है कि तत्त्ववादी प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्वको मानते हैं, वह विचार करने पर अक्षम हैं अर्थात् तत्त्ववादियोंके द्वारा मान गए तत्त्वपर विचार करते हैं तो वे सिद्ध नही होते, इसी युक्तिवादपर तत्त्वोपप्लवकी सिद्धि है। समाधानमे कहते हैं कि शून्यवादीका यह कथन भी व्यर्थ है क्योकि तत्त्वके अनुरूप विचार करनेपर वह विचार निराकृत हो जाता है। प्रमाणकी प्रमाणता न तो इसके निर्दोष कारण समूहसे उत्पन्न होनेके कारण माना है और न बाधारहितपनेसे अपूर्व ज्ञानमें प्रमाणता मानी है और न प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे अथवा अविसम्वादकपना आदिकके कारण सम्वेदनमे प्रमाणता मानी है। स्याद्वादी जन इन चार कारणोसे प्रमाणमे प्रामाण्य नही मानते क्योकि इनमे जो अभी शून्यवादीने दोष दिया है वह ही दोष आता है, फिर ज्ञानमें प्रामाण्य किस प्रकार होता है? तो उत्तरमें कहते हैं कि बाधकोंकी असम्भवता सुनिश्चित होनेसे अर्थात् उसमें बाधक कारण जब कुछ सम्भव नही है तो प्रमाणकी प्रमाणता सिद्ध होती है।

ज्ञानमे बाधकासम्भवत्वकी दुरवबोधताका परिहार—कोई यह सोचे कि स्व और अर्थका व्यवसाय करने वाले ज्ञानमें बाधकोंकी असम्भवता दुरवबोध है सो बात नही है किन्तु बाधक प्रमाण है, इस बातका निश्चय करना बहुत आसान है। समस्त देश काल और पुरुषोंकी अपेक्षासे भले प्रकार बाधकोंका असम्भव होना सुनिश्चित है, वह अभ्यस्त विषयमें स्वतः ही जान लिया जाता है अर्थात् प्रमाणकी प्रमाणता अभ्यस्त विषयमे स्वतः ज्ञात होती है स्वरूपकी तरह। जैसे जो ज्ञान उत्पन्न हुआ उस ज्ञानका स्वरूप तो स्वतः ही जान लिया जाता है। ज्ञानने क्या जाना? ज्ञानका क्या स्वरूप है? ज्ञानका क्या विषय है? इसको समझनेके लिए किसी भी ज्ञान करने वाले पुरुषको हैरानी नही होती। क्योकि ज्ञानका स्वरूप स्वतः ही निश्चित हो जाता है। इस प्रकार अभ्यस्त विषयमें प्रमाणकी प्रमाणता स्वतः ही व्यवस्थित हो जाती है। परन्तु अनभ्यस्त विषयमें यह प्रमाणता परतः होती है, इस कारण इस प्रसगमे न तो अनवस्था दोष आता है और न इतरेतराश्रय दोष आता है। बाधकोंकी असम्भवता, सुनिश्चित होनेका अर्थ यह है कि वह ज्ञान स्व और अर्थका निश्चायक हो रहा है सो अपना और अर्थका निश्चायक होना अर्थात् बाधकोंकी असम्भवता होना यह अभ्यासदशामे परप्रमाणसे सिद्ध नहीं किया जा सकता, जिससे कि अनवस्था दोष हो और अभ्यास दशामे स्वतः प्रामाण्य माननेपर इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता,

क्योंकि प्रमाणमे प्रामाण्य स्वत ही सिद्ध होता है तथा अनभ्यासदशामें ऐसे अन्य प्रमाणोंसे प्रमाणता विदित होती है कि जिस अन्य प्रमाणकी प्रमाणता विदित होती है, जिस अन्य प्रमाणकी प्रमाणता स्वय सिद्ध है अर्थात् स्वय सिद्ध प्रामाण्य वाले अन्य प्रमाणसे अनभ्यस्त दशामे प्रामाण्यका परिज्ञान होता है और उससे फिर पूर्वज्ञानमे प्रामाण्य सिद्ध होनेसे अनवस्था आदिक दोषका अवकाश कहाँसे हो सकता है ? तो निष्कर्ष यह है कि अभ्यस्त दशामे प्रमाणमे प्रामाण्य स्वत होता है और अनभ्यस्त दशामे प्रमाणमे प्रामाण्य परत निश्चित किया जाता है। और ऐसा माननेमें न अनवस्था दोष आता है और न इतरेतराश्रय दोष आता है।

प्रतिपत्ताका अभ्यास और अनभ्यास होनेका सयुक्तिक वर्णन--प्रतिपत्ताका कही अभ्यास होना और कहीं अभ्यास न होना सयुक्तिक है याने किसी ज्ञानमें बारबार सत्यताका अनुभवन होना यह तो हुआ अभ्यास और किसी ज्ञानमें सत्यताका अनुभव न होना यह है अनभ्यास। सो किसो विषयमें अभ्यासका होना और अनभ्यास का होना दृष्ट और अदृष्ट नामकी विचित्रतासे सम्भव ही है। अदृष्ट मायने हुआ ज्ञानावरणका क्षयोपशम उसकी स्थितिके अनुसार अभ्यास और अनभ्यास दोनों बनते हैं। बाहरमे दृष्ट कारण माने गये है देश, काल, विशेष आदिक तो उनकी वजहसे अभ्यास बराबर पतीत होता हुआ देखा गया है क्योंकि आवरणके क्षयोपशमके अनुसार आत्मा को एक बार या बारबार अपने अर्थके सम्वेदनमें अभ्यासकी उपपत्ति देखी गई है। और, अपने अर्थके निर्णयज्ञानके आवरणका उदय होनेपर अर्थात् पदार्थ ज्ञानावरणका उदय होनेपर जिस पदार्थके ज्ञानका आवरणके होनेपर अथवा अर्थका परिज्ञान न होने पर या एक सम्वेदन होनेपर या बारबार सम्वेदन होनेपर अनभ्यास घटित होता ही है, क्योंकि पूर्व और उत्तर पर्यायके स्वभावका त्याग और स्वभावका उपादान अर्थात् अपने भवनका उत्पाद उसमे युक्त स्वभाव और स्थितिरूप होनेसे आत्मा परिणामी है और उसमे अभ्यास और अनभ्यासका विरोध नहीं है। जो सर्वथा क्षणिक है अथवा नित्य है, ऐसा प्रतिपत्ता माना जाय तो अभ्यास और अनभ्यासकी बात नहीं बनती। लेकिन जो आत्मा उत्पादव्यय ध्रौव्य सयुक्त है वहाँ पूर्व अनभ्यासदशाका त्याग, अभ्यास दशाकी उत्पत्ति, अनिर्णय अवस्थाका त्याग, निर्णय अवस्थाकी उत्पत्ति और इन सबके होते हुए ध्रौव्यका होना यह सब उसमें सम्भव है।

सम्यक प्रमाणमे बाधकप्रमाणकी असभवताके समर्थनमे प्रश्नोत्तर--अब यहाँ शून्यवादी कह रहे हैं कि बाधक प्रमाणकी असम्भवता सुनिश्चित है किसी ज्ञानमें, इस बातको कोई असर्वज्ञ पुरुष कैसे जाननेमे समर्थ हो सकता है ? ऐसा कहने वालेके प्रति उत्तर दिया जाता है कि फिर तुम ही यह बतलावो कि सब जगह सब समय सब जीवोंके सर्वज्ञान बाधाओंकी असम्भवतासे अनिश्चित है अर्थात् उनमें बाधक ज्ञान पाये जा सकते हैं। यह भी कोई असर्वज्ञ अल्पज्ञ पुरुष कैसे जान सकता है जैसे

शंकाकारका यह कहना था कि समस्त ज्ञानोंमें बाधकपना असम्भव है ऐसा निर्णय असर्वज्ञ नहीं कर सकता तो उनके प्रति यह भी यथा नहीं कहा जा सकता कि समस्त ज्ञानोंमें बाधकपना सम्भव है यह भी असर्वज्ञ पुरुष कैसे जान सकते हैं ? तब शून्यवादी कहता है कि ठीक है, इसी लिए तो संशय बन जायगा। याने बाधक प्रमाण सम्भव भी हो और सम्भव न भी हो, इन दोनोंके विषयमें संशयतो बन गया। तो उत्तरमें कहते हैं कि यह भी बाधकोंकी असम्भवता और सम्भवताका विषय करने वाला संशय ज्ञान सर्वदा, सबमें, सर्वज्ञ ही सकता है इसे भी असर्वज्ञ शून्यवादी कैसे समझ सकता है? यदि कहो कि स्वसम्वेदनमे बाधक प्रमाणका असम्भव होना सुनिश्चित है अथवा अनिश्चित है, इस प्रकारके सन्देहरूप ज्ञानसे यह जान लिया जायगा कि सभी ज्ञानोंमे उस प्रकारका अवबोध पाया जाता है। याने जो ज्ञान अपने आपमें कुछ परख रहा है ज्ञान के निजस्वरूपमें कि यह ज्ञान सही है अथवा नहीं है तब हम अपने ज्ञानके बारेमें कोई सन्देह पाते हैं तो उस प्रक्रियासे हम यह निर्णय कर लेंगे कि सब जगह सब समय सभी के ज्ञानोंमे इस प्रकारका संशय पाया जाता है। इसपर उत्तर देते हैं कि तब तो इसका एक अनुमान बन बैठेगा, किस प्रकार, सो देखिये ! विवादापन्न ज्ञान बाधक प्रमाणकी असम्भवताका निश्चय होना अथवा न होना याने बाधक प्रमाण है या नहीं इन दो बातोंसे सन्दिग्ध है ज्ञान होनेसे स्वसम्वेदन ज्ञानकी तरह। अर्थात् अपने ज्ञानकी तरह। सो यह स्वसम्वेदन साधन यदि बाधकोंकी असम्भवतासे सुनिश्चित है तब तो इस ही हेतुसे साधनमे दोष आयगा कि देखो अब संशय तो न रहा। जैसे अनुमान बनाया कि ज्ञान सदिग्ध हुआ करता है ज्ञान होनेसे हमारे ज्ञानकी तरह तो इस अनुमानमें जो साधन दिया गया उसमे बाधक प्रमाण तो नहीं है या है ? यदि कहो कि बाधक प्रमाण नहीं है यह बात बिल्कुल सुनिश्चित है तो लो यह ही ज्ञान सन्देह रहित बन गया फिर यह जो सिद्ध किया जा रहा है कि ज्ञान सारे संदिग्ध होते हैं ज्ञानपना होने से, हम लोगोंके ज्ञानकी तरह। तो अब इसकी सिद्धि कैसे होगी ? हेतु तो व्यभिचारी हो गया। यदि कहो कि इस अनुमानके साधनमे बाधकोंकी असम्भवता सुनिश्चित नहीं है तो लो जब तुम्हारा अनुमानसाधन ही पक्का न रहा, बाधकका असम्भवपना निश्चित न रहा तो अब ऐसा असिद्ध संदिग्ध हेतु अपने साध्यकी सिद्धि कैसे कर सकता ? यदि यो साध्यकी सिद्धि करने लगे तो इसमे अतिप्रसङ्ग दोष होगा।

समस्त ज्ञानोमे शून्यवादी द्वारा की गई संदिग्धता सिद्धिका निराकरण

और भी बताइये कि प्रतिपत्ताका वह ज्ञान कोई कहीं कभी बाधकोंकी असम्भवतासे सुनिश्चित और कोई कहीं कभी बाधकोंकी असम्भवतासे अनिश्चित ये दोनों ही प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं या नहीं ? अर्थात् प्रमाणसे सिद्ध हैं या नहीं ? यदि सिद्ध नहीं हैं, अप्रसिद्ध हैं तो फिर उनमे सन्देह कैसे बन सकता है ? किसी वस्तुमें दोनों विशेष प्रसिद्ध हो तो उसके सामान्यके देखनेसे ही उसको जानने वाले ज्ञानमें सन्देहकी असम्भवता है। जैसे ठूठ और पुरुष ये दो हुए विशेष, यदि इन दो विशेषोंकी अप्रसिद्धि है

याने ठूठ ही कोई चीज नही पुरुष भी कोई चीज नही ऐसी यदि अप्रसिद्धता है तो इस वस्तुमे ऊँचापन आदिक सामान्य धर्म दिखनेसे ही उभय विषयक याने स्थाणुपुरुष विषयक ज्ञानमे सन्देह नही हो सकता। जैसे कि जमीनका कोई भाग उठनेसे जो एक थोडासा भवन जैसा रूप ले लिया उसके दिखनेपर ठूठ और पुरुषके विषयमे सन्देह तो नही होता क्योकि वहाँ ठूठ और पुरुषकी प्रसिद्धि ही नही हो रही है। यदि कहो कि तब तो फिर वे दोनो विशेष प्रसिद्ध मान लिए जायेंगे, जिनके बारेमे सन्देह किया जाता है वे दोनो धर्म प्रसिद्ध मान लिए जायें तो यह बताओ कि उन विशेषोको यदि प्रसिद्ध मान लेते हो तो वह स्वत सिद्ध है या परत सिद्ध है। यदि कहो कि अभ्यास दशामें तो स्वत सिद्ध है और अनभ्यास दशामे परत. ही सिद्ध है तो इसमे अकलक-शासन सिद्ध हो गया क्योकि समस्त ज्ञानोमे कथचित् स्वत कथचित् परत प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था बनादी गई है। यही मतलब स्याद्वाद शासनका होता है। अन्यथा अर्थात् केवल स्वत ही प्रामाण्य होता है या परत ही प्रामाण्य होता है, ऐसा स्वीकार करनेपर फिर तो कही भी अवस्थान नही हो सकता है।

बाधकासभवतासे प्रामाण्यकी उपपत्ति होनेके कारण शून्यवादी द्वारा विकल्पोकी उपपत्तिके प्रयासकी व्यर्थता—जब प्रमाणकी प्रमाणता बाधकोकी असम्भवनाके निश्चय होनेमे बनती है, तब शून्यवादीने जो चार विकल्प करके प्रमाण की प्रमाणताका भी खण्डन किया है उन विकल्पोके परिणमनकी उत्पत्ति ही नही होती। उन विकल्पोमेसे प्रथम दो विकल्प तो मीमांसकके लक्षणसे किये गये थे, निर्दोष कारकसे उत्पाद्य होनेमे प्रमाणमे क्या प्रमाणता आती है और दूसरा विकल्प था कि बाधकानुत्पत्तिसे क्या प्रमाणमें प्रमाणता आती है? तीसरा विकल्प था नैयायिकके लक्षणसे कि क्या प्रवृत्तिको सामर्थ्यसे प्रमाणमे प्रमाणता आती है? और चौथा विकल्प था क्षणिकवादियोके लक्षणसे कि क्या अविसम्वाद होनेसे प्रमाणमे प्रमाणता आती है? तो जब प्रमाणकी प्रमाणता बाधकोके असम्भवपनेके निश्चयसे बनती है तो इस विकल्प समूहका कारण बना बनाकर प्रश्न खडा करना यह युक्त नही होता। स्वय अन्य जगह अन्य समय किसी प्रकार नही जाना है वस्तुविशेषको जिसने ऐसे शून्यवादी के फिर कभी वस्तु ज्ञानमे सशयका योग नही बन सकता। यदि कहो कि कभी कही निर्दोष कारकोके द्वारा उत्पाद्यत्व आदिक विशेषोकी प्रतिपत्ति हो जायगी? तो फिर शून्यवादकी सिद्धि कैसे हो सकती है?

पराभ्युपगमसे विकल्पोकी उपपत्ति माननेपर तत्त्वोपप्लवकी सिद्धिका अभाव—यदि शून्यवादी यह कहे कि दूसरोने उस तरहसे माना है, इस कारण उन विशेषोकी प्रतिपत्ति होनेसे दोष नही है। तो उत्तरमें पूछते हैं कि तो फिर क्या दूसरों का वह मानना प्रमाणसे प्रतिपन्न है या प्रमाणसे असिद्ध है? यदि वह दूसरोका मतव्य प्रमाणसे सिद्ध है तो शून्यवादीके द्वारा स्वय फिर कैसे प्रमाण प्रमेय तत्त्वका

उपप्लव किया जा सकता है क्योंकि वह दूसरेका माना गया तत्त्व प्रमाणसे सिद्ध मान लिया गया। यदि कहो कि दूसरोंके द्वारा माना गया वह तत्व है सो अन्य दूसरोंके अभ्युपगमसे (मान लिये जानेसे) जान लिया जाता है तो ऐसा माननेपर फिर उस अन्यका अभ्युपगम किसी अन्यके अभ्युपगमसे माना जायगा। इस तरह उन विकल्प विशेषोंकी प्रतिपत्तिमें अनवस्था दोष आता है। अब यहाँ आश्चर्यकी बात देखिये कि यह शून्यवादी दूसरोंके माने गए मन्तव्यका स्वयं विश्वास करते हुए फिर यह कह रहे कि मैं इसपर विश्वास नहीं करता हूँ, कैसे उसे स्वस्थ कहा जायगा? यह तो उन्मत्त की तरह वचन है। और, यदि दूसरेके माने गए विचारको स्वयं नहीं जानता यह शून्यवादी तो फिर उस परके अभ्युपगमसे कुछ भी यह नहीं जान सकता, वस्तुमात्रको भी नहीं समझ सकता। सो यह थोडा भी स्वयं निर्णीतका आश्रय न करता हुआ किसी विचारमें कुछ व्यापार करता है, ऐसा हम नहीं समझते, क्योंकि कुछ भी निर्णीत विषयका आश्रय करके ही अनिर्णीत अर्थके विचारकी प्रवृत्ति होती है। यदि सभी जगह विवाद जान लिया जाय तो फिर किसी भी स्थलका उस विचारका अवतरण नहीं हो सकता, इसलिए यह बात सही है कि कुछ तो निर्णीतका आश्रय होना ही चाहिए फिर उसके सम्बन्धमें और अधिक विचार चल सकता है लेकिन मूलसे ही सबके विषयमें विवाद मानते हैं तो फिर कहीं भी विचारकी प्रवृत्ति नहीं बन सकती। तो इन सब उक्त युक्तियोंसे यह सिद्ध हो गया कि तत्त्वशून्यवादी भी स्वयं एक प्रमाण से चाहे वह अपने यहाँ प्रसिद्ध हो चाहे परके यहाँ प्रसिद्ध हो किसी प्रमाणसे विचार करनेके बाद भी प्रमाण तत्त्व और प्रमेय तत्त्वका उपप्लव कर रहे हैं तो ये अपनेको ही ठग रहे हैं। जब किसी प्रमाणसे मानते हैं शून्य तत्त्वको तो प्रमाण तत्व तो आ ही गया और जहाँ प्रमाणतत्त्व आया वहाँ प्रमेय तत्त्व भी आ जाता है, तो इस तरह शून्यवादका सिद्धान्त घटित नहीं होता।

तीर्थ चलाने वाले या तीर्थच्छेद करने वाले सम्प्रदायोंमें सबके आप्तत्वका अभाव—प्रमाणतत्व व प्रमेय तत्व हैं और तत्त्वोंके विषयोंमें प्रत्येक सम्प्रदाय के दार्शनिक अपना मन्तव्य रखा करते हैं। अब उस सम्बन्धमें उनका परस्पर विरोध है और परस्पर विरोध होनेके कारण वहाँ सभीकी आप्तता नहीं बन सकती है। अतः जो यह कारिका चल रही है कि तीर्थंकरोंकी सम्प्रदायोंमें परस्पर विरोध है अतएव उन सबके आप्तता नहीं है, उन सबमेंसे कोई ही आप्त हो सकेगा, सबकी आप्तता नहीं बनती। इस वक्तव्यपर मीमांसकोंने हर्ष जाहिर किया था कि ठीक ही कह रहे हैं आप, कारिकाका यही अर्थ है कि जिन-जिनने तीर्थ चलाया वे सब परस्पर विरुद्ध वचन बोलनेके कारण आप्त नहीं है प्रमाण नहीं है और तभी तो श्रुतिवाक्य अपौरुषेय होनेसे प्रमाण है। सो इस बातका भी निराकरण यही है कि श्रुतिवाक्योंमें भी परस्पर विरुद्ध वचनार्थ होनेके कारण प्रमाणभूतता नहीं है और यह बात इस कारिका से भी बनती है। तीर्थकृतका अर्थ तीर्थको करने वाला यह भी है और तीर्थको छेदने

वाला भी है। जो तीर्थका विनाश करते हैं उनके सम्प्रदायोमे परस्पर विरोध होनेके कारण सबके आप्तता नही बनती। तीर्थका छेद करने वाले सम्प्रदायोके तथा सब कुछ अपने माने हुएको ही पुष्ट करने वालोंके आप्तता नही है, क्योकि उनका कथन परस्पर विरुद्ध है। कोई एक प्रमाणवादी है, कोई दो–तीन आदिक प्रमाण मानने वाले हैं, वे अपने उस प्रमाणको, प्रमाणके विषयको सिद्ध नही कर सकते। एक प्रमाणवादी तो ज्ञान द्वैतका अवलम्बन करने वाले चित्राद्वैतका आश्रय करने वाले तथा परमब्रह्म अद्वैतका व शब्दाद्वैतको भाषण करने वाले सुगत आदिक तीर्थछेदके सम्प्रदाय हैं उसी प्रकार एकमात्र प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानने वाले चार्वाक भी तीर्थछेदके सम्प्रदाय माने है। सर्वज्ञ सामान्यमें विवाद करने वाले मीमासक चार्वाक और शून्यवादी इनके प्रति आत्मत्वका सर्वज्ञसामान्यका सद्भाव सिद्ध करके अब उस सर्वज्ञ विशेषमे विवाद करने वाले सौगत आदिकके प्रति कथन किया जायगा, उसकी भूमिकामे कहा जा रहा है कि इन दार्शनिकोमेसे मीमासक चार्वाक शून्यवादी ये तो सर्वज्ञ मानते ही नहीं। कोई भी पुरुष सर्वज्ञ हो नही सकता, क्योंकि मीमासकोने श्रुतिवाक्यको प्रमाण माना है, चार्वाकने केवल प्रत्यक्ष ज्ञानको ही प्रमाण माना है और शून्यवादियोंने प्रमाण तत्त्व माना है और न प्रमेय तत्व माना है। तो ये दार्शनिक तो सर्वज्ञका अभाव ही मानते हैं। पर कुछ ही ऐसे सम्प्रदाय हैं जो सर्वज्ञका सद्भाव तो मानते हैं किन्तु विशेषके सम्बन्धमे उनके भी विवाद है। अत परस्पर विरुद्धवचन होनेसे उन सबके आप्तता नही है। देखिये! कोई कहता है सुगत सर्वज्ञ है, कोई कहता है कि कपिल सर्वज्ञ है आदिक विशेषोंकी सर्वज्ञतामे विवाद कर रहे हैं। तो जो सर्वज्ञ विशेषके सम्बन्धमे विवाद करें और सर्वज्ञ सामान्यके सद्भावमे विवाद करें, दोनो ही विचार वालोका इस कारिकाके अर्थसे निराकरण हो जाता है।

मूलतत्त्वके विरुद्ध अनेक प्रमाणवादियोमे परस्पर विरोध होनेसे उन सबके आप्तताकी असिद्धि–देखिये! मूल अन्तस्तत्त्वके विरुद्ध अनेकों प्रमाण मानने वाले अनेक प्रमाणवादी तीर्थ छेदके सम्प्रदाय हैं यद्यपि ये प्रमाण मानते हैं और अनेकों प्रमाण मानते हैं तो भी वस्तुका जो मूल स्वरूप है उसपर दृष्टि न होनेसे तथा श्रुति वाक्योसे उनके कुछ ही अर्थ लगाकर हिंसा आदिक कर्मोंमे प्रयुक्त होने वाले तीर्थका ही तो खण्डन कर रहे हैं ऐसे तीर्थ छेद सम्प्रदाय जैसे अनेक हैं उसी प्रकार तत्त्वपप्लवादी अर्थात् शून्यवादी भी तीर्थ छेदके सम्प्रदाय हैं क्योंकि इन शून्यवादियोंने तो उस का भी प्रमाण नही कहा है, तो वे भी अनेक प्रमाणवादी हैं और शून्यवादी भी अनेक प्रमाणवादी हैं। अनेक प्रमाणका यह भी अर्थ है कि एक नहीं किन्तु २–३–४ आदिक अनेक प्रमाणोको माननेवाले, और अनेक प्रमाणवादका यह भी अर्थ है कि एक प्रमाण को न माननेवाले। तो एक भी प्रमाणको नहीं मानते है शून्यवादी, इस कारण तो शून्यवादी भी अनेक प्रमाणवादी कहलाये और एकसे अधिक प्रमाणको जो माननेवाले हैं वे भी अनेक प्रमाण वादी हैं, सो ये सब तीर्थच्छेदके सम्प्रदाय हैं तथा आप्त आगम पदार्थ

समूहको अगणत ही चाहने वाले अनेक प्रमाणवादी वैनयिक हैं । उन्हें कुछ सोचने जाननेकी भी जरूरत नहीं है किन्तु उनका सिद्धान्त है कि हमने तो सब कुछ जान लिया जो कोई भी है वही देव है, प्रत्येक सम्प्रदायके माने गए प्रभु हमारे देव हैं तब जो पहिले से यह निर्णय कर चुका सो उसने माना, उसने अपने प्रयोजनके प्रसंगमें सब कुछ जान लिया, उससे अधिक उसे जाननेकी इच्छा ही नहीं बनती । तो ऐसे वैनयिक लोग भी तीर्थच्छेद सम्प्रदायके माने गए हैं, उन समस्त पुरुषोंमें आप्तपना नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध अर्थका उन्होंने कथन किया है ।

आप्तकी मीमांसाके प्रकरणका योग यहाँ आप्तकी मीमांसामें कि कौन आप्त हो सकता है कौन नहीं हो सकता? इसकी व्याख्यामें बताया गया कि कहीं किसी के निकट देवता आते हों या उनका आकाशमें गमन होता हो या छत्र आदिक विभूतियाँ हों तो इनसे भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मायावियोंमें भी ये बातें सम्भव हैं । और, इसी प्रकार जिन केदेहका अन्तरङ्ग अतिशय है, मल, मूत्र, पसीना आदिक नहीं है और पुष्पवृष्टि आदिक अन्तरङ्ग अतिशय होते हैं उनके भी आप्तपना नहीं है इस कारणसे, क्योंकि इस तरहका देह तो रागादिमान देवोंके भी पाया जाता है । तब आप्त सिद्ध करनेके लिए एक ही उपाय रह जाता है कि जिसने जो तीर्थ चलाया जिस तीर्थ परम्परामें वह है उसके द्वारा जो तीर्थ धर्म दर्शनके सम्बन्धमें वचन होते हैं उन वचनोंमें परस्पर विरोध न आवे । कभी कुछ कहदे कभी कुछ कहदे तो विरोध न आने से ही तो उसको सर्वज्ञताका विशेष जानने वाला है इस तरहका बोध हो सकता है, और जिसके वचनमें परस्पर विरोध है पूर्वापरविरोध है उनके भी आप्तता नहीं है, और जब सभी अपना-अपना मतव्य जाहिर कर रहे हैं तो उनमें परस्पर विरोध है इस कारण भी उन सबमें आप्तता नहीं है । हाँ हो सकता कि कोई इन्हींमेंसे आप्त हो, क्यों कि आप्त धर्म प्रवृत्तिके मूल स्रोत माने गए है । इससे ही धर्म प्रवृत्ति चलती है तो आप्त इसमें अवश्य है और कौन आप्त हो सकता है यह बात उनके वचनोंकी परीक्षासे सिद्ध होती है ।

अद्वैतवादकी असिद्धि और अद्वैतवादोंमें परस्पर विरोध—जो ज्ञानाद्वैत का अनुसरण करते हैं, केवल ज्ञानमात्र ही तत्त्व है, इस प्रकारका मतव्य रखते हैं तो उनसे यह पूछा जाय कि तुम जो अपना पक्ष बताते हो उसका साधन है कि नहीं, और परपक्षका दूषण भी बनता है कि नहीं ? यह सब मानना होगा । अपने पक्षका साधन किए बिना मतव्य कैसे निश्चित कर सकेगा और पर पक्षके दूषण दिए बिना परसे हट कर कैसे अपना मतव्य बना सकेगा? तो देख लो अब यहाँ दो बातें हो गयीं ज्ञानमें कि वह अपने पक्षका साधक है और परपक्षका दूषक है । तो ज्ञानाद्वैतके विरुद्ध ये दो बातें यहाँ ही आ गईं । तब अद्वैत सिद्ध नहीं होता किन्तु द्वैत ही सिद्ध होता है । यदि अद्वैत-वादी अपने पक्षके साधन और परपक्षके दूषणकी बातको युक्त समझकर द्वैतका प्रसंग

न आ जाय उस प्रसगका निराकरण करते हुए यदि कल्पनासे द्वैतको अगीकार करें तब फिर निश्चयसे ज्ञानाद्वैतकी सिद्धि भी न बनेगी। उसे भी कल्पनासे ही सिद्ध माना जायगा यहाँ ज्ञानाद्वैतवादी समस्त एक ज्ञानमात्र तत्व है ऐसा कह रहे हैं। तो ऐसा सिद्ध करनेके लिए ये ४ बातें तो आनी ही पडेगी कि अपने पक्षका साधन हो और पर पक्षका दूषण हो सो जैसे ही अपने पक्षका साधन और परपक्षका दूषण माना ऐसा प्रमाण अगीकार करनेपर द्वैतकी सिद्धि तो बन जाती है और अद्वैतको कल्पनासे मान रहे हैं। तो इसपर यह अति-प्रसग आता है कि परमार्थसे अद्वैतकी सिद्धि नही हुई यह तो उनके लिए अतिप्रसग आया और यदि कल्पनासे ही सब कुछ मान लिया जाता तो जो असत् हैं उनको भी मान लिया जाय, अनभिमत तत्त्व भी मान लिया जाय यह प्रसग आता है। तो इस प्रकार जब विज्ञानाद्वैतकी सिद्धि न हुई तो समझिये कि किसी भी अद्वैतकी सिद्धि नहीं है और ये अद्वैतवादी अपने मतव्यमे इन अद्वैतोको मान भी लें तो माननेपर न सब अद्वैतवादियोका ज्ञानाद्वैत चित्र द्वैत ब्रह्माद्वैतका अवलम्बन करने वाले दार्शनिकोका परस्पर विरुद्ध वचन होनेसे इनमें आप्तता नहीं हो सकती है।

एक प्रमाणवादी चार्वाकका विरुद्ध वचन जो लोग एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं उनके यहाँ भी उनके ही पक्षको सिद्धि नही होती अथवा विरोध होता है क्योकि प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है अन्य कोई प्रमाण नही है, इसकी व्यवस्था तो करनी ही पडेगी। प्रत्यक्ष ही प्रमाण है सत्यरूप होनेसे अन्य प्रमाण नही है, क्योकि वह सत्यरूप नही है इस तरह कुछ भी तो कहना होगा और यह बन जाता है अनुमान का प्रयोग। इसमे सम्वाद होना या सम्वाद न होना यह स्वभाव लिङ्ग मानना ही पडेगा। तो जब उन हेतुवोसे उत्पन्न हुआ अनुमान बन गया तब फिर अनुमानका निराकरण कैसे कर सकते हैं? अब एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण रहा यह बात तो न बनी। और, भी देखो कि दूसरेके चित्तका ज्ञान व्यापार आदिक कार्य हेतु देखकर किए जाते हैं, तो व्यापारादिक कार्यलिङ्गसे अनुमान उत्पन्न हो गया अब प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण तो न रहा। अनुमान भी प्रमाण है। और, भी देखिये ! चार्वाक परलोकका निषेध करते है, तो परलोक आदिकका निषेध करनेमे कोई हेतु ही तो दिया जायगा। हेतु दिया जाता है अनुपलब्धि होनेसे। परलोक नही है अनुपलब्धि होनेसे तो अब इस साधनके द्वारा अनुमान ही तो बन गया। फिर प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण है यह कथन तो विरुद्ध बन गया। तो यो चार्वाकका भी मतव्य परस्पर विरुद्ध होनेसे प्रमाणभूत नहीं है। यदि चार्वाक यह कहे कि अनुमानको दूसरोंने माना है तो उन दूसरोके माने जानेसे हम अनुमानको स्वीकार कर लेंगे तो इस तरह दूसरेके माने जानेके कारण स्वीकार करनेपर स्वयंके तो प्रमाण अप्रमाणकी व्यवस्था तो न रही। दूसरे सिद्धान्तने माना कि अनुमान है और उससे चार्वाकने अनुमान बनाया कि परलोक आदिक नही हैं तो उनकी ओरसे तो स्वय प्रमाण व अप्रमाणकी व्यवस्था न रही। फिर प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है यह कथन उनका कैसे युक्त हो सकता है? यदि अनुमान प्रमाणका सद्भाव

होनेपर भी चार्वाकको एक प्रमाणक दो माना जाय तो अन्य अनेक प्रमाणवादी लोग हैं, उन वैशेषिक आदिकको भी एक प्रमाणवादिताका प्रसग होगा। अर्थात् जैसे चार्वाकोंके यहाँ अनुमान प्रमाण सिद्ध होनेपर भी वह अपनेको एक प्रमाण वाला ही माने तो जिसने २-३-४ ५ आदिक प्रमाण माना है उन प्रमाणोके होनेपर भी उन्हें भी एक प्रमाण वाला कह दिया जाय तो क्या हर्ज है? चार्वाककी दृष्टिसे जब अनुमान प्रमाण होनेपर भी वे अपनेको एक प्रमाण वाला कहते हैं। तो इस तरह अनेक बातोसे इन सब दार्शनिकोमे परस्पर विरुद्ध वचनका उपयोग है, अत उनकी प्रमाणता नही बनती।

अनेक प्रमाणवादियोके प्रमाणोकी सख्याकी विरुद्धता—और भी देखिये कि जो दार्शनिक अनेक प्रमाणवादी हैं जैसे कि साख्य तीन प्रमाण मानते हैं, बौद्ध दो प्रमाण मानते हैं, नैयायिक चार प्रमाण मानते है और मीमांसक ६ प्रमाण मानते हैं तो इन लोगोने प्रमाण अनेक माने, तो किन्तु तर्क नामका प्रमाण किसीने भी नहीं माना? समस्त रूपसे साध्य साधन सम्बन्धका ज्ञान करना यह तो अनुमान ज्ञानके लिए आवश्यक ही है। जैसे कि कहा पर्वतमे अग्नि है धूम होनेसे तो इस अनुमानकी सिद्धि के लिए ज्ञान होना आवश्यक है कि जहाँ जहाँ धूम होती है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, विश्वमें सब जगहके लिए साध्य साधनकी व्याप्ति अर्थात् सम्बन्धका ज्ञान करना तो अनुमान ज्ञान करनेके लिये अति आवश्यक है। साध्य साधनके सम्बन्धमें ज्ञान किये बिना अनुमान प्रमाण बन ही नही सकता। तो तर्क नामका प्रमाण जरूर ही समझना चाहिए। अब उन्होने प्रमाण अनेक मान लिया पर तर्क नामका प्रमाण तो छूट ही गया। तब उनकी सख्याकी व्यवस्था तो नही बन सकती बताओ फिर साध्य साधनका सामस्त्यरूपसे सम्बन्ध जाना जाय, जैसे कि अग्निसाधक धूम साधनकी प्रमाणताके लिये जितना कुछ भी धूम है वह सब अग्निमे उत्पन्न होता हुआ होता है या अअग्निसे उत्पन्न हुआ नही होता है, ऐसा ज्ञान तो करना ही पडेगा।

व्याप्तिज्ञानका अन्य ज्ञानोमे अनन्तर्भाव व्याप्तिके ज्ञानके करनेमे प्रत्यक्ष की तो सामर्थ्य है नही क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल सन्निहित विषयका ज्ञान कराता है। विश्वमें सर्वत्र जहाँ जहाँ ये साधन हैं वहाँ वहाँ साध्य अवश्य है। ऐसा परिज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नही करा सकता। वह तो अभिमुख और नियमित विषयका ही बोध करायेगा। तो साध्य साधनकी व्याप्ति प्रत्यक्षसे नही जानी जा सकती। उसे अलगसे ही प्रमाण मानना होगा। इस प्रकार साध्य साधनकी व्याप्ति अनुमान प्रमाणसे भी नही जानी जा सकती। यदि साध्य साधनके सम्बन्धका ज्ञान अनुमान प्रमाणसे किया जायगा तो यह बतायें कि उस अनुमान प्रमाणमे भी जो साध्यसाधन होंगे उनकी व्याप्ति किस प्रमाणसे जानेंगे? यदि कहा कि उसकी व्याप्तिके लिए अन्य प्रमाण हो जायगा तो तृतीय अनुमानमे साध्य साधनकी व्याप्ति पडी है। उसका ज्ञान किस तरह होगा?

इस तरह अनेक अनुमान माने जानेपर भी कहीं समाप्ति न होगी और अनवस्था दोष आयगा । इस तरह वैशेषिक सिद्धान्तमें भी तर्क प्रमाण बनाना ही पड़ेगा अन्यथा उन के माने हुए ही प्रमाण सिद्ध न हो सकेंगे । इसी प्रकार सौगत जो दो प्रमाणोंको मानते हैं उनके यहाँ भी तर्क नामका अन्य प्रमाणका मानना अनिवार्य हो जायगा । क्षणिकवादियोंने केवल दो प्रमाण माने हैं— प्रत्यक्ष और अनुमान, पर तर्क नामका प्रमाण न तो प्रत्यक्षमें गर्भित होता और न अनुमानमें गर्भित होता, इस कारण उनका भी तर्क नामका एक अन्य प्रमाण मानना ही होगा । इसी प्रकार सांख्य लोगोंने एक आगम प्रमाण और माना है लेकिन आगमका भी विषय साध्य साधनका सम्बन्ध जानना नहीं है । सर्वत्र विश्वमें साध्य साधनका सम्बन्ध परिज्ञात कर लेना अनुमानका काम नहीं है । तो यों कपिलको अथवा सांख्यको तर्क नामका प्रमाण मानना ही होगा, नैयायिकोंने एक उपमान प्रमाण और माना है लेकिन साध्यसाधनके सम्बन्धको जानने में उपमान प्रमाणमें असामर्थ्य है उन्हें भी तर्क नामका प्रमाण अलगसे मानना ही पड़ेगा । मीमांसकोंने एक अर्थापत्ति नामका भी प्रमाण माना है लेकिन साध्य साधनके सम्बन्धका ज्ञान जैसे अनुमानमें नहीं किया जा सकता इसी प्रकार अर्थापत्तिसे भी साध्य साधन की व्याप्तिका ज्ञान नहीं बनता । मीमांसकोंके सम्प्रदायमें जो भट्ट सम्प्रदाय ने एक अभाव नामका भी प्रमाण माना किया अभाव प्रमाणका भी अधिकार नहीं है कि वह साध्य साधनके सम्बन्धको जान सके । तो यों अनेक प्रमाणवादियोंने प्रमाण तो माने एकसे अधिक लेकिन तर्क नामका प्रमाण सबने छोड़ दिया ।

शून्यवादी और वैनयिकोंके मन्तव्यकी विरुद्धता— अब शून्यवादियोंकी बात देखो ! जो एक भी प्रमाण नहीं मानते उनके यहाँ भी विरुद्ध कथन है । वे सिद्ध करना चाहते हैं कि समस्त तत्त्वोंका उपप्लव है । लेकिन जिन तत्त्वोंका अभाव सिद्ध करना चाहते उसकी सिद्धिमें जो प्रमाण दिया जायगा वह प्रमाण तो उनका तत्त्व बना अथवा अनेक प्रमाणवादियोंके जो कि तत्त्व मानते हैं और शून्यवादी जो कुछ भी तत्त्व नहीं मानते इनका कथन तो परस्पर विरुद्ध हो ही गया । और फिर अनेक प्रमाणवादियोंके द्वारा माने गए तत्त्वोंका अभाव किसी प्रमाणसे सिद्ध ही तो किया जाता है । अनुमान प्रमाण तो उन्हें मानना ही पड़ेगा । तो उनका वह कथन विरुद्ध है । अब वैनयिक पुरुषोंकी स्थिति देखो ! वैनयिक दार्शनिक वे कहलाते हैं जो सब कुछ जानना ही मानते हैं । जो बिना ही निर्णय किए सबको समान विनय करते हैं । समस्त तत्त्वोंको बिना ही निर्णयके माना जाता है सो वहाँ विशेष जाननेकी इच्छा ही क्यों करेंगे ? उनके लिए तो जो सामान्यसे सब जाना गया है वही सब कुछ यथार्थ है । तो वैनयिकोंके सर्व यथार्थ मानने वालेके भी जो परस्पर विरुद्ध वचनोंका समर्थन है ऐसा कथन करनेसे स्वयं विरुद्ध सम्वेदन प्रसिद्ध ही है । और, इस तरह भी विरुद्ध है कि यदि वे सुगतका मत मान लेते हैं तो कपिल आदिक मतका विरोध है । वैनयिक तो सभी मतोंको मानने वाले कहलाते हैं और जब इन सब मतोंमें कोई तत्त्व मत माने

तो शेष मत विरोधमें रहा तो उनका मानना भी, जानना भी सब विरुद्ध रहा । तो ये वैनयिकोंके भी ज्ञानविरुद्ध और वचनविरुद्ध रहे । इस प्रकार यह हेतु बिल्कुल सिद्ध है कि परस्पर इन सब दार्शनिकोंमें विरोध है और इसी कारण तीर्थ चलाने वालेके जितने भी सम्प्रदाय हैं, सिद्धान्त हैं, उनके नेता हैं उन सबमें आप्तपनेका अभाव सिद्ध होता है ।

अद्वैतवादमे स्वप्रमाणव्यावृत्ति होनेके कारण प्रमाण तत्त्वकी असिद्धि होनेसे आप्तत्वपात्रताका अभाव—अब यहाँ ज्ञानाद्वैतवादी स्याद्वादवादियोंके प्रति कह रहे हैं कि देखो स्याद्वादी पुरुषो ! जो तुमने हम लोगोंका परस्पर विरुद्ध कथन बताया है और अपने-अपने माने गए प्रमाण सख्याके नियमकी विरुद्धता कही है सो ये दोनों ही बातें हम लोगोंमें लागू नहीं होती । क्योंकि ज्ञानाद्वैतवादके स्वत प्रमिति सिद्ध है । अपने ज्ञानसे अपनेसे प्रमिति होना यह प्रमाणका साध्य है और फल है तो जब स्वत ही प्रमिति माना जाता तब इन अद्वैतवादियोंके यहाँ परस्पर विरुद्ध वचन न रहा । तो इस बार अद्वैतवादियोंके यहाँ अब अन्य प्रमाणसे स्वपक्षका साधन पर-पक्षका दूषणका वचन न होनेसे कोई परस्पर विरोधकी बात ही न रही । और जिसने एक ही इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष माना है उस एक प्रमाणवादीके यहाँ भी प्रत्यक्षकी प्रमाणता प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है क्योंकि प्रत्यक्षसे ही अनुमान आदिकका प्रामाण्य सिद्ध नहीं है, तब अन्य प्रमाणोंके प्रसग आनेकी कहाँ नौबत आई ? इसी तरह अनेक प्रमाणवादियोंके यहाँ भी अपने-अपने द्वारा माने गए प्रमाणोंकी सख्याका नियम स्वत ही सिद्ध हो जाता है, फिर उनमें भी तर्क नामक अन्य प्रमाणोंके मान जा पडनेका कहाँ प्रसग आया ? इस कारण इन सभी दार्शनिकोंका वचन विरुद्ध वचन नहीं है । ऐसी शका होनेपर स्याद्वादवादी उत्तर देते हैं कि यद्यपि उनके हिसाबसे थोडी ऐसी बात हो तो भी उनमें आप्तता नहीं है क्योंकि उन सबके प्रमाणोंमें प्रामाण्यकी व्यावृत्ति है याने कोई प्रमाण स्वय अपने आपका ज्ञान नहीं कर सकता है । अन्यथा अर्थात् प्रमाकी व्यावृत्तिका अभाव होनेपर अनेकान्तपना आ जाता है । देखिये ! ज्ञानाद्वैतमें अथवा अन्य अद्वैतोंमें स्वयकी स्वयस प्रमा सम्भव नहीं हो सकती अर्थात् स्वयकी दृढतापूर्ण जानकारी स्वयम हो नहीं हो सकती । इसका कारण यह है कि अद्वैतवादमें प्रमाण या कोई भी वस्तु निरश होती है । यदि कोई ज्ञान अपनेको जाने तो ज्ञानमें दो अश मानने पडेंगे ना, एक ज्ञायकपन दूसरा ज्ञेयपन । पर इस तरहके अश जिन्होने नहीं माने हैं, तब स्वके द्वारा स्वका ही ज्ञान करना इन अद्वैतवादियोंके यहाँ सम्भव नहीं है । तो जब यह ज्ञान निरश हो गया तो किसी ज्ञानमें प्रमाण और प्रमेय ये दोनो स्वभाव न अवस्थित रह सके और तब ये दोनो स्वभाव अलग हो गए निरश होनेके कारण, क्योंकि उन ज्ञानोंमे यदि यह कहते हैं कि प्रमाणरूप अश है तो प्रमाण तो प्रमेयके बिना कुछ हो नहीं सकता या प्रमेयरूप अश है ऐसा मानें तो प्रमेयपना भी प्रमाणके बिना न हो सका तो जब निरश है इनके यहाँ तत्त्व तो प्रमाण

प्रमेय स्वभाव रहा नहीं। जब जानकारी न रहीं, प्रमाकी निवृत्ति हो गई तो कैसे स्वके द्वारा स्वका ज्ञान करना बतायें, यह युक्त हो सकता है। और, उस प्रमाका अभाव होनेपर याने जानकारीके अभावको अभाव होनेपर प्रमाता आदिक स्वभाव न हटें तो इनमें एकान्तपना न रहा। फिर तो स्याद्वादकी सिद्धि हुई। अब प्रमाता आदिक अनेक स्वभाव वाले एक ज्ञानको अनेकान्तात्मक स्वीकार कर लिया गया है। अर्थात् ज्ञान ही ज्ञाता है, ज्ञान ही ज्ञेय है और ज्ञान ही करण है, साधन है। इस प्रकार एक ज्ञानभावमे इतने अश मान लेना यह तो स्याद्वादका आश्रय किए बिना नही बन सकता है। स्याद्वादमे ही ऐसी प्रतीति सम्भव है कि स्वय स्वके द्वारा स्वमे जाना जा रहा है तो इन अद्वैतवादियोके यहाँ स्वकी प्रमा नही बन सकती। तब एक ही तत्त्व है अद्वैत, तो वह निरश है, प्रमाण प्रमेयकी वहाँ व्यवस्था नही तो वहाँ जाननेकी बात घटित नही होती।

प्रत्यक्षैकप्रमाणवादीके भी स्वप्रमाव्यावृत्ति होनेसे प्रामाण्यकी असिद्धि

इन्द्रियज प्रत्यक्षमे भी स्वप्रमोकी बात घटित नही होती, क्योकि चार्वाकोके द्वारा तो वह असम्विदित ही माना गया है। चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाणको स्वसवेदी मानते ही नही है। तो इस तरह प्रत्यक्षमे भी स्वकी प्रमाकी व्यावृत्ति है। तो जहाँ स्वका ज्ञान ही सम्भव नही तब यह कहना कि प्रत्यक्षसे ही प्रमाण और अप्रमाण सामान्यकी व्यवस्था बन जायगी, यह अयुक्त है। और, जब स्वप्रमाकी सत्ता सिद्ध हो गयी अर्थात् अपने द्वारा ज्ञान अपने आपमे अपने आपको जान जाता है तब इस तरह प्रमाके अभाव की व्यावृत्ति बन गयी तो सिद्ध हो गया कि यह प्रमाण स्व और अर्थका निश्चय करने वाला है। तो स्वार्थ व्यवसायात्मकपन ज्ञानमें मानना यह तो स्याद्वादका आश्रय करना है और तब एकान्तपना न रहा इस कारण उनका स्वय हठवाद तो खतम हुआ। अपेक्ष लगाकर दृष्टियाँ लगाकर तत्त्वको सिद्ध करनेकी बात रखें तो इसमे तत्त्वकी सिद्धि हो सकती है। स्याद्वादका आश्रय किए बिना अद्वैत मानना अथवा द्वैत मानना, कितने ही प्रमाण मानना, किसी प्रकार तत्त्व मानना उसकी सिद्धि बन ही नही सकती। इसका कारण यह है कि पदार्थ स्वय अपने आपमें उत्पादव्यय ध्रौव्यका स्वभाव लिए हुए हैं। सम्भव स्थिति और विलय स्वरूपके माने बिना वस्तुकी सत्ता ही नही बन सकती। तब स्याद्वादका आश्रय लेकर तत्त्व सिद्ध करना चाहिए, उसे छोड कर अपने ही उपगमसे कुछ भी स्वरूप मानना यह युक्तिसगत नही है।

एक प्रमाणवादी अनेक प्रमाणवादी व शून्यवादी इन तीन भागोमे विभक्त अन्य समस्त दार्शनिकोके यहाँ स्वप्रमाव्यावृत्तिसे प्रामाण्य व आप्तता की असिद्धि

इस प्रसगमे दार्शनिकोंको तीन भागोंमें विभक्त किया है, एकप्रमाणवादी, अनेक प्रमाणवादी और शून्यवादी। जो केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानते हैं चार्वाक वे एक प्रमाणवादी हैं और २, ३, ४, ६ इस तरह भिन्न-भिन्न सख्याओमे प्रमाण

मानते हैं वे हैं अनेक प्रमाणवादी, जैसे कि चार्वाकोंने एक प्रमाण प्रत्यक्ष माना बौद्धोंने और विशेषवादियोंने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने, सांख्योंने प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान ये तीन प्रमाण माने नैयायिकोंने प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और अर्थापत्ति ये चार प्रमाण माने, मीमांसकोंने ६ प्रमाण माने, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव और, शून्यवादी कोई प्रमाण ही नहीं मानते। तो यहाँ यह बतला रहे हैं इन दार्शनिकोंके ज्ञान प्रमाणरूप नहीं हैं क्योंकि एकप्रमाणवादीके प्रत्यक्षमें अपनी प्रमाकी निवृत्ति है अर्थात् उनका प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण स्वयं अपने आप की जानकारी नहीं रख सकता है। ज्ञान तो स्वपर व्यवसायी है, अपना भी निर्णय रखे और परका भी निर्णय रखे। तो यहाँ यह बतला रहे हैं कि इन दार्शनिकोंके यहाँ ज्ञान कोई अपनी प्रमा रख ही नहीं सकता। प्रमा कहते हैं यथार्थ जानकारीको। जो एक प्रमाणवादियोंकी चर्चा ऊपर की गई है उस ही प्रकार अनेक प्रमाणवादियोंके भी अनेक प्रमाणोंमें अपनी प्रमाकी निवृत्ति है यह स्वयं सिद्ध समझना चाहिए। जैसे कि प्रत्यक्ष अनुमान, आगम आदिक जो प्रमाण हैं उन प्रमाणोंमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अपने आपकी भी जानकारी करले। और यदि जानकारी कर लेता है वह प्रमा तो इसमें अनेकान्त धर्म आ गया। अपनेको भी जानता है परको भी जानता है, फिर वह अस्वसम्विदित न रहा हो, अनेक शक्त्यात्मक अपने और पदार्थके निर्णय करने वाले ज्ञान ही प्रमाण सिद्ध होते हैं। तो एक प्रमाणवादीका प्रमाण भी अपने आपकी प्रमा नहीं कर सकता और अनेक प्रमाणवादियोंका प्रमाण भी अपनी प्रमा नहीं बना सकता। अब रहे शून्यवादी तो शून्यवादी तो शून्य ही मानता है किसी तत्त्वको मानता ही नहीं। दुनियामें ज्ञान है न दुनियामें ज्ञेय है, सबका अभाव मानने वाले शून्यवादी हैं तो उनमें अपनी प्रमाकी व्यावृत्ति स्वयं सिद्ध है। यदि प्रमाकी व्यावृत्ति न हो तो शून्यवादका एकान्त नहीं हो सकता।

सर्वथा नित्यवादी और सर्वथा अनित्यवादीके प्रामाण्य व आप्तत्वकी असिद्धि—उक्त प्रकार इन सबके नेताओंमें आप्तपना नहीं है, यह दूषण तो दिया है उनके प्रमाणसे। अब यह बतलाते हैं कि उन्होंने जो कुछ प्रमाण माना उनमें परस्पर विरोध है इस कारण प्रमाणका प्रमाणपना ही नहीं ठहरता और जिसने केवल नित्य माना है अथवा किसीने ज्ञानको अनित्य माना है तो इस तरह सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य भी नहीं होते। कथंचित नित्य है कथंचित अनित्यरूप है। जैसे कि नित्यवादी सांख्य अथवा ब्रह्माद्वैतवादी एक नित्य प्रमाणको कहते हैं। और, उसका हेतु देते हैं कि ज्ञानमें प्रमाणमें स्वभाव भेद नहीं है, ब्रह्म आदिकका उपादान कारण नित्य है, एक रूप है अतएव जो बुद्धियाँ हैं वे भी नित्य हैं और एक हैं। उसमें स्वभावका भेद नहीं है। ऐसा मानते हैं, उनके सर्व प्रमाणोंकी निवृत्ति होती है। जब स्वभाव भेद ही नहीं है तो अनेक प्रमाण कहाँसे सिद्ध कर लेंगे? उनका जब ज्ञान एक ही स्वभाव वाला है तो प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमान ज्ञान, अर्थापत्ति ये भेद कहाँसे उठ सकेंगे? तो

नित्यवादियोंकी तरह ये अनेक प्रमाण बन नहीं सकते। अब जो लोग एक ज्ञानको प्रतिक्षण अनित्य मानते हैं और उसका हेतु देते हैं कि उन ज्ञानोंमें स्वभाव भेद है, उनके यहाँ भी सर्व प्रमाणोंकी निवृत्ति है, प्रमाण सिद्ध हो नहीं सकता। क्योंकि अब तुमने प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोंको नित्य एकान्तसे विरुद्ध माना, अर्थात् अनित्यका एकान्त किया लेकिन ज्ञान तो कथंचित् नित्यानित्यात्मकरूपसे ही प्राप्त होता है। तो जो ज्ञानको नित्य मानते हैं वे ज्ञानके भेद नहीं बना सकते। अगर ज्ञानके भेद बनायें कि प्रत्यक्ष अनुमान आदिक तो ज्ञानमें स्वभाव भेद हो गया और स्वभाव भेद होनेसे फिर ज्ञान सर्वथा नित्य न रहे। स्याद्वादमें तो जो सहज ज्ञान है स्वभाव है वह तो है नित्य अंश और उसकी जो पर्यायें हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदिक वे हैं अनित्य और पर्याय दृष्टिसे सम्पूर्ण ज्ञान निरावरण ज्ञान भी प्रतिक्षण नवीन-नवीन बनता है तो पर्याय दृष्टिसे ज्ञान अनित्य है और स्वभाव दृष्टिसे ज्ञान ध्रुव है तो नित्यानित्यात्मक जो स्वरूप माने उसके यहाँ तो भेद व्यवहार बन सकता है लेकिन जो सर्वथा नित्य मानते उनके यहाँ भी भेद व्यवहार नहीं बनता। और जो सर्वथा अनित्य मानते उनके यहाँ भी भेद व्यवहार नहीं बन सकता जिसको ज्ञान अनित्य है, स्वभाव भेद पड़ा है तो वे सब स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पदार्थ हो गए। फिर उनमें भेद किस बातका? इस कारण इन प्रमाणवादियोंके जो कि नित्य मानते हैं सर्वथा अथवा अनित्य मानते हैं ऐसा भ्रम चलने वाले उन पुरुषोंमें आप्तपना नहीं हो सकता।

प्रभुमें साधारण वचनादिका प्रतिषेध होनेसे वचनादि हेतुओं द्वारा प्रभुमें आप्तत्वके निराकरणकी अशक्यता—और भी बात सुनो! देखिये, एकांतवादियोंके यहाँ निरावरण ज्ञानका निराकरण वचन, इच्छा, बुद्धि और प्रयत्न ये कर दिया करते हैं, मगर प्रतिषेधवादियोंके ज्ञानके निरावरणपनेका ये वचनादिक निराकरण नहीं कर सकते। यह बात बड़े रहस्यकी है। कैसे? सो सुनो! जो तीर्थंका विच्छेद करने वाले सम्प्रदाय हैं यानें मीमांसक तथा जो अन्य एकान्तवादी हैं उनके तो निरावरण ज्ञान नहीं है, क्योंकि जैसे साधारण पुरुषमें वचन इन्द्रियाँ, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न पाये जाते हैं वैसे ही इसमें हैं। जैसे कि रास्तागीर जैसे वचन बोलता है इन्द्रियाँ हैं बुद्धि है इच्छा है, कोशिश है तो वह सर्वज्ञ तो नहीं? इसी तरह इन अन्य दर्शनोंके प्रणेता जो पुरुष हैं उनमें ये सब बातें सामान्य पुरुषोंकी तरह पाई जाती हैं, वचन व्यवहार भी करते हैं, इन्द्रियाँ भी साधारण मनुष्यों जैसी हैं, बुद्धि प्रयत्न भी उस ही प्रकारके हैं। अतः इनमें आप्तपना नहीं बन सकता। लेकिन साधारण वचन आदिकका प्रतिषेध करने वाले स्याद्वादियोंके यहाँ यह दोष नहीं है। क्योंकि आप्तका वचन साधारण पुरुषोंसे विलक्षण है, दिव्यध्वनि खिरती है, मुख वहाँसे वचन नहीं बोलते हैं सो वचन सर्वज्ञक हैं इतना मात्र कहकर उनमें सर्वज्ञपनेका निषेध नहीं किया जा सकता। साधारण पुरुषोंमें जिस तरहके वचन निकलते हैं वैसे वचन आप्तके न होंगे। यदि उस ही प्रकारसे वचन व्यवहार करे कोई तो वह आप्त न होगा। इच्छा तो आप्तमें होती

हो नहीं। जैसा ज्ञान पराधीन आवरण साधारण पुरुषोंके होता है वैसा ज्ञान आप्तके नहीं होता। तो वचनादिककी बात कहकर निरावरण ज्ञानका निराकरण करना उनके यहाँ ही सम्भव है, पर जो सामान्य वचन, इच्छा बुद्धि आदिकका प्रतिषेध करते हैं उनके सिद्धान्तमें आप्त निरावरण ज्ञानका खण्डन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उनके वचन युक्तिशास्त्रसे अविरुद्ध हैं। उनकी बुद्धि इन्द्रिय क्रमके व्यवधानसे परे है जब कि अन्य सम्प्रदायोंके नेताओंका ज्ञान इन्द्रिय क्रमसे ही रहे मानते ही हैं। मीमांसक सिद्धान्तानुसारी पुरुषोंका ज्ञान कभी भी अतिन्द्रिय नहीं हो सकता। जो इस तरह क्रमसे जिसका ज्ञान चलता है इन्द्रिय क्रमका जिसमें व्यवधान बना है, उसमें सर्वज्ञता नहीं होगी, लेकिन स्याद्वादियोंके माने गए आप्तमें जो ज्ञान होता है उसमें इन्द्रिय क्रमका व्यवधान नहीं है, और इच्छा तो रंच है नहीं, क्योंकि आप्त पुरुष इच्छासे रहित है इस कारण जिस प्रकारके वचन आदि निर्दोष ज्ञानका निराकरण करनेमें समर्थ है उस प्रकारका वचनादि प्रभुमें न होनेसे निरावरण ज्ञानका निराकरण नहीं होता अर्थात् कोई अनुमान बनाया कि किसी भी पुरुषके सर्वज्ञ निरावरण ज्ञान नहीं हो सकते क्योंकि वे वचन व्यवहार करते हैं, इच्छा बुद्धि उनके यहाँके पुरुषोंके समान है, हेतु निर्दोष ज्ञानके निराकरण समर्थ तो है, पर इसमें देखना चाहिये कि इस हेतुमें किस वचनकी बात कही गई है। तो जिस प्रकारके वचन आदिक निर्दोष ज्ञानका निराकरण करनेमें समर्थ हैं उस प्रकारके वचन आदिक प्रभुके स्याद्वाद सिद्धान्तमें नहीं माने गए हैं। तब तो स्याद्वादसिद्धान्तके जानने वाले पुरुषोंके द्वारा जो भगवानका स्तवन किया गया है उनमें ऐसे वचन ऐसी बुद्धि नहीं मानी गयी और इच्छाका तो पूर्णतया अभाव माना गया है, जो साधारण वचनादिका प्रतिषेध करने वालोंके आप्तत्वकी असिद्धि नहीं है। यह परम गहन सत्य तत्त्व युक्ति शास्त्रके न जानने वाले पुरुषोंके अगोचर है। केवल निर्दोष बुद्धिके द्वारा ही यह परख बन सकती है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि सर्वज्ञ है क्योंकि उसके सद्भावमें बाधक प्रमाण कोई नहीं।

कश्चिदेव भवेद्गुरु' का एक रहस्यार्थ — जिस कारणसे कि तीर्थ विच्छेद वाले सम्प्रदायोंमें सबको आप्तता नहीं है तब फिर कौन है आप्त परमात्मा ? तो उसकी भी कारिकामे जो कश्चित् शब्द है यह शब्द ही उत्तर दे रहा है, कश्चित् शब्दमें दो पद हैं—क और चित्। कौन है गुरु ? तो उसका उत्तर मिलता है—क अर्थात् परमात्मा। एकाक्षरी कोशमे क का अर्थ परमात्मा किया गया है। कौन है परमात्मा ? तो कहते हैं चित् ही है, यहाँ चित् कहनेसे विशुद्ध चैतन्यका ग्रहण करना है। परमात्मा चैतन्य ही लब्धि उपयोग संस्कार जो कि आवरणके कारण है उनका विनाश होनेपर प्राणियोंके प्रभु होते हैं। इस कारिकामें जो कहा गया है कि कश्चिदेव भवेद् गुरु इससे शब्दोंके अर्थपर ध्यान दें। क्या गूढ़ अर्थ इसमें पड़ा हुआ है ? क मायने परमात्मा चित् मायने चैतन्य भवेत् मायने भवको धारण करने वाले प्राणी। भव यान्ति इति भवेतः। भवेतां गुरुः इति भवेद्गुरु। भवेद्गुरुका अर्थ हुआ भव धारण करने वाले अर्थात्

ससारी जीवोंके गुरु कौन हैं ? कः चित् एव, परमात्मा, चैतन्य ही गुरु है । तो यहाँ स्याद्वाद वाद न्यायमें विद्वेश के रखने वाले अर्थात् स्याद्वादसे विरुद्ध मतव्य रखने वाले दार्शनिकोंके यहाँ सवज्ञपनेका निराकरण किया गया है । उनके यहाँ कोई आप्त नही हो सकता । तो उस निराकरणके किए जानेसे फलितार्थ यह सिद्ध करना कि स्याद्वादियोके आप्त आक्षेपके योग्य नही हैं, उनमे कोई दोष नही दिया जा सकता है इस कारण बाधक प्रमाणमें असम्भवता सुनिश्चित् है । तब इस कारिकाका चतुर्थ चरण इस तरह व्याख्यामें लाना चाहिए कि क मायने परमात्मा परमात्मा किसे कहते हैं ? जिसमें परम मा हो । पराका अर्थ है आत्यतिक, अत्यन्त अधिक और माका अर्थ है लक्ष्मी । आत्माकी लक्ष्मी ज्ञानभाव है । वह ज्ञानभाव जहाँ उत्कृष्ट पाया जाय उसे परमात्मा कहते हैं । तो कः मायने परमात्मा, चित् एव चित् ही है, यहा चित्का अर्थ है ज्ञानी, सर्वज्ञ, तो परमात्मा ही सर्वज्ञ होता है । अज्ञ प्राणी कभी भी आप्त नहीं होता । क चित् इन शब्दोमे जो चित् शब्द दिया गया है उस चित् शब्दका मुख्यवृत्ति से आश्रय लेना है अर्थात् जो साक्षात् निर्दोष पूर्णरूपसे ज्ञानरूप है वह चित् है क्योंकि चित् शब्दका अर्थ गौणरूपसे कथचित् अचेतन प्रतिबिम्ब आदिकमे भी प्रवृत्ति देखी जाती है अर्थात् प्रतिमाको भी चित् कह देते हैं जोकि मुख्यतया निश्चयसे अचेतन ही है उसे ग्रहण नही करना किन्तु जो साक्षात् चित् है सवज्ञ है उसे ग्रहण करना ।

लब्धि उपयोग और सस्कारोके विनाश होनेपर सर्वज्ञता होनेके कारण सर्वज्ञके ज्ञानमे अतीन्द्रिय प्रत्यक्षत्वके सदेहका अनवसर—यहाँ मीमांसक कहते हैं कि परमात्मा भी साक्षात् वस्तुको जानता हुआ इन्द्रिय सस्कारके अनुसार ही जानेगा अन्यथा न जान सकेगा अर्थात् इन्द्रिय सस्कारका अनुरोध न हो तो वह साक्षात् वस्तुको न जान सकेगा, क्योंकि इन्द्रिय सस्कारके बिना जो ज्ञान होगा वह प्रत्यक्षज्ञान हो ही नही सकता । और इन्द्रियके सस्कार एक साथ सर्व अर्थोंमें ज्ञानको उत्पन्न करने मे समर्थ नही हैं, क्योंकि ज्ञान सम्बद्ध और वर्तमान पदार्थको ही विषय करता है । वह ज्ञान एक साथ समस्त अर्थोंमे जानकारी नही बना सकता । चक्षु आदिक इन्द्रियके द्वारा पदार्थ सम्बद्ध जाना जायगा और वर्तमान जाना जायगा इस कारण कोई सर्वज्ञ हो ही नही सकता, क्योंकि भावी अतीत कालसे सम्बन्धित पदार्थोंका ज्ञान हो नही सकता, इस कारण चित्तमें आत्मामे अ पुरुष भी रहता है । इस प्रकार सर्वज्ञका निराकरण करने वाले मीमासकोका यह मतव्य युक्त नहीं है, क्योंकि प्रकृतमें जो वाक्य कहा है कि परमात्मा चेतन ही ससारी प्राणियोका प्रभु है क्योंकि लब्धि उपयोग सस्कारोका विनाश हो गया है तो हेतुमे यह विशेषण दिया गया है कि लब्धि उपयोग और सस्कार इन तीनका विनाश हो चुका है, इस कारण वह सर्वज्ञ है । यहाँ लब्धिका अर्थ है ज्ञानावरण आदिकका क्षयोपशम । सो सर्वज्ञ भगवानके ज्ञानावरणके क्षयोपशमका अभाव है । उपयोग कहते हैं किसी विषयमे ज्ञानके लगानेको । तो यो ज्ञानके लगानेरूप वृति अब सर्वज्ञ अवस्थामें नही है । इन दोनोका जो सस्कार है वह

है अपने विषयको धारणारूप । जो जाना, जिस तरहकी उनमे वृत्ति होती है उस तरहकी धारणा बनी रहना उस कहते हैं संस्कार । संस्कार अर्थस्वरूप अर्थके ग्रहणकी उन्मुखताका नाम नहीं है । स्वरूपार्थ जाननेमे उन्मुख ज्ञानका नाम उपयोग है और उपयोगकी परम्परामे उपयोगके विषयभूत पदार्थ ज्ञानकी धारणा होना इसे संस्कार कहते हैं । तो लब्धि उपयोग और संस्कार इनका विनाश होनेपर ही सर्वज्ञ होता है । अत यह कथन मीमांसकोंका कि इन्द्रिय संस्कारके अनुरोधसे ही परमात्मा साक्षात् वस्तुको जानेगा, यह अयुक्त है । इन्द्रिय और संस्कारोंका विनाश हो जानेपर ही परमात्मा सब कुछ जान सकता है । इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञ है, आप्त है, क्योंकि उसमे बाधक प्रमाणके असम्भव होनेका पूर्ण निर्णय है । उस आप्तके द्वारा प्रणीत जो शासन है वह शासन प्रमाणभूत है और उसके अनुसार वृत्ति बनानेसे जीव संसारके संकटोंसे परे हो जाता है । इससे अन्य पुरुषोंमे परस्पर विरुद्ध वचन होनेसे आप्तता नहीं है ।

भावेन्द्रियके विनाशसे सर्वज्ञता होनेका सयुक्तिक वर्णन— अब यहाँ कोई शका करता है कि जो यह कहा गया कि भावेन्द्रिय और संस्कारोंके विनाश होनेपर सर्वज्ञ होता ही है सो यह बात कैसे युक्त है कि भावेन्द्रियके विनाश होनेपर सर्वज्ञ हो और वहाँ द्रव्येन्द्रियके विनाश होनेकी बात न हो अर्थात् जब कि यह कहा गया है कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमे समस्त अर्थोंका परिज्ञान होता है तो अभी द्रव्येन्द्रियाँ लगी हो तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कैसे बना ? प्रयोजन यह है कि यदि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होनेके लिये इन्द्रियका विनाश आवश्यक मानते हो तो द्रव्येन्द्रियका भी विनाश हो तब सर्वज्ञता होना चाहिये । उत्तरमे कहते हैं कि ऐसी शका न करना चाहिए, क्योंकि आवरणका कारणसे तो भावेन्द्रिय है । द्रव्येन्द्रिय ज्ञानके आवरणके कारणसे नही है अर्थात् ज्ञानावरणके कारणसे द्रव्येन्द्रियकी उत्पत्ति नही है, द्रव्येन्द्रियकी उत्पत्ति तो अगोपाङ्ग नामकर्मके निमित्तसे होती है । ज्ञानावरणके कारण तो भावेन्द्रिय होती हैं । तब समस्त रूपसे ज्ञानावरणका क्षय होनेपर ही भगवान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वाले हो जाते हैं यह सिद्ध है । इन्द्रिय प्रत्यक्षवान होनेमे अघु कर्मोंका विनाश कारण नही है किन्तु ज्ञानावरणका विनाश कारण है । कोई यहाँ यदि यह शकाकरे कि ज्ञानावरणके विनाश होनेपर भगवान अतीन्द्रिय प्रत्यक्षवान हो जाते है इतने मात्रसे जब बात बनी तो भावेन्द्रियके अभावमे ही सर्वज्ञता कैसे कही गई ? इस आशकापर उत्तर देते हैं कि समस्त आवरणोंके क्षय होनेपर आवरणके कारण उत्पन्न होने वाली भावेन्द्रियका फिर होना सम्भव नही है । क्योंकि कारणके अभाव होनेपर कार्यको उत्पत्ति नही होती । कारण है आवरण और कार्य है, भावेन्द्रिय । जब ज्ञानावरण न रहा तो भावेन्द्रिय कैसे रहेगी ?

आवरणके क्षयोपशममे उदयकी झाकी—अब यहाँ कोई शका करता है

कि भावेन्द्रिय तो आवरणके क्षयोपशमके कारण होती हैं। जब ज्ञानावरण कर्ममा क्षयोपशम होती है तब भावेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं इस कारण भावेन्द्रियोसे आवरणके कारण हुई हैं ऐसा क्यो कहा गया ? इस आशकापर उत्तर देते हैं कि भावेन्द्रियाँ किस तरह होती हैं, इसे पहिले परखिये ! देशघाती ज्ञानावरणके स्पर्द्धकोका उदय होनेपर और सर्वघाती ज्ञानावरणके स्पर्द्धकोके उदयका अभाव होनेपर तथा जो सर्वघाती ज्ञानावरण स्पर्द्धक आगे उदयमे आ सकने वाले हैं उनके सत्ता अवस्थामे रहनेपर अर्थात् उपशम होनेपर भावेन्द्रियकी उत्पत्ति होती है। तब यह बात न रही कि भावेन्द्रिय आवरणके कारणसे नही है। आवरणके निमित्तसे ही ये भावेन्द्रियाँ हैं। व्यक्तरूपसे तो इस प्रसगमे देशघाती स्पर्धकका उदय बताया ही गया है। आवरणके विनाश होनेपर तो सर्वज्ञता बनती है, सो जब तक आवरण है तब तक आवरणके निमित्तसे भावेन्द्रियाँ हैं, अत भावेन्द्रियोका विनाश होनेपर सर्वज्ञता होती है।

ससारी प्राणियोसे ससारी प्राणियोके प्रभुकी विलक्षणता—अब यहाँ मीमांसक शका करता है कि यहाँ कोई भी प्राणी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला नही पाया जाता, जिससे कि हम भगवानमे अतीन्द्रिय प्रत्यक्षपनेकी कल्पना कर सकें। जब हमे भगवानके अतीन्द्रिय प्रत्यक्षपनेके लिए यहाँ कोई उपमा मिले जिससे यह परख सकें कि इसकी तरह भगवान अतीन्द्रियज्ञान वाले हैं सो ऐसा कोई भी प्राणी नजर नही आता जो कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला हो। इस शकाके उत्तरमे कहते हैं कि यह शका करना सही नहीं है क्योकि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला भगवान तो इन प्राणियोका प्रभु है। प्राणियोको समानतामें देखा गया धर्म समस्त प्राणियोके प्रभुमे नही मिलाया जा सकता है, क्योकि समस्त प्राणियोंका प्रभु तो ससारी प्राणियोकी प्रकृतिसे परे हो गया है। सो यहाँ यदि कोई प्राणी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला नहीं मिलता है तो उससे भगवानके अतीन्द्रिय प्रत्यक्षपनेकी सिद्धिमें बाधा नही आती। सो कोई अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला है उसके ही वचन दिव्यध्वनि प्रतिपादन शासन युक्ति शास्त्रके अविरोधी होनेसे वही आप्त हो सकता है।

प्रत्यक्ष और अनुमानसे सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करनेका मीमासकका कथन—अब यह मीमांसक बडे विस्तारसे सर्वज्ञके अभावकी सिद्धि करना चाह रहे हैं, मीमासक कहते हैं कि जो बाधक प्रमाणके असम्भव होनेका निर्णय कह कर प्राणियो का प्रभु सर्वज्ञकी सिद्धि करना चाहते हैं तो आपका यह हेतु असिद्ध है। सर्वज्ञकी सिद्धि में हेतु क्या दिया है कि सर्वज्ञ सिद्धिमें बाधक प्रमाण असम्भव है, सो यह हेतु असिद्ध यो है कि इसका बाधक प्रमाण यह है कि सर्वज्ञके साधक प्रमाणकी असम्भवता है। साधक प्रमाण कुछ नही है जो सर्वज्ञको सिद्ध कर सके यही तो बाधक प्रमाण हुआ। इस लिए देखिये कि सर्वज्ञको सिद्ध कर सकने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान तो है नही, यह तो स्पष्ट है। यहाँ किसीको भी प्रत्यक्षसे सर्वज्ञ नजर नही आ रहा है। और, सर्वज्ञका

साधक अनुमान प्रमाण भी नही है इसका कारण यह है कि अनुमानका एक अंग है लिङ्ग हेतु साधन। सो अनुमानका साधक कोई साधन नहीं देखा जा रहा है। तो सर्वज्ञ तो इस समय हम लोगोके द्वारा देखा नही जा रहा, सो तो प्रत्यक्षसे प्रसिद्ध है, और ऐसा कोई हेतु साधन भी नजर नहीं आता कि जो सर्वज्ञका अनुमान कर सके। तो सर्वज्ञकी सिद्धि प्रत्यक्षसे नही हुई, अनुमानसे नहीं हुई।

आगमसे भी अर्वज्ञकी सिद्धि होनेका मीमासकका कथन—आगमसे भी सर्वज्ञके अभावकी सिद्धि नही हो सकती कैसे कि देखो! आगमके विषयमें दो कल्पनायें की जा सकती हैं एक तो आगम नित्य हो सकता है दूसरे आगम अनित्य माना जा सकता हैं। तो नित्य आगम तो सर्वज्ञका प्रतिपादन करने वाला है नहीं क्योकि नित्य आगमकी प्रमाणता काय अर्थमें ही है। नियोग और भावना अर्थमें नित्य आगमकी प्रमाणता है। यदि स्वरूप अर्थमे भी प्रमाणता मान ली जाय तो इसमे अतिप्रसग होगा। जब यह वाक्य आया कि तूमयाँ जलमें डूबती है, पत्थर पानीपर तैरते हैं तो इसमें भी प्रमाणता आ बैठेगी। या स्वरूप निरूपक जो वाक्य है जैसे कि जल पवित्र है तो इसमे भी प्रमाणता आ जायगी पर वेद नित्य आगम तो भावना और नियोग अर्थमें ही प्रामाण्य रखता है। जो ये श्रुतिवाक्य है स सर्ववित् स लोकवित्, हिरण्यगर्भ. सर्वज्ञ अर्थ देखिये! जो यज्ञ करता है वह सर्ववेदी है, वह लोकवेदी है आदिक वाक्योंसे और हिरण्य गर्भ सर्वज्ञ है आदिक वाक्योसे कोई यह शका करने लगे कि देखो आगममें भी सर्वज्ञकी बात कही गई है सो यह बात नहीं है। सर्ववित् सर्वज्ञ आदिक शब्दोसे जो आगममे वर्णन है वह केवल यज्ञकी प्रशसा करनेके लिए है। नित्य आगम तो यज्ञ कर्मकी प्रशसा करने वाला और यज्ञ कर्म आदिककी स्तुति करने वाला है। तो उन वाक्योका तात्पर्य सर्वज्ञरूप पदार्थके लिए नही है। उन वचनोको प्रधानता स्तुति अर्थके कहनेमे है तो स्तुति प्रशसा प्रधान वचनोके द्वारा किसी अन्यमें सर्वज्ञाने का विधान नही किया जा सकता है। कोई ऐसा सन्देह करे कि आगमके द्वारा ही तो सर्वज्ञका कथन हो रहा है सो बात नही। जो कि किसी प्रमाणमे जो प्रसिद्ध ही नही है उस बातका वेदके वाक्यो द्वारा आगम द्वारा कथन सम्भव नही हो सकता है। तो इस प्रकार नित्य आगम तो सर्वज्ञका प्रतिपादक नही है। साथ ही यह जानो कि नित्य आगम आदिमान सर्वज्ञका प्रतिपादन कर ही नही सकता, क्योकि इन दो बातोका विरोध है कि आगम नित्य हो और आदिमान सर्वज्ञका उसमें प्रतिपादन हो। आदिमान सर्वज्ञका भाव यह है कि सर्वज्ञके सम्बन्धमे ऐसा ही तो प्रतिपादन होगा कि सर्वज्ञ था सर्वज्ञ होगा सर्वज्ञ है अथवा होना है तो सर्वज्ञ होगा, इसमें भी सर्वज्ञको आदि आ गई सर्वज्ञ था इसमे भी आदि ध्वनित है और सर्वज्ञ है इसमें भी आदि ध्वनित है तथा तीन कालके भेदसे सर्वज्ञका जो तीन रूपोमे प्रतिपादन है वह नित्य आगमका कार्य नही हो सकता। तो नित्य आगमसे सर्वज्ञकी सिद्धि नही है।

प्रणीत आगमसे भी सर्व असिद्धिकी अशक्यताका आरेकन—यहाँ मोमांसक ही कहे जा रहे हैं कि सवज्ञकी सिद्धि करने वाला कोई प्रमाण नही है। प्रत्यक्षस मर्वज्ञकी सिद्धि नही हुई, अनुमानसे भी सवज्ञकी सिद्धि नही हुई नित्य आगमसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि नही होती। अब यदि यह कहो कि अनित्य आगम सर्वज्ञ की सिद्धि करने वाला बन जायगा तो भाई देखो कैसी गजबकी बात है कि सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत तो वह अनित्य आगम है और वही आगम सर्वज्ञका प्रकाशक बने, इस कथनमे प्रथम तो यह बात है कि इसमे प्रामाण्यकी गुजाइश यो नही कि उम होने तो बताया और उस हीको मवज्ञ बताया है तो अपने आपके द्वारा रचे गए शास्त्रमे अपनी प्रशसाकी बात कहे तो यह तो लोकव्यवहार है, उसमें प्रमाणता क्या? और फिर दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ प्रणीत अनित्य आगममे सर्वज्ञताका कथन समझना यह इतरेतरा दाषसे युक्त है। जब यह सिद्ध हो ले कि आगम सर्वज्ञका प्रतिपादक है और जैसे कि यहाँ प्रसग चल रहा है यह सिद्ध होले कि आगम सर्वज्ञका प्रतिपादक है तब यह सिद्ध हो कि आगम सवज्ञ द्वारा प्रणीत है। यदि कहो कि अन्य पुरुषके द्वारा प्रणीत आगम सवज्ञका प्रतिपादक बन जायगा तो यह भी बात प्रमाणभूत नहीं है, क्योंकि अन्य मनुष्य अर्थात् अल्पज्ञ पुरुष जो वचन कहे वह प्रमाणभूत कैसे माना जायगा जिसस कि उस ही के वचनसे सर्वज्ञका ज्ञान कर लिया जाय, और प्रामाण्य-रहित असर्वज्ञ प्रणीत वचनसे यदि सर्वज्ञकी प्रतिपत्ति मान रहे हो तब इतना भी कष्ट क्यो करते? अपने ही वचनसे क्यो नही सर्वज्ञकी प्रतिपत्ति मान लेते हो? क्योंकि जैसे तुम अल्पज्ञ हो वैसे ही आगमके बनाने वाले अन्य पुरुष भी अल्पज्ञ हैं। वचन दोनोके एक समान हैं। अत. यह सिद्ध हुआ कि आगमको विधि भी सवज्ञका बोध नही करा सकतो, क्योकि नित्य आगमका तात्पर्य तो सर्वज्ञके बारेमे स्तुति मात्र ही करना है। वह उन श्रुति वाक्योका वास्तविक तात्पर्य नही हैं उनका तात्पर्य तो यज्ञ आदिक कर्मोंमे लगाने व्यापार करना आदिक है। तो अन्य अर्थोंमे प्रधान वचनो द्वारा सर्वज्ञका प्रमाण न हुआ, और जो पहिले किसी प्रमाणसे ज्ञात नही हुआ है उसका कथन करना भी शक्य नही है। अनादि आगम और फिर आदिमान सवज्ञका प्रतिपादन करे यह कैसे युक्त हो सकता है? और कृत्रिम आगम तो असत्व है, उसके द्वारा सिद्धि कैस हो सकती है? यदि कृत्रिम आगमसे सर्वज्ञ मानते हो तो तुम खुद ही कह रहे हो, इस ही को सवज्ञ मान बैठो। तो इस तरह किसी भी प्रकार आगमसे सर्वज्ञ कि सिद्ध नही होती।

उपमान व अर्थापत्ति प्रमाणसे भी सर्वज्ञसिद्धिके अभावका मीमासक द्वारा कथन—जैसे प्रत्यक्ष अनुमानसे आगमसे सर्वज्ञकी सिद्धि न बनी इसी प्रकार उपमान प्रमाणसे भी सवज्ञकी सिद्धि नही होती। उपमान प्रमाण वहाँ अर्थका साधक है जहाँ साध्य अथके समान अन्य कोई वस्तु नजरमें आये। उपमा देनेसे बनता है उपमान, यह उनके समान है, तो जब दोनो नजर आये जिसमे कि समानता सिद्ध की जा

रही है तब ही तो उपमान प्रमाणका उपयोग होगा लेकिन सर्वज्ञके सदृश संसारमें कोई प्राणी दृष्टिगोचर है ही नहीं तब उपमान प्रमाण सर्वज्ञका साधक कैसे हो सकता है ? यदि सर्वज्ञके समान किसी प्राणीको हम इस समय देख पायें तब ही तो उपमान प्रमाणसे सर्वज्ञको जान सकेंगे। सो जिस तरह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान सर्वज्ञके साधक न हो सके उस ही प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण भी सर्वज्ञका साधक नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थापत्तिका उत्थापक, व्यक्त करने वाला कोई पदार्थ अन्यथा अनुपपद्यमान होता है याने न उत्पन्न हो सकने वाला कोई पदार्थ सो ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो कि सर्वज्ञके बिना अनुपपद्यमान हो ? यदि कोई ऐसा माने कि धर्म आदिकके विषयमें जो उपदेश दिया गया उससे यह सिद्ध हो जायगा कि सर्वज्ञ है। यदि सर्वज्ञ न होता तो धर्म आदिकका उपदेश सम्भव न होता। सो यह बात यों युक्त नहीं कि धर्म आदिकका उपदेश सर्वज्ञके अभावमें भी सम्भव है, क्योंकि वह बहुत मनुष्योंके द्वारा परिगृहीत है। कथित भी है और ग्रहण किया गया भी है बुद्ध आदिक नेताओं का धर्म अधर्म आदिकके सम्बन्धमें उपदेश जो हुआ वह तो सर्वज्ञके अभावमें भी बन सकता है। बुद्ध आदिक वेदके ज्ञाता नहीं उन्होंने तो केवल व्यामोहसे ही उपदेश किया है। किन्तु जो त्रिवेदके ज्ञाताओंके प्रधान हैं अर्थात् ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेदके ज्ञाताओंमें प्रधानरूपसे मनु आदिक प्रसिद्ध हुए हैं और उन त्रिवेदियोंके द्वारा व्याख्यान किए गए जो स्मृति ग्रन्थ हैं वे सब वेदसे उत्पन्न हुए वचनको ही कहते हैं। तो इस प्रकार सर्वज्ञकी सिद्धि करने वाला न प्रत्यक्ष ज्ञान हो सका न अनुमान, आगम, उपमान और न अर्थापत्ति प्रमाण बन सका। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान व अर्थापत्ति इनके अलावा और कोई ऐसा प्रमाणान्तर है नहीं जो सत्त्वका उपलम्भक हो। वस्तु सत्त्व सिद्ध करने वाले ये ५ प्रमाण हैं। अभाव प्रमाण तो अभावको ही सिद्ध करता है सो अभाव प्रमाणके द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि ही क्या होगी ? जो सत्त्व साधक हैं वे प्रमाण भी सर्वज्ञके साधक नहीं हैं।

अत्रत्यलोकप्रत्यक्षकी भांति अन्यदेशकालवासियोंके प्रत्यक्ष द्वारा भी सर्वज्ञसिद्धिकी अशक्यताका मीमांसक द्वारा कथन—यहाँ मीमांसक कह रहे हैं कि यदि कोई ऐसा कहे कि इस जगह इस समय हम जैसे लोगोंको प्रत्यक्ष आदिक ज्ञान सर्वज्ञका साधक नहीं है तो न होवे किन्तु अन्य देशमें अन्य कालमें रहने वाले किन्हीं लोगोंको सर्वज्ञका साधक ज्ञान हो जाता होगा, यह कहना भी अयुक्त है क्योंकि जिस जाति वाले प्रमाणके द्वारा जिस जाति वाले पदार्थका दर्शन होता है उस जाति वाले लोगोंको उस ही जाति प्रमाणके द्वारा उस ही जातिके पदार्थोंका दर्शन सर्वत्र हो सकता है अर्थात् जैसे हम लोगोंका यहाँका प्रत्यक्ष सर्वज्ञका साधक नहीं है इसी प्रकार किसी भी जगहके किसी भी समयके लोगोंका भी प्रत्यक्ष सर्वज्ञका साधक नहीं हो सकता। उसके अनुमानका प्रयोग भी है कि विवादापन्न देशकालमें प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण इस जगहके इस समयके प्रत्यक्ष आदिक द्वारा ग्राह्य पदार्थोंकी जाति, वाले

पदार्थोंका ही ग्राहक हो सकता है, उससे विजातीय जो सर्वज्ञ आदिक पदार्थ हैं उनका ग्राहक नही हो सकता क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाण ही तो है। जैसे कि इस जगहके इस समयके लोगोके प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण सर्वज्ञ आदिक अर्थके ग्राहक नही होते हैं। यह अनुमान प्रयोग इसलिए किया गया है कि जिन लोगोके मनमे यह सन्देह हो कि हम लोगोके प्रत्यक्षसे तो यहाँ सर्वज्ञका ज्ञान नही हो रहा किन्तु किसी दूसरे देशमें किसी भी समयमे किन्ही लोगोका प्रत्यक्ष सर्वज्ञका साधक ज्ञान बन जायगा। उसके उत्तरमें यह अनुमान प्रयोग किया गया है कि अन्य देशकालमे लोगोका प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण सर्वज्ञ आदिक अर्थोंको न जान सकेगा, क्योंकि वह भी तो प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे कि हम सब लोगोका प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञका साधक नही बनता।

सर्वज्ञवादियोकी ओरसे अन्यदेशकालमे सम्भव अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे सर्वज्ञकी सिद्धिका कथन—अब यहाँ सर्वज्ञवादियोके पक्षकी ओरसे कहा जा रहा है कि जिस प्रकारका इन्द्रियादिजन्य प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण सर्वज्ञ आदिक पदार्थोंका असाधक देखा गया है क्या उस ही प्रकारके प्रत्यक्षादिसे अन्य देश कालमें सर्वज्ञादि अर्थके अभावका सिद्ध करते हो अर्थात् सर्वज्ञका उस प्रमाणको असाधक सिद्ध करते हो या अन्य प्रकारके ज्ञानका सर्वज्ञका असाधक बताते हो? यहाँ यह पूछा जा रहा है कि अन्य देशकालवासियोका भी प्रत्यक्षादि ज्ञान सर्वज्ञको सिद्ध नही करता ऐसा जो कह रहे हो तो क्या वह प्रत्यक्षज्ञान ऐसा ही अन्य लोगोका जैसा कि यहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान हम आपका है या हम आप लोगोके इन्द्रियजज्ञानसे विलक्षण कोई अन्य प्रकारका ज्ञान है? यदि यह कहो कि जिस प्रकारका यहाँ हम लोगोका इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदिक ज्ञान सर्वज्ञ आदिका असाधक है उस ही प्रकारके प्रत्यक्ष प्रमाणसे अन्य देश कालमें भी सर्वज्ञकी सिद्धि नही होती यह कहा जा रहा है। तब तो ठीक है सिद्ध साधन है। सही बात है कि हम लोगो जैसा इन्द्रियजन्य ज्ञान किसी भी देशमे, किसी भी समय किसी के भी हो वह सर्वज्ञका साधक नही बन सकता। यदि कहो कि अन्य प्रकारका ज्ञान सर्वज्ञका असाधक है यह कह रहे याने अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अन्य देश अन्य कालमें सर्वज्ञ साधक नही है। यदि ऐसा मानते हो तो यह हेतु अप्रयोजक है। अर्थात् यह हेतु किसी कामसें आने वाला नहीं है। जैसे कि कोई इस लोकको ईश्वरकृत माननेके लिए यह हेतु दे कि यह सारा जगत ईश्वरकृत है क्योंकि आकारविशेष होनेसे। तो आकारविशेष तो अनेक पदार्थोंका है जो बुद्धिमानोके द्वारा नहीं बनाया गया, स्वय हैं। यो जैसे वह हेतु अप्रयोजक है इसी प्रकार यह कहना कि हम लोगोके होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञानसे विलक्षण अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सर्वज्ञका साधक नही है यह हेतु अप्रयोजक है। सो इस हेतु द्वारा सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नही किया जा सकता।

अन्य प्रत्यक्ष अस्मदादि प्रत्यक्षसे विलक्षण न होनेसे सर्वज्ञ सिद्धिके अभावका मीमासक द्वारा कथन—उक्त कथनके विषयमें मीमासक लोग कहते हैं

कि यह कथन असत्य है क्योंकि हम लोगों जैसा प्रत्यक्ष ज्ञानकी तरहका अन्य देश-वासियोंका प्रत्यक्ष ज्ञान है, उसमें ही सर्वज्ञकी प्रसिद्धि बना रहे। हमारा जैसा ही ज्ञान अन्य देश अन्य काल वालोंका है और वह सर्वज्ञका अमोघक है तथा ऐसा कहने पर सिद्ध साधन भी नहीं होता क्योंकि अन्य प्रकारका प्रत्यक्ष होना ही नहीं है। यदि हम लोगोंके प्रत्यक्षसे विलक्षण कोई प्रत्यक्ष ज्ञान होता तो कह सकते थे कि यह हेतु अप्रयोजक है। लेकिन जैसे हम लोगोके प्रत्यक्ष आदिक ज्ञान होते हैं उनसे विलक्षण तो कोई ज्ञान होता ही नहीं है, इस कारण सिद्ध साधन दोष नहीं आता। इस बात की सिद्धि अनुमान प्रयोगसे भी हो जाती है कि विवादापन्न प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण इन्द्रियादि सामग्री विशेषकी अपेक्षा न रखता हुआ नहीं होता, प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण होनेसे जैसे कि हम लोगोका प्रसिद्ध प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण है। इस अनुमानमें यह बात बताई गई है—अन्य देश अन्य कालमें प्रत्यक्ष किसीका अतीन्द्रिय हो सकता है ऐसा सर्वज्ञवादियोंके द्वारा कहा जानेपर यह कहा जा रहा है कि अन्य देशकालवादी पुरुषोंका ज्ञान कैसा है? यह अभी विवादमें पड़ा हुआ है ना, तो विवादमें पड़ा हुआ भी ज्ञान हम लोगो जैसा ही ज्ञान है यह सिद्ध किया जा रहा है हमारे ज्ञानसे विलक्षण कोई अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान जिसमें कि विवाद उठ रहा है वह इन्द्रियादिक सामग्री विशेषकी अपेक्षा रखता है, क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण है प्रसिद्ध हम लोगोके प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणकी तरह।

यहां ही अनेक जीवोका प्रत्यक्ष अस्मदादि प्रत्यक्षसे विलक्षण देखा जानेसे मीमांसकोक्त हेतुमें अनैकान्तिक दोषकी आपन्नताकी चर्चा—यहां कोई यह शंका न करे कि गीधका प्रत्यक्ष अथवा सूकरका प्रत्यक्ष चींटियोंका प्रत्यक्ष जैसे बहुत दूरसे पदार्थोंको जान लेता है गीध बहुत दूरके पदार्थोंको देख लेता है और हम लोग नहीं देख पाते सूकर बहुत दूरके शब्दोंको सुन लेता है हम लोग नहीं सुन पाते, चींटियाँ घ्राण इन्द्रियसे अनेक वस्तुओंका दूरसे प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेती हैं तो यह कहना कि अन्यदेश अन्य कालमें जीवोका जो प्रत्यक्ष होता है वह हम जैसा ही प्रत्यक्ष है यो बात तो न रही। यहाँ ही देखा जा रहा है कि हम लोगोंके प्रत्यक्षसे विलक्षण प्रत्यक्ष हुआ करते हैं जीवोके। हम लोग तो निकट देशकी अपेक्षा रखते हैं तब हम प्रत्यक्षसे जान पाते हैं लेकिन गीध, सूकर, चींटी आदिकने तो देशविशेषकी अपेक्षा ही नहीं रखी। बहुत दूर देशमें स्थित पदार्थोंको भी वे जान लेते हैं। तब देखो हम लोगो के प्रत्यक्षसे विलक्षण उनका प्रत्यक्ष हुआ ना। और भी देखिये! बिलाव, उल्लू चूहा आदिकका जो प्रत्यक्ष है वह प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रखता और वे अच्छी तरह स्पष्ट देख लेते हैं लेकिन हम लोगोका प्रत्यक्ष तो प्रकाशकी अपेक्षा रखता है। तब यही देख लो कि हम लोगोंके प्रत्यक्षसे विलक्षण प्रत्यक्ष भी होते हैं जीवोके। और, भी देखलो कात्यायन आदिक ऋषियोंका अनुमान ज्ञान विषयक बड़ा अतिशय था अर्थात् वे अनुमान ज्ञानके सम्बन्धमें बहुत विशिष्ट ज्ञान रखते थे जैसा ज्ञान हम आप लोग नहीं

रखते। तो हम आप लोगोके प्रत्यक्षसे विलक्षण ज्ञान हुआ था, यही कात्यायन आदिक का? जैमिनी आदिक ऋषियोके आगमका अतिशय माना है उनके भक्तोने। उनको आगम विषयक मर्म रहस्य अर्थ आदिकका अत्यन्त अधिक ज्ञान था, जैसा कि ज्ञान हम आप लोगोके नही पाया जाता। इस कारण आपका हेतु अनैकान्तिक है।

किसीका भी ज्ञान अस्मदादिप्रत्यक्षसे विलक्षण न होनेसे स्वोक्त हेतुमे अनैकान्तिकान्तिक दोषके निवारणका मीमासक द्वारा प्रतिपादन—उक्त आरेकापर मीमासक उत्तर देते हैं कि जिन जिनके ज्ञानकी अभी बात कही गई है गीध, सूकर चीटियाँ, बिलाव, कात्यापन, जैमिनी आदिक ऋषि उन सबका ज्ञान इन्द्रिय आदिककी एकाग्रतारूप सामग्री विशेषके बिना नही होता। तब हम लोगोके प्रत्यक्षसे विलक्षण प्रत्यक्ष कैसे हो गया? साथ ही यह समझिये कि कोई ज्ञान अपने नियत विषयका उल्लघन नही कर सकता। चाहे कुछ इसमे अतिशय हो जाय, विशेष ज्ञान बन जाय लेकिन अपने नियत विषयका उल्लघन कभी नही होता। और, अतीन्द्रिय अथवा अननुमेय जो अनुमानको जाननेमे नही आ सकता, ऐसे पदार्थोंका ज्ञान नही कर पा रहा इन सब जीवोका प्रत्यक्ष। इस कारण इन जीवोके प्रत्यक्षसे हमारे अनुमानमे दोष देना अयुक्त है। जहाँ भी अतिशय देखा गया है जिस किसी भी इन्द्रियजन्य ज्ञान मे कमी खूबी देखी गई है वह खूबी कितनी ही बढ जाय मगर अपने नियत विषयका उल्लघन नही कर सकती। जिन जीवोके ज्ञानकी अभी चर्चा की है उन्होंने इन्द्रियका नियत विषय ही तो जाना। गीधने बहुत दूरसे देखा किन्तु देखा तो रूप ही चक्षुइन्द्रिय से ही, कर्णइन्द्रियसे तो नहीं देख लिया। नियत विषयका उल्लघन तो नहीं हुआ। सूकरोने बहुत दूरसे शब्द सुना, तो भले ही सुन लें पर कर्णइन्द्रियसे ही तो सुना अन्य इन्द्रियसे तो नही जाना। तो इनका ज्ञान सबमे चाहे कितना ही खूबीको लिए हुए हो लेकिन अपने नियत विषयका उल्लघन नही करता। अब यहाँ बुद्धिमान पुरुषोके ज्ञान की अतिशयपर विचार करिये जो भी मनुष्य बुद्धिके द्वारा बडे सातिशय देखे गए हैं वे भले ही ज्ञानमे बढ गए लेकिन थोडा ज्यादह और ज्यादह इस तरह तो अधिकता बन गयी पर उनका अतीन्द्रिय ज्ञान नब नहीं गया बडे २ बुद्धिमान पुरुष भी बडे सूक्ष्म अर्थ को जान लेनेमे समर्थ हो जायें पर धर्मे—अपने विषयोका उल्लघन नही करते। एक शास्त्रके विचारमे महान अतिशय देखा गया है ठीक है पर इतने मात्रमे कि एक शास्त्रमे किसीकी निपुणता हो गयी तो अन्य शास्त्रोके ज्ञानमें तो अतिशय नही बन गया। वैयाकरण लोग बहुत दूरसे ही याने थोडे ही कथनसे, जरासे ही विचारसे शब्द अपशब्दका निर्णय कर लेते हैं, यह शब्द सिद्धि सही है यह सही नही है यह निर्णय कर लेते हैं तो करलें किन्तु एक व्याकरण विषयके ज्ञानसे वे वैयाकरण नक्षत्र तिथि ग्रहणके निर्णयमे तो अतिशय वाले न बन जायेंगे। बडे-बडे ज्योतिषी चन्द्र सूर्यके ग्रहण आदिककी जानकारीमे बडे कुशल हो जायें, पर वे भवति आदिक शब्दोकी साधना जाननेमे तो उतने कुशल नही हैं। कोई पुरुष वेद इतिहास आदिकके ज्ञानमे

बड़ा सातिशय बन जाय लेकिन वह स्वर्गदेवता पुण्य पाप आदिकके प्रत्यक्ष करनेमें तो समर्थ न हो जायगा। कोई मनुष्य यदि १० फिटका ऊँचा कूद जाता है तो कूद जाय मगर इतना कूद जानेका अर्थ यह तो न बन जायगा कि वह कोश दो कोश तककी छलांग मार सकता है। तो इन सब बातोंसे यह बात सिद्ध हुई कि जो लोग ज्ञानमें अतिशयवान हैं वे भले ही सातिशय बन जायें लेकिन उनका वह ज्ञान भी अपने नियत विषयका उल्लंघन नहीं कर सकता। इसी प्रकार हम लोगोंके यहाँ देखे गए जो प्रत्यक्ष आदिक ज्ञान हैं उनसे विजातीय अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष आदिककी सम्भावना नहीं है। जैसे हम लोगोंके प्रत्यक्ष आदिक ज्ञान होते हैं उस ही प्रकारके उनके होसकते हैं, हम लोगो से विलक्षण नहीं हो सकते। और, इसी कारण हमारे दिए गए साधनमें व्यभिचार सम्भव ही नहीं हो सकता। कभी भी देशमें किसी भी कालमें किन्ही भी लोगोका प्रत्यक्ष हम लोगोके प्रत्यक्षसे विजातीय न हो जायगा।

सर्वज्ञसाधक प्रमाण न होनेसे सर्वज्ञका अभाव माननेकी मीमासक शंकाका उपसंहार – यदि कोई मनमें शंका रखे कि किसी पुरुष विशेषके तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षकी सम्भावना है तब हेतुका व्यभिचारी होना तो सम्भव ही हो गया। तो मीमांसक कहते हैं कि ऐसी शंका उनको हृदयमें न रखना चाहिए, क्योंकि इस तरहका पुरुषविशेष ही असिद्ध है याने हम लोगोके ज्ञानसे विलक्षण अतीन्द्रिय आदिक ज्ञान हो जाये ऐसा पुरुष विशेष सिद्ध ही नही है क्योंकि सभी पुरुषोका जो ज्ञान होगा वह अत्यन्त दूर, अत्यन्त भूत और अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थोंका साक्षात्कार करने वाला नही होता। इस कारण किसी भी देशमे, किसी भी कालमें, किन्ही भी जीवोके प्रत्यक्षज्ञान होगा तो वह हम जैसा ही प्रत्यक्ष ज्ञान होगा, दूसरी प्रकारसे नही हो सकता। यहाँ मीमांसक आप्तपनेका ही निराकरण कर रहे हैं कि जगतमें कोई आप्त होता ही नहीं, फिर आप्तकी मीमांसा करनका कोई अर्थ ही नही है। किसी भी ऐसे प्रभुका साधक न प्रत्यक्ष ज्ञान है, न अनुमान, न आगम, न अर्थापत्ति, न उपमान। कोई भी सत्त्वकी व्यवस्था करने वाला प्रमाणज्ञान सर्वज्ञकी साधना करनेमें समर्थ नही है। और, सर्वज्ञ नहीं है इस बातको सिद्ध करनेमे कोई अधिक हैरानी नही हो सकती, क्योंकि सभी लोग अपने ज्ञानमे प्रत्यक्षसे नजर कर रहे हैं कि सारे पुरुष हम लोगो जैसे ही साधारण बुद्धिवाले दिख रहे हैं और तब भी कितनी ही दूर जाकर देखलो कोई पुरुष ऐसा न मिलेगा कि जिसका ज्ञान हम लोगोके ज्ञानसे कुछ विलक्षण होना हो। इसी कारण सत्ताके साधक किसी भी प्रमाणसे सर्वज्ञकी सिद्धि नही होती। अब रह गया शेष अभाव प्रमाण तो अभाव प्रमाणके द्वारा सर्वज्ञको साधना करनेकी कोई पद्धति ही नही है। अभाव प्रमाणसे न किसीका सद्भाव सिद्ध किया जा सकता और न ऐसे पदार्थका अभाव सिद्ध किया जा सकता जो कि कोई था हो नही है हो नही, होगा ही नही। जो पदार्थ उपलभ्यमान हो सकता है उस ही पदार्थके सम्बन्धमें अभाव प्रमाणकी प्रमाणता बन सकती है। तो अभाव प्रमाणको लेनेका कोई प्रसंग ही नहीं

अथवा अभाव प्रमाण लगावोगे तो स्पष्ट है कि सर्वज्ञका अभाव है, क्योकि अनुपलब्धि होनेसे। सर्वज्ञ नही पाया जाता है, यही एक प्रबल प्रमाण है कि लोकमें किसी भी देशमे, किसी भी जगहमें सर्वज्ञ नहीं है।

मीमांसकाभिमत सर्वज्ञाभाव मन्तव्यका निराकरण—उक्त प्रकार मीमांसक सिद्धान्तिने यहाँ सर्वज्ञके अभावका वर्णन किया है लेकिन उन मीमांसकोका यह समस्त कथन बिना ही परीक्षा किए हुए कहा गया है। क्योकि सर्वज्ञके निराकरणसे पहिले साधक प्रमाणकी असम्भवता सुनिश्चित नहीं है जिससे कि शकाकार मीमांसक प्रतिकूल बात सिद्ध कर सके। और, बाधक प्रमाणकी असम्भवतासे बढकर अथवा अधिक प्रत्यक्ष आदिककी प्रमाणतामे भी विश्वासका कारण और नही है याने प्रत्यक्ष विश्वासके योग्य है इसका भी कारण क्या है कि वहाँ बाधक प्रमाण नही बन रहा है, जो बाधक प्रमाणकी असम्भवता सर्वज्ञमें सिद्ध होती हुई यदि सर्वज्ञकी सत्ताको सिद्ध करे तो सभी जगह प्रत्यक्षमें अभावमें सम्यक अवलोकनमे, मिथ्या अवलोकनमे सर्वत्र बात तो यही अविशेष रूपसे है कि सिद्ध भी हो लेकिन अब तो सिद्ध होकर भी सत्ता को सिद्ध नही करता। सो सामान्यरूपसे सब ही जगह बाधक प्रमाणकी असम्भवताका निर्णय न होनेपर दशन प्रत्यक्ष अदर्शनका उल्लघन नही कर सकता अर्थात् प्रत्यक्ष भी गैर प्रत्यक्षकी तरह बन जायगा। क्योकि बाधक कारण न होनेपर भी सत्ताकी सिद्धि नहीं मानी जा रही। और यदि बाधक प्रमाण न होनेपर सत्ताको मान लिया जाय तो सर्वज्ञकी सिद्धिमें भी बाधक प्रमाण नहीं है। अत. सर्वज्ञकी सिद्धि माननी चाहिये।

सर्वज्ञनिराकरणके लिये निराकरणीयकी सत्ता माननेके ढङ्गपर विचार

अब यहाँ मीमांसक कहते हैं कि सर्वज्ञके निराकरणसे पहिले साधक प्रमाणकी असम्भवता सुनिश्चित् न भी हो लेकिन अपना प्रत्यक्ष या अन्य सर्वज्ञके प्रत्यक्ष तो सर्वज्ञके साधक बन रहे हैं। यहाँ जो आक्षेप किया था कि सर्वज्ञका निराकरण तुम करने चले तो सर्वज्ञकी पहिले सत्ता सिद्ध करलो तब तो निराकरण बनेगा। किसी बातको हटाना है तो वह बात हो तभी तो हटाई जायगी। तो सर्वज्ञका साधकपना तो पहिले दिखाओ! इसपर मीमांसक कह रहे हैं कि सर्वज्ञके साधक तो अन्य सर्वज्ञके प्रत्यक्ष हैं अथवा उस हीका प्रत्यक्ष है और परोपदेशरूप हेतुसे उत्पन्न हुआ अनुमान सर्वज्ञका साधक है तथा इन्द्रियकी अपेक्षा न रखकर सत्य अशेष सूक्ष्म आदिक अर्थका प्रतिपादन करने वाले उसके वचन विशेषरूप लिङ्गसे उत्पन्न हुआ जो अनुमान है वह अनुमान सर्वज्ञका साधक है और फिर आगम विशेष जो कि सर्वज्ञपनेकी बात कही बीच-बीचमे कहता है वह सर्वज्ञका साधक है और फिर निराकरणके बाद तो किसका निराकरण किया गया है इस रूपसे तो सर्वज्ञ सिद्ध हो है। अत सर्वज्ञका निराकरण कर देना युक्तिसगत है। अब सिद्धान्तवत इस धारेकाका समाधान करते हैं कि उक्त कथन केवल अपना मनोरथमात्र है। जो मनमे कल्पना उठी उसीको कह देना मात्र है, क्योकि

सर्वज्ञका निराकरण असम्भव है। सर्वज्ञकी सत्तामें बाधक कोई प्रमाण नहीं है।

सदुपलम्भक प्रमाणपञ्चककी निवृत्तिरूप बाधक प्रमाणसे सर्वज्ञाभाव की सिद्धिका शंकाकारका प्रयास— अब यहाँ मीमांसक कहते हैं कि सत्ताका सद्भाव सिद्ध करने वाले ५ प्रमाण हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति और उपमान। ये पाँचों प्रमाण सर्वज्ञकी सिद्धिसे निवृत्त हैं अर्थात् पाँचो प्रमाण जब सर्वज्ञ की सिद्धिमें असमर्थ हैं तो इससे सिद्ध ही है कि सर्वज्ञकी सिद्धिमें बाधा है। सद्भाव सिद्ध करने वाले पाँचों प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं है सर्वज्ञकी सत्ताकी सिद्धि करनेमें। अतएव पाँचो प्रमाणोंकी निवृत्ति होना ही सर्वज्ञका बाधक है क्योंकि ज्ञापक प्रमाण ये ५ हैं। छठा जो अभाव प्रमाण है वह तो ज्ञापक प्रमाणके अभावस्वरूप है। जहाँ पाँचो प्रमाण नहीं लग सके वहाँ अभाव प्रमाण लगता है। तो जब सत्ताको सिद्ध करने वाले पाँचोंके प्रमाण सर्वज्ञकी सिद्धिमे नहीं लग पाते तो उन पाँचों प्रमाणोंकी निवृत्ति होना ही सर्वज्ञका बाधक प्रमाण है।

सर्वज्ञज्ञापकानुपलब्धि हेतुकी असिद्धि— अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि शंकाकारने जो यह कहा है कि सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि ज्ञापक प्रमाणका अनुपलम्भ है। ज्ञापक प्रमाण हैं ५, वे यहाँ लगते नहीं इस कारण सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं बनती। तो यह बतलाइये कि जो हेतु दिया है ज्ञापकानुपलम्भ, ज्ञापक प्रमाणका अनुपलम्भ होना, सो यह ज्ञापकानुपलम्भ स्वसम्बन्धी है या पर सम्बन्धी है? अर्थात् स्वयको, शंकाकारको खुद सर्वज्ञकी अनुपलब्धि है यह हेतुका मतलब है या यह मतलब है कि दूसरोंको, सब जीवोंको सर्वज्ञके ज्ञानकी अनुपलब्धि है? यदि कहो कि स्वसबंधी ज्ञापकानुपलम्भ सर्वज्ञका बाधक है तो दूसरेकी चित्तवृत्तियाँ भी तो आपको नजर नहीं आती, तब उनका भी अभाव बन जायगा। याने दूसरे जो मनुष्य हैं अथवा जैनी पञ्चेन्द्रिय पशु पक्षी हैं उनके चित्तमें क्या बात है? किस ढङ्गका भीतर परिणमन है यह तो आपको नहीं नजर आता। तो क्या स्वसम्बन्धी ज्ञापकानुपलम्भ होनेसे पर-चित्तवृत्तियोंका अभाव हो जायगा? तो आपका ज्ञापकानुपलम्भ है इस वजहसे सर्वज्ञ का अभाव बन जाय यह भी युक्त नहीं है। यदि आपको अनुपलम्भ होनेसे सर्वज्ञका अभाव मान लिया जाता है तो दूसरोंकी चित्तवृत्तियोंका भी आपको अनुपलम्भ है तब दूसरे जीव भी न सत्ताको प्राप्त कर सकेंगे। यदि कहो कि सभीको सर्वज्ञके सम्बन्धमें ज्ञापकका अनुपलम्भ है अर्थात् सभीको सर्वज्ञके बारेमें न प्रत्यक्ष न अनुमान आदि ये कोई भी प्रमाण नहीं लगते, उसमे सर्वज्ञका अभाव है तो यह कहना तो यों अयुक्त है कि आपने क्या यह निर्णय कर लिया कि दुनियामें जितने भी जीव हैं सब जीवोंको सर्वज्ञके बारेमें अभाव सिद्ध है? किसीको भी सर्वज्ञ विदित नहीं आता। इसका निर्णय तो नहीं हो सकता। कहाँ आप जानते हैं सबको? देखिये! स्वसम्बन्धी ज्ञापक प्रमाणका अनुपलम्भ यदि अभाव सिद्ध करे तो आपका प्रत्यक्ष भी इन दिखने

वाली चीजोंमें भी भले प्रकार नही है। बताओ भीटके भीतर क्या है ? समुद्रके अन्दर क्या है ? है तो कुछ, पर आपको कहाँ प्रत्यक्ष है ? नो अभाव बन जायगा क्या उनका और, सबके बारेमे आपका निर्णय नही हो सकता कि सभी जीवोंका अनुपलम्भ है। यदि आपने निर्णय कर लिया तो लो एक आप ही सर्वज्ञ बन बैठे, फिर निषेध ही क्यो करते ?

अनुमान, उपमान आदिसे भी सर्वज्ञाभावकी असिद्धि—सर्वज्ञका अभाव अनुमानसे भी नही कर सकते, क्योकि सर्वज्ञ तो अत्यन्त परोक्ष पदार्थ है, उसमें ज्ञापक लिङ्गका अभाव सिद्ध नही कर सकते। यो नही कर सकते कि साधनका अभाव साध्य के अभावको तब सिद्ध करता है जब कही साध्य साधन उपलब्ध हो सकते हो और फिर अनुपलम्भ हो। जैसे धुवाँ अग्नि आदिक चीजें हैं, अनेक बार प्रत्यक्षसे निश्चित किया है, फिर कही धुवाँ नही है तो वहाँ अनुमान बन जायगा ? यहाँ आग नही है तो धुवाँ कैसे होगा ? पर जो अत्यन्त परोक्ष बात है उसमे ज्ञापक लिङ्गकी बात नही बनती। और इसी प्रकार अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणकी भी गति कहाँ हो सकती है, क्योकि सर्वज्ञ अत्यन्त परोक्षभूत वस्तु है। सभी प्रमाताओंका जीवोंका प्रत्यक्ष आदिक नही हैं फिर कैसे सवसम्बन्धी ज्ञापकानुपलम्भ बने। आगमगम्य भी सर्वज्ञ नही है जिससे कि सवज्ञका निराकरण किया जाये। तो सर्वज्ञका साधक प्रमाणका अनुपलम्भ कैसे रहा ? जिस मीमासकके यहाँ श्रुतिवाक्यका ज्ञान कार्य अर्थसे प्रमाण है उसका आगम सवज्ञकी सत्ताका प्रमाण कैसे हो सकता ? है मीमांसक भट्ट, और प्रभाकर श्रुतिवाक्यका अर्थ स्वरूप नही मानते, भट्ट तो भावना मानते हैं और प्रभाकर नियोग मानते हैं। तब श्रुतिवाक्यका अर्थ स्वरूप सत्तामे नही बनता। सर्वज्ञ है अथवा नही हैं यह तो आगमका विषय हो नही है। उस आगमको कार्य अर्थमे नियोग अर्थमें प्रमाण माना है मीमासकोने

अभावप्रमाणसे भी सर्वज्ञाभाव व सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भकी असिद्धि—यदि सर्वज्ञके ज्ञापकका अनुपलम्भ, अभाव अभावप्रमाणसे सिद्ध किया जाता है तो वह भी यो युक्त नही कि समस्त पुरुष सम्बन्धी ज्ञापकानुपलम्भ तो निश्चित नही हो पाता। और भी देखिये ! अभाव प्रमाण तो वहाँ वस्तुका अभाव सिद्ध करता है जहाँ वस्तुके सद्भावको ग्रहण कर लिया हो, फर उसके प्रतियोगीका स्मरण किया गया हो तब मानसिक जो नास्तित्वका ज्ञान होता है और वह इन्द्रियकी अपेक्षा न रखकर होता है अभाव प्रमाणके स्वरूपमें मीमासकोका ऐसा मतव्य है। जैसे कि वे लोग वस्तुवोंके बारेमे घटित करते हैं तो, जैसे किसीने देखा कि इस कमरेमें घडा नही है तो कमरेका तो सद्भाव ग्रहण किया और उसके प्रतियोगी घडा उसका स्मरण किया। देखा कमरा, ख्याल किया घडेका और उस समय जो मनसे नास्तित्वका ज्ञान बन रहा है जो अभाव रूप ज्ञान इन्द्रियकी अपेक्षासे नही हो रहा बस वही तो अभाव प्रमाणका

विषय है। इस तरह जो अभाव प्रमाण मानते हैं उनके यहां सर्वज्ञके सम्बन्धमें अभाव तब बन सकेगा जब पहिले समस्त मनुष्योंका तो ज्ञान करलें और सर्वज्ञके ज्ञापकका स्मरण करलें। और, फिर मनमें जो नास्तिता सम्बन्धी प्रतिभास बने तो प्रमाण मानें लो। जैसे इस कमरेमें घडा नही है इस तरहकी नास्तिताके ज्ञानके लिए दो बातें हुईं। कमरा वस्तुका सद्भाव ग्रहण किया और प्रतियोगी घडेका स्मरण किया। तब मानसिक ज्ञान हुआ कि घडा नहीं है इसी तरह पहिले सब मनुष्योंका ज्ञान हो जाय क्योंकि इन मनुष्योंमें ही तो यह सिद्ध कर रहे हैं कि कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता सो पहिले सब जीवोंका ज्ञान करलें फिर प्रतियोगी ज्ञापकानुपलम्भका स्मरण करले तब नास्तिता का जो मनमे विकल्प हो तब तो अभाव प्रमाण बने अन्यथा न बन सकेगा। सो समस्त मनुष्योंका ज्ञान साक्षात् इस शंकाकारको कहीं हो रहा है न एक साथ हो रहा न क्रमसे हो रहा, और किसी पुरुषके मनकी बातका ज्ञान तो यहीं भी नहीं हो सकता। जो पुरुष सामने खडा है उस ही के चित्तकी बात पहिले बतावें सो भी नहीं फिर विश्वके समस्त जीवोंका ज्ञान करनेकी बात तो दूर ही रही, जैसे किसी भी समय यहीं पर एक जगह एक मनुष्यमें अगर सर्वज्ञके नास्तित्वका निश्चय कर लिया गया तो दूसरे मनुष्यमें भी सर्वज्ञके नास्तित्वका निश्चय है यह तो घटित नहीं किया जा सकता।

निराकरणीय सर्वज्ञकी किसी भी प्रमाणसे कल्पनाका अभाव—इन मीमांसकोंके यहां जैसे प्रत्यक्षसे समस्त प्राणियोंका बोध नहीं किया जा सकता इसी प्रकार अनुमान आदिक अन्य प्रमाणोंसे भी सब पुरुषोंका ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुमानमे चाहिये लिङ्ग, उपमानमें चाहिये सदृशता। अर्थापत्तिमे चाहिये अन्यथा भाव सो यहां नजर ही नहीं आतो। फिर अन्य प्रमाणोंके समस्त जीवोंका, पुरुषोंका ग्रहण कैसे किया जा सकता ? और फिर समस्त पुरुषोंका ज्ञान होता है यह बात कैसे जाना स्वसम्बन्धी ज्ञानसे या पर सम्बन्धी ज्ञानसे ? यो विकल्प करके जो पहिले दूषण दे आये हैं वे सब दूषण यहां भी लागू होते हैं। अभाव प्रमाणके बारेमें स्पष्ट बात यह है कि जब पहिले कोई भी सर्वज्ञके ज्ञापककी उपलब्धि सिद्ध न हुई तो नास्तित्वका ज्ञान कैसे सही कहा जा सकता ? जब पहिले जिसका निराकरण करते हैं उसका स्मरण बने तब तो अभाव प्रमाण लागू होगा, सो सर्वज्ञके ज्ञापकका उपलम्भ पहिले किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं मान रहे हो तो अभाव भी नही कह सकते।

एकान्तवादके निराकरणकी अशक्यताकी आरेकाका समाधान—शायद मीमांसक यह कहे कि हम ज्ञ नहीं मानते, किन्तु दूसरे लोग तो मानते हैं सो दूसरोंके माननेसे सिद्ध हुआ जो सर्वज्ञ है उस ही के बारेमे हम नास्तित्व सिद्ध कर रहे हैं। यह कहना यों सिद्ध नहीं कि बताओ दूसरोंने जो माना है वह प्रमाण सिद्ध है अथवा नही ? यदि प्रमाण सिद्ध है तो यह सभीको प्रमाण सिद्ध बन जाना चाहिए

और प्रमाण सिद्ध नहीं है तो असिद्धका निराकरण कैसे ? यहाँपर मीमासक शका करता है कि फिर आप अर्थात् स्याद्वादी लोग सर्वथा एकान्तका कैसे निराकरण कर सकते है ? यदि दूसरोने माना है एकान्तवाद तो परोगमसे सिद्ध एकान्तवाद है वह प्रमाण सिद्ध है तो स्याद्वादियोको भी प्रमाण सिद्ध मान लेना चाहिये और सिद्ध नहीं है तो जैन भी कैसे निषेध कर सकते हैं ? यह शका यो युक्तिसगत नही है कि अनन्तधर्मात्मक पदार्थोंके अवाधित सिद्ध होनेपर एकान्तके बाधित होनेकी सिद्धिमें फिर क्या दोष है। और फिर साथ ही यह बात है कि स्याद्वादियोके यहाँ यह प्रक्रिया नही है कि वस्तु सद्भाव ग्रहणकरके प्रतियोगीका स्मरण करके नास्तिकताज्ञान करना अभाव प्रमाण है यह प्रक्रिया नही है। तो फिर अनेकान्तके ज्ञात होनेपर एकान्तकी अनुपलब्धि स्वय प्रसिद्ध हो जाती है। अनेकान्तकी विधि ही का नाम एकान्तका निषेध माना गया है सो जैसे कि अनेकान्तको सिद्धिमें बताया गया है उस प्रकार सर्वदेशमे सर्वज्ञके ज्ञापक का अनुपलम्भ सिद्ध नहीं है जिससे कि सवत्र सवज्ञके प्रत्यक्षका निषेध किया जाय। याने सब जगह सर्वज्ञ नही है इसका ज्ञान हो जाय तभी तो निषेध किया जा सकता है। उस निषेधमे अभाव प्रमाण जैसी पद्धति नही चल सकती है कि वस्तुके सद्भावको ग्रहण करले फिर प्रतियोगीका स्मरण करे, तब जो मनमें नास्तित्वका ज्ञान होता है, वह अभाव प्रमाण है। तो इस तरह यदि प्रतियोगीका स्मरण किया तो लो स्मरणके ही रूपसे सर्वज्ञकी सिद्धि हो गयी, तो सर्वत्र ज्ञायकानुपलम्भ सिद्ध नहीं है इस प्रकार असिद्ध ज्ञापकानुपलम्भ सवज्ञका बाधक नही हो सकता। तब सर्वज्ञका साधक यह हेतु युक्त है सुनिश्चितासम्भवद् बाधक प्रमाणत्व याने बाधक प्रमाणकी असम्भवता सुनिश्चित होना यह हेतु सर्वज्ञके सद्भावका साधक है और तब यह अनुमान बिलकुल युक्तिसगत है कि सवज्ञ है क्योंकि बाधक प्रमाणकी असम्भवता सुनिश्चित है। देखिये ! प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोमे भी यह प्रमाण है ऐसे विश्वासका कारण यही पड़ता है कि वहाँ बाधक प्रमाणकी असम्भवता है।

प्रमाणके प्रामाण्यकी परखमे बाधकासभवत्वका प्रबल विश्वासनिबंधनत्व— बाधक प्रमाण न होना यह सबसे प्रबल प्रमाणकी प्रमाणताके विश्वासका कारण है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ विश्वासका कारण नही बन सकता। तो प्रमाणमे प्रमाणता है ऐसा विश्वास कर सकनेका कारण बाधक प्रमाणकी असम्भवता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही। जैसे कि सम्वादकपना, प्रत्यक्ष प्रमाणमे प्रमाणता वास्तविककी है सम्वादक होनेसे। इस प्रकार बताया गया सम्वादकपना हेतु कहीं सदिग्ध बन जाता है। लग रहा हो सम्वादक जैसा और जाना जा रहा तो झूठे विपरीत ज्ञानको। जैसे पड़ी तो है सीप जानी गई चाँदी तो चाँदीके ज्ञान करते समय उस पुरुषका कहाँ विवाद हो रहा है ? वह तो सत्य ही समझता है। वहाँ सम्वादकता हो है। तो देखो ! सम्वादकता तो हुई और प्रमाणभूत न रहा। तो विश्वासका कारण तो बाधककी असम्भवता ही सिद्ध होती है। कोई लोग कहते हैं कि प्रवृत्ति सामर्थ्यसे

प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोमें प्रमाणता जान ली जाती ? वह प्रवृत्ति सामर्थ्य भी कैसे सिद्ध हो ? वह तो उत्तर कालकी बात है। निर्दोष कारणसे जन्य है, इसे कोई प्रमाणकी प्रमाणताका उपाय समझना है सो निर्दोष कारणमें ही विवाद है। कारणमें निर्दोषता है कि नहीं, फिर प्रमाणता क्या जानेंगे ? सो बाधक प्रमाणकी असम्भवतासे बढ़कर अन्य कुछ भी विश्वासका दृढ़ कारण नहीं है। और भी देखिये ! हैं भी ये तीन बातें, प्रमाणताके साधक सम्वादकपना होना प्रवृत्तिका सामर्थ्य होना, निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होना सही है प्रमाणताके विश्वासके कारण बनते हैं सो ये तीन बाते बाधक प्रमाणका असम्भवपना जहाँ हैं वहाँ अवश्य ही होती हैं। इन कारणोंके होनेपर भी जो विश्वासकी प्रतीति हो रही है वह नियमत तो बाधक प्रमाणके असम्भवपनेके कारण हो रही है। इसके लिये प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण उदाहरणरूप हैं। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाणवादी और प्रतिवादी दोनोंके यहाँ प्रसिद्ध है, साधन भी पूर्णरूपसे पाया जाना दोनोको अभिमत है और साध्य भी पूर्णरूपसे पाया जाना वादी प्रतिवादी दोनोंको इष्ट है।

किसीके सद्भावकी सिद्धिमे बाधक प्रमाणकी असंभवता होनेसे सत्ता की नियमत. सिद्धि— यहाँ कोई शंका करता है कि बाधक प्रमाणकी असम्भवताका सुनिश्चय भी हो और वह अविद्यमान भी रहे पदार्थ जिसके सम्बन्धमें सिद्धिकी जा रही है तो ऐसा होनेके कारण तो साधन संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक हो गया अर्थात् इसी साधकका विपक्षमें भी पाया जाना सम्भव होनेसे यह संदिग्ध अनेकान्तिक दोषसे दूषित हो गया। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह कहना यों युक्त नहीं है कि विपक्षमें बाधक प्रमाणका सद्भाव है, क्योंकि जो असत् है उसमें बाधक प्रमाणकी असंभवता सुनिश्चित नहीं है। रेतमें जल समझ जाना यह तो है बाधक प्रमाणके सम्भव वाला इसमें बाधक प्रमाण होता है तब वह मिथ्या सिद्ध हो जाता है। और मेरुकी चोटी पर लड्डू आदिक हैं, कि बहुत ऊँचे पर्वतपर लड्डू आदिक हैं ऐसा कहनेमें बाधककी असम्भवता संदिग्ध है। इस दृष्टान्तमें जो मेरुपर लड्डू का रखा जाना बताया है सो यह न्याय शास्त्रमें वादी प्रतिवादीके प्रसंगमें दिया हुआ उदाहरण है। जैन सिद्धान्तके अनुसार मेरुपर्वतकी चोटीके ऊपर एक बालके अन्तरके ही बाद ऋजु नामक प्रथम कल्पका विमान है। वहाँ मोदक कैसे ठहर सकता सो यहाँ बाधक प्रमाण सम्भव ही है। फिर भी यह दृष्टान्त साधारण रूपसे है सो इस बातपर दृष्टि नहीं देना। मेरुपर्वतके दृष्टान्तके मायने यहाँ यह है कि बहुत ऊँचे पर्वतपर जहाँ जाकर देखा नहीं जा सकता वहाँ कोई कहे कि उस पर्वतपर लड्डू रखा है। कुछ चीज रखी है तो इसमें बाधक प्रमाण सम्भव है या नही ? देखिये ! यहाँ साधारणतया यह उत्तर हो सकता है कि सम्भव भी है नहीं भी है। रखा भी हो, न रखा भी हो क्या पता करें। तब यहाँ बाधक प्रमाणकी असम्भवता दोनो ही जगह मेरुमूर्धापर मोदकादि हैं व नहीं हैं दोनो साध्योंमें सुनिश्चित होना सम्भव हो गया ना, और सर्वज्ञ है इसमें बाधक प्रमाण

असम्भव है। सर्वज्ञकी सत्ता सिद्ध करनेके प्रसंगमें बाधक प्रमाणकी असम्भवताका पूर्णरूपसे निश्चय है। यो प्रकृत सर्वज्ञमें सिद्ध हुआ भी साधन अर्थात् बाधक प्रमाणकी असम्भवता सुनिश्चित है। यह साधन यदि सत्ताको सिद्ध न करे तब तो प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षसे बढ़कर कुछ नही है यह बात बने, अविश्वास रहनेसे स्वप्न आदिकके भ्रमोंकी तरह। लेकिन सर्वज्ञकी सिद्धिमे दिया हुआ यह हेतु कि बाधक प्रमाणकी असम्भवता का सुनिश्चय है सर्वज्ञकी सत्ताको सिद्ध कर रहा है। तब वहाँ प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षकी भाँति है, यह कहनेका कहाँ अवसर है? तो प्रत्यक्षमे बाधक प्रमाणकी असम्भवता सुनिश्चित है, यदि प्रत्यक्षमे बाधक प्रमाणकी असम्भवताका निश्चय न हो तब सभी प्रत्यक्षाभासोमें यह बात समान बन गयी तो अब निर्णय कुछ हो ही न सकेगा।

सर्वज्ञकी सत्ताके साधक प्रमाणके निश्चयका और बाधक प्रमाणके न होनेका दृढतम निर्णय—यहाँ मीमांसक आशका करता है कि देखो सर्वज्ञमे साधक प्रमाण भी सम्भव हो गया बाधक प्रमाण भी सम्भव हो गया, तब फिर संशय बनता है सो संशय ही बना रहने दो संशयका लाभ अनिष्ट पक्षको हो ही जाता है। सो यों सर्वज्ञमे संशय ही रहा आने दो यह कहना अयुक्त है क्योंकि सर्वज्ञके साधक और बाधक प्रमाणका निर्णय है बराबर, सो साधक प्रमाणके निर्णय होनेसे सद्भावमें विवाद नही है और बाधकका निर्णय होनेसे अभावमे भी विवाद नही है, अर्थात् जहाँ भी बाधक प्रमाणका निर्णय हो जाता है वहाँ अभाव है, सही नही है यह साधक, बाधकका इस सम्वादमें भी निर्णय रहता है। यदि निर्णय न हो तो शका की जा सकती है, याने साधक प्रमाण, बाधक प्रमाण इन दो का निर्णय न हो, अनिर्णय रहे तो सत्ता और असत्तामें संदेह बने, किन्तु साधक बाधक प्रमाणके निर्णय होनेसे सद्भाव और असद्भावमें अनिर्णय नही रहता। साधकके निर्णयसे तो उसकी सत्तामें विवाद नही रहता और बाधकके निर्णयसे असत्त्व में विवाद नही रहता। यहाँ सर्वज्ञकी सत्ताके साधकका निर्णय है असत्ताके बाधकका निर्णय है। अतएव सर्वज्ञके सम्बन्धमें संशय रहे आनेकी कोई गुञ्जाइश नही है। कोई कहे कि सर्वज्ञके सम्बन्धमें दोनोका ही निर्णय रहा आये सत्ता भी रहे और असत्ता भी रहे सो ऐसे उभयका निर्णय कहीं भी सम्भव नही हो सकता क्योंकि एक वस्तुमे सत्ता असत्ता दोनोंका विरोध है। जैसे कि जहाँ साधकका अभाव है वहाँ बाधकका अभाव नही है बाधकका सद्भाव है तथा जहाँ बाधकका अभाव है वहाँ साधकका अभाव नही है किन्तु साधकका सद्भाव ही है। तो जैसे एक वस्तुमें साधक और बाधक दोनोंका अभाव नही बन सकता इसी प्रकार एक वस्तुमें सत्ता और असत्ता दोनोंका अभाव नही बन सकता। साधकके अनिर्णयमे सत्तामे शका हो जाय और बाधकके अनिर्णयसे असत्तामें शका हो जाय यह तो विद्वानोंके लिये सुज्ञात है। पर यहाँ देखिये कि सर्वज्ञकी सिद्धि करनेमें जो हेतु दिया है कि बाधक प्रमाणकी असम्भवताका यहाँ निश्चय है उसका है पूर्णतया निर्णय सो संसारी जीवोंके प्रभुके बाधक प्रमाणकी असम्भवताका सुनिश्चय होना सत्ताका साधक है। तो सत्ता

का साधक सिद्ध होता हुआ यह हेतु साधक प्रमाणकी असम्भवताके निश्चयको हटा ही देता है अर्थात् जब सर्वज्ञकी सत्तामें बाधक प्रमाण असम्भव है तो उसका अर्थ यह हुआ कि साधक प्रमाण सम्भव है। बाधक प्रमाणकी असम्भवता और साधक प्रमाणकी असम्भवता दोनोंमें विरोध है। जहां बाधक प्रमाणकी असम्भवता सुनिश्चित है वहाँ साधक प्रमाणकी असम्भवता सुनिश्चित होना घटित नहीं होता। बाधक और साधक इन दोनोंमें परस्पर विरोध है। इस प्रकार साधक प्रमाणकी असम्भवताका सुनिश्चय होना सर्वज्ञमें सिद्ध नहीं होता, जिससे कि बाधक प्रमाणकी असम्भवताका सुनिश्चय होना निवृत्त होना अर्थात् साधक प्रमाण सम्भव है और बाधक प्रमाण असम्भव है सर्वज्ञकी सिद्धिमें। तब हेतुके निर्दोष हो जानेसे यह सिद्ध हुआ कि संसारी जीवोंका प्रभु सर्वज्ञ ही है।

आत्मामें ज्ञानस्वभावताकी सिद्धि और अज्ञत्वस्वभावका प्रतिषेध—अब अन्त दृष्टिसे और अन्वयदृष्टिसे भी विचारिये! जो ज्ञानस्वभाव पदार्थ है उसके लिए कुछ भी पदार्थ अगोचर नहीं रहता। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसका यह ज्ञानी पार नहीं करता अर्थात् जानता नहीं है। यदि सर्वज्ञ किसी पदार्थको जाने तो इसके मायने यह है कि उस ज्ञाता परम पुरुषमें अज्ञत्व स्वभाव आ गया। सो ज्ञत्व स्वभाव प्रभुमें अज्ञत्वस्वभावका निषेध है ही। जो ज्ञानस्वभावी है उसमें अज्ञानस्वभाव कैसे ठहर सकता है? कोई यहां शंका करता है कि सर्वज्ञमें अज्ञत्व स्वभावान्तरका प्रतिषेध कैसे सिद्ध है जिससे कि यह सर्वज्ञ ज्ञानस्वभावी बने और फिर उसके सब पदार्थ विषयभूत हो जायें और इस कारणसे फिर वह सब पदार्थोंको जान ही जावे। इस शंकाका उत्तर देते हैं कि देखिये! जो यह शंका कर रहे हैं मीमांसक कि प्रभुमें अज्ञत्वस्वभावान्तरका निषेध कैसे सिद्ध है? तो उन्हींके आगममें यह बात सिद्ध होती हुई मिलती है। यदि प्रभुमें ज्ञानस्वभाव न हो तो यह कथन कैसे सिद्ध होगा जैसे कि श्रुतिवाक्यमें कहा है कि श्रुतिवाक्यके बलसे वेदाभ्याससे भूत भविष्य आदिक समस्त पदार्थोंका ज्ञान होता है। ज्ञान करने वाले आत्मामें ज्ञानस्वभाव न हो तो वेदवाक्यके आलम्बनसे भी सब पदार्थोंके जाननेकी बात नहीं बन सकती। इससे सिद्ध है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसमें अज्ञत्व स्वभावका निषेध है। सो देखिये कि कहाँ तो ये मीमांसक ऐसा विश्वास स्वयं कर रहे हैं कि वेद भूत, वर्तमान भविष्य अन्तरित दूरवर्ती ऐसे समस्त पदार्थोंका पुरुष विशेषोंका ज्ञान करानेके लिए समर्थ हैं, कहाँ तो यह विश्वास कर रहे हैं और अब समस्त अर्थोंके जाननेका स्वभाव आत्मामें है, इसपर विश्वास नहीं कर रहे, तो उसे कैसे स्वस्थ अर्थात् ठिकानेके दिमाग वाला कहा जाय? यदि आत्मा ज्ञानस्वभाव नहीं है तो किसी भी प्रकार यह वेद किसी पुरुष विशेषको भूत, भविष्य, वर्तमानके पदार्थोंका ज्ञान करा देनेमें समर्थ नहीं हो सकता। इससे मानना होगा कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है और वह ज्ञान मीमांसकके यहाँ आत्मासे सर्वथा भिन्न है ही नहीं क्योंकि मीमांसक सिद्धान्तमें ज्ञानको आत्मा से कथंचित् अभिन्न

माना है, अन्यथा याने ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न मान लिया जाय तो इसमें नैयायिक मतका प्रसंग आ जायगा। इससे पुरुष विशेष किसी भी विषयमें अज्ञ रहनेके स्वभाव वाला नहीं है, क्योंकि सभी विषयोंमें वेदसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती मानी है और विकल्प ज्ञानकी व्याप्ति ज्ञानकी याने सर्वत्र साध्य साधनके ज्ञानकी तो उत्पत्ति होती ही है। देखिये ! वेदाभ्यासके बलसे भूत भविष्य आदिक अर्थका ज्ञान कर लिया पुरुषने तो इसमें पुरुषका ज्ञानस्वभाव सिद्ध हुआ ना। पत्थर लकडी आदिक तो वेदको छुवे हुए वर्षों तक भी रखे रहे उनको तो ज्ञान नहीं करा पाता यह वेदशास्त्र। तो पुरुष विशेषोंको जो भूत, भविष्य, वर्तमान समस्त अर्थोंका ज्ञान करा देती है श्रुति, तो इससे सिद्ध है कि यह आत्मा ज्ञानस्वभावी है। और, व्याप्तिज्ञानमें सामान्यतया समस्त साध्य साधनोंका ज्ञान कर लिया जाता है। जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, व्याप्ति ज्ञानमें जो ऐसा बोध बना उसमें कहीका धूम छोड़ा गया क्या ? समस्त धूमों की बात है। और समस्त धूमके होनेपर अग्निके होनेकी बात इस व्याप्ति ज्ञानमें बताई गई है उससे सिद्ध है ना, कि आत्मामें सबका ज्ञान करनेका स्वभाव है। यदि व्याप्ति ज्ञानकी उत्पत्ति न हो, व्याप्तिज्ञान न बने तो विधि और प्रतिषेधके विचार भी घटित नहीं हो सकते, अनुमान प्रमाण भी नहीं बन सकता। तो अनुमानकी प्रमाणताके लिए व्याप्तिका ज्ञान होना आवश्यक है और व्याप्तिके ज्ञानमें विश्वके समस्त साधनोंका ज्ञान किया गया है। तो इससे सिद्ध है कि इस आत्मामें, पुरुष विशेषमें समस्त अर्थोंके जानने का स्वभाव पड़ा है।

सहज ज्ञानस्वभावी होनेसे आत्मामें ज्ञानस्वभावता और किसी परम पुरुषकी सर्वज्ञताकी सिद्धि—और भी देखिये ! इसका तो सभी कोई अनुभव करते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इससे सिद्ध है कि परपदार्थोंको जाननेका स्वभाव आत्मा में सहज बसा है। अब कुछ ज्ञानस्वभावमें कल्पनायें करके अवधि डालें कि यहाँ तक ही जाननेका स्वभाव है तो इसका कारण क्या ? यह अवधि बन नहीं सकती। जानने का स्वभाव है तो है ही जाननेका स्वभाव। जाना जाता है सद्भूत वस्तु। तो यावन् मात्र सद्भूत पदार्थ हैं, उन सबको जाननेका स्वभाव आत्मामें पड़ा हुआ है। यह बात निमित्त नैमित्तिक भावकी है कि विषय कषायके जब आवरण हैं तब ज्ञानस्वभाव होनेपर भी यह जीव सबको जान नहीं पाता। जब भी अवसर होता है, आवरणका क्षयोपशम होता है तो यह जीव ज्ञानमें स्वयं ही बढ़ जाता है। और जब आवरणोंका पूर्णरूपसे क्षय हो जाता है तब यह ज्ञानस्वभाव परम पुरुष पूर्ण ज्ञानी हो जाता है। उस समय समस्त पदार्थ भूत, भविष्य, वर्तमान सूक्ष्म स्थूल सब ही उसके ज्ञानमें ज्ञात होते हैं। अतः सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

ज्ञस्वभाव आत्माके अज्ञान होनेका कारण—यहाँ मीमांसक यह शंका करता है कि फिर इस तरह किसी पुरुषके किसी विषयमें अज्ञान कैसे रहेगा ? जबकि

आत्माको ज्ञानस्वभावी मान लिया तो आत्मा जानता ही रहे सब कुछ। वह किसी विषयमें अज्ञान क्यों रखता है ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि पुरुषोंका जो अज्ञान रहता है, मोहका उदय रहता है उसका कारण है किसी सम्बन्ध्यन्तरका याने अन्य पदार्थोंका सम्बन्ध। यह आत्मा चेतन है फिर भी इस चेतन आत्मामें कर्मोंका सम्बन्ध हा तो उन कर्मोंमें ज्ञानावरण नामक कर्मके उदयसे यह अज्ञान होता है। जैसे कि कोई पुरुष विवेकी है सावधान है। लेकिन यदि वह मदिरापान करले तो उसे बेहोशी आती है। इसी प्रकार यह आत्मा चेतन है, ज्ञानस्वभावी है, फिर भी इसके साथ जो कर्म लगे हैं उनके उदयमें यह जीव अज्ञानी और अन्याय प्रवृत्ति करने वाला हो जाता है। यदि मीमांसक पूछे कि यह भी बात कैसे सम्भव है ? वह ज्ञानावरण कर्म कैसे सिद्ध होता है? तो उसकी सिद्धि अनुमान प्रयोगसे की जाती है। सो सुनो ! यह विवादापन्न जीवका अज्ञान आदिकका उदय अन्य सम्बन्धियोंके कारणसे होता है, मोहका उदय होनेसे। जैसे कि मदिराके कारणसे बेहोशी हो जाती है, इस अनुमानसे सिद्ध होता है कि इस जीवके साथ कोई अन्य पदार्थ उपाधि लगी हुई है और वह उपाधि है ज्ञानावरण आदिक कर्म।

जीव, विभाव और कर्मका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध—यह जीव तो अमूर्त है, ज्ञानानन्द स्वभाव है किन्तु ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि इस जीवमें विभाव परिणाम हुआ तो उसका निमित्त पाकर लोकमें भरे हुए कार्माण वर्गणाके स्कंध कर्मरूप बन जाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि अनादिकालसे इस जीवके साथ अनेक कार्माण वर्गणायें स्वभावतः ही लगी हुई हैं। अर्थात् कार्माण वर्गणायें स्वभावसे ही वहाँ उपचित हैं; इसे विस्रसोपचय कहते हैं। एक जीवके साथ जो कर्म बँधे हैं सो तो बँधे हैं, उनका उदय आयगा पर अनेक कार्माण वर्गणायें इस जीवके साथ, स्वभावतः ही संचित हैं कि जीव परिणाम बिगड़े कि उसी समय वह कार्माण वर्गणा कर्मरूप बन जायगी। जो पदार्थ अपने आप सहज जिस स्वभाव रूप है उसके विरुद्ध यदि कोई बात पायी जाती है तो समझना चाहिए कि इस कारण किसी अन्यका सम्बन्ध है। जैसे जलका स्वभाव मान लो ठंडा है, तो ठंडेपनसे विरुद्ध गर्मी जलमें आये तो समझते हैं ना, कि उसका कोई कारण अन्य पदार्थका ही तो सम्बन्ध है। धूपमें पानी रखा तो सूर्यका निमित्त है। आगपर बटलोही चढ़ा दी पानी गर्म हो गया तो उस गर्मीका आग निमित्त है। तो जलमें ठंडेपनके विरुद्ध परिणमन आ रहा है वह उपाधिके निमित्तसे है, इसी प्रकार आत्माका स्वभाव ज्ञान है। वह जानता रहे तो जानते रहनेके स्वभावसे विरुद्ध अर्थात् कम बात पाये उसमें मोहका उदय आ जाय, ऐसी जो भटकें आती हैं, राग द्वेषभाव उत्पन्न होते हैं वे सब जीवमें अपने ही स्वभावमात्रसे नहीं होते। यद्यपि वे हैं जीवके परिणमन, लेकिन स्वरूपके प्रतिकूल जो परिणमन होगा वह किसी अन्य उपाधिका निमित्त पाकर ही होगा।

उपाधि औपाधिक भाव — इस संसारी जीवके साथ कर्मबद्ध हैं। वे ८ प्रकार के कर्म हैं — ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये कर्म हैं। इनकी सिद्धि कार्य देखकर होती है। ज्ञानावरण जीवके ज्ञानके प्रकट न होने देनेमें निमित्त है, तब हम जीवोंमे यह निरखते हैं कि किसीका कितना ही ज्ञान किसी अन्यका और कम ज्ञान तो ज्ञानपर जो यह पर्दा पड़ा है, ज्ञानका जो विकास नहीं हो रहा है इसमें कोई पदार्थ निमित्त है और वह है ज्ञानावरण कर्म। दर्शनावरण कर्म — जीवनका स्वभाव सन्मात्र प्रतिभास करनेका है, देखनहार रहनेका है, लेकिन इसके इस दर्शन गुणपर जो आवरण है उसका निमित्त पाकर यह सही रूपमें प्रकट नहीं हो पाता है इसका कारण है दर्शनावरण कर्म। जीव स्वरूपतः आनन्दमय है, इसके स्वरूपमे देखो, उसमें क्लेशका कोई अवसर ही नहीं है। लेकिन यह जीव आनन्दमय विकासमे तो नहीं है। उस आनन्द स्वभावके प्रतिकूल जो बात बीत रही है जीवपर वह किसी अन्य उपाधिके कारणसे है। उसका निमित्त है वेदनीय कर्म। यह सामान्य नियम है कि किसी वस्तुमे विचित्र परिणमन यदि चलता है तो उसका कारण किसी अन्य पदार्थका सम्बन्ध है। यदि अन्य पदार्थका सम्बन्ध न हो तो वस्तुका एक समान ही परिणमन होगा। ये जीवमे विचित्र परिणमन देखे जा रहे हैं। यदि ये नाना परिणमन जीवके स्वभावसे ही उठते हो तब तो एक रूप होना चाहिये था, अथवा स्वभावसे ही यदि रागद्वेषादिक विचित्र परिणमन उठते हो, तब इसका कभी विकास ही न हो सकेगा। जो बात स्वस्वभावसे विकसित होती है उसके स्वभावका कोई कारण नहीं है। औपाधिक भावोका विनाश तो उपाधिके अभावमें हो ही जाता है, लेकिन स्वभावसे ही यदि विकार उठने लगें तो उन विकारोके विनाशका कोई उपाय न हो सकेगा। फिर मोक्ष क्या, मोक्ष मार्ग क्या ? धर्म करनेकी आवश्यकता भी क्या ? सब धर्म व्यवहारका लोप हो जायगा। जीवमें जो ये विकार हो रहे हैं, अज्ञान हो रहा है वह किसी अन्य उपाधिके सम्बन्धसे हो रहा है।

ज्ञानावरणकर्मका अभाव होनेपर सर्वज्ञत्वके अभ्युदयकी अनिवार्यता — अब देखिये ! ज्ञानावरण कर्मोंका अभाव होनेपर समस्तरूपसे निर्मोह हो जाता है वह परम पुरुष और सब भूत भविष्य, वर्तमानके पदार्थोंको जानता देखता है। पदार्थोंके जाननेमें निकटता और दूरी कारण नहीं है निकटता और दूरी पदार्थोंके जाननेमें अकिञ्चित्कर है। यहाँ पदार्थोंका ज्ञान होता है ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेसे। और, जहाँ पूर्णतया ज्ञानावरणका क्षय हो जाता है वहाँ पूर्णतया सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है। अब यहाँ कोई शंका करता है कि ज्ञानावरण आदिक अन्य उपाधिके अभाव होनेपर समस्त रूपसे निर्मोह कैसे हो जाता है ? जिससे कि फिर भी समस्त भूत, भविष्य वर्तमानके अनन्त पदार्थ अनन्त पर्यायात्मक जीव तत्त्वको, अन्य समस्त तत्त्वों का साक्षात् करके अर्थात् जानने, इस शंकाका मूलरूप मर्म यह है कि ज्ञानावरण आदिक कर्म दूर हो जाते हैं तो कौन सी वह पद्धति है कि यह जीव समस्त रूपोंसे व्यामोह

रहित हो जाता है। इस शंकापर उत्तर देते हैं कि देखिये! जो बात जिसके होनेपर होती है वह उसके अभावमें होती ही नहीं है। जैसे अग्निके होनेपर ही धूम होता है, तो अग्निके अभाव होनेपर धूम हो ही नहीं सकता। सो इसी तरह यहाँ भी समझिये कि अन्य उपाधिके होनेपर ही आत्मामें व्यामोह होता है। इस कारण अन्य उपाधिके अभाव होनेपर व्यामोह नहीं होता, यह बात पूर्णतया निश्चित है।

निकटता और दूरीमें ज्ञानाज्ञानकारणताका अभाव—अब यहाँ मीमांसक शंका करता है कि जो निर्मोह हो गए हैं ऐसे भी पुरुष सर्वात्मकरूपसे भी देखें तो देखें परन्तु निकट देश और निकट कालको ही बातको देख सकेंगे, दूरकी बात न जान सकेंगे, अर्थात् निर्मोह होनेपर यह अतिशय तो मान लीजिए कि वस्तुको पूर्णरूपसे जान सकते हैं देख सकते हैं, लेकिन वे वर्तमानकी वस्तुको ही जानेंगे, निकट देशकी वस्तुको ही जानेंगे, बहुत दूर देशकी बात अथवा अथवा भूत भविष्यकी बातोंको निर्मोह पुरुष भी न जान सकेंगे। उत्तरमें कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है क्योंकि ज्ञानका कारण निकटता नहीं है और अज्ञानका कारण दूरी नहीं है। यह बात नहीं है कि पदार्थ निकटमें हों तो वह ज्ञानका कारण बन जाय और पदार्थ दूर देशमें हो तो वह अज्ञानका कारण बन जाय। क्योंकि देखा जाता है कि निकटता होनेपर भी ज्ञान नहीं होता और कभी दूरी होनेपर भी ज्ञान हो जाता है। इसके लिए अधिक दूर क्या उदाहरण खोजना, यहीं देख लीजिए कि नेत्रकी पुतलीपर अंजन लगा दिया जाय तो देखो अंजन आँखसे कितना निकट है, निकट भी क्या, आँखकी पुतलीपर ही अंजन लगा हुआ है तो इतना निकट होनेपर भी अंजनको यह नेत्र नहीं जान सकता है। इस तरह सिद्ध है कि निकटमें पदार्थोंका रहना ज्ञानका कारण नहीं है। दूर देशकी भी बात देख लीजिए चन्द्र अथवा सूर्य कितना दूर रहते हैं, किन्तु उनका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इससे सिद्ध है कि पदार्थोंका निकट रहना ज्ञानका कारण नहीं, और पदार्थका दूर रहना अज्ञानका कारण नहीं किन्तु ज्ञानावरणका उदय होना अज्ञानका कारण है और ज्ञानावरणका क्षयोपशम क्षय होना ज्ञानका कारण है।

योग्यताके ही ज्ञानकारणपना—यदि कहो कि कहीं कहीं ऐसा अन्तर तका जा रहा है कि पदार्थोंके निकट होनेपर भी पदार्थका ज्ञान नहीं तो होता और पदार्थके दूर होनेपर भी पदार्थका ज्ञान होता देखा जारहा है तो उसमें योग्यताका सद्भाव और योग्यताका अभाव कारण है। उत्तरमें कहते हैं कि बात तुम्हारी बिल्कुल ठीक है और इससे यह ही सिद्ध हुआ कि ज्ञानका कारण योग्यता ही है, पर यह जानते हो कि योग्यता क्या है? ज्ञानावरण विशेषका अभाव होना इस ही नाम योग्यता है, निकटता और दूरी ये ज्ञानके लिए अकिञ्चित्कर हैं, क्योंकि निकटता न होनेपर भी अज्ञान और दूरी होनेपर भी ज्ञान देखे जा रहे हैं इससे निकटता और दूरी ज्ञानका व अज्ञानका कारण नहीं है, योग्यता ही

कारण है। और वह योग्यता है व्यामोहका दूर होना, अर्थात् ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मका क्षयोपशम होना अथवा क्षय होना। यदि एक देशरूपसे ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मोंका क्षयोपशम है तो पदार्थका एक देश रूपसे परिज्ञान होता है और यदि समस्त रूपोंसे ज्ञानावरण कर्मका विनाश होता है तो पूर्णरूपसे सबको जानने वाला ज्ञान विकसित होता है। इसने ज्ञानके होनेमें योग्यता कारण है, यह बात व्यवस्थित है, पर निकटता या दूरी कारण नहीं है। तो जब इस ज्ञानस्वभावी चेतन परम पुरुषके समस्तरूपसे व्यामोह दूर होता है तो पूर्ण वीतराग होकर यह आत्मा समस्त विश्वको जानता देखता है। जब यह ज्ञानस्वभाव है तब ज्ञेय पदार्थके सम्बन्धमें यह प्रश्न कैसे होगा? ज्ञानके आवरण करने वाले कर्म जब न रहे तो यह प्रश्न रह ही नहीं सकता। जैसे दाहक अग्नि और उसे दाह्य ईन्धन मिले तो उसका दाहक कैसे न बनेगा? अग्निको ईन्धन मिल जाय तो वह ईन्धनका जलाने वाला, कैसे न होगा? हाँ यदि प्रतिबन्ध करने वाले मणि मन्त्र आदिक हो तो अग्नि न जलाये। जब प्रतिबन्धक मणि मन्त्र भी न रहें और दाह्य उपस्थित है तो अग्नि ईन्धनको क्यों न जलायेगी? इसी तरह जब ज्ञानावरण आदिक कर्म दूर हो गए और ज्ञेय सब हैं ही तो यह ज्ञानस्वभावी परम पुरुष उन सबका ज्ञाता कैसे न बन जायगा?

सर्वज्ञ ज्ञानकी अक्षानपेक्षता—इस जीवके साथ अनादि कालसे ज्ञानावरण आदिक आठ कर्मोंके बंधकी परम्परा चली आरही है। जब सुयोग प्राप्त होता है, कुछ कर्मोंका क्षयोपशम होता है, कुछ परिणामोंमें विशुद्धि जगती है, कर्मोंका क्षयोपशम विशेष होता है तो उस क्षयोपशम लब्धिके कारण विशुद्ध लब्धि भी बनती है और फिर इसे तत्त्वग्रहणकी सामर्थ्य जगती है। तत्त्वावधारणके प्रसादसे परिणामोंमें अतीव निर्मलता होती है, सम्यक्त्व जगता है। वस्तुस्वरूपकी स्वच्छ दृष्टि बननेसे निज स्वरूपके अवलम्बनका दृढतम प्रयत्न होता है। यह ही है सहज कारण परमात्म तत्त्व इस सहज ज्ञानानन्द स्वरूपके अवलम्बनके प्रसादसे शेष कर्मोंका भी ध्वंस होने लगता है। जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय, अंतराय, इन चार घातिया कर्मोंका क्षय हो जाता है। तब यह सकल परमात्मा होता है। उस सकल परमात्माके ज्ञान परिणति की इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं होती। इसको संक्षिप्तमें यदि कारण परम्परा बतायी जाय तो तीन बातें कह सकते हैं कि प्रतिबन्धक कर्मोंका अभाव होना, जिसके प्रसादसे जीव समस्तरूपसे वीतराग बनता है जिस कारणसे समस्त विश्वको जाननेकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है। अब इस सर्वज्ञके ज्ञानको इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं पड़तीं, क्योंकि वे अपने सहज स्वरूपकी बारबार अभ्यास भावनासे स्वसंस्कृत हो गए हैं। जैसे कि अंजन आदिकसे सम्हारी हुई आँखको प्रकाशकी अपेक्षा नहीं पड़ती है, तो जिन प्रभुको ज्ञानमें इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं है तो उनका ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है, जो पुरुष एक देश मोहसे विरक्त हैं अथवा कुछ ही अस्पष्ट रूपसे जानते हैं उनके ही इन्द्रियकी अपेक्षा हुआ करती है, किन्तु जो इनसे विलक्षण पुरुष हैं जिनका समस्त व्यामोह क्षीण हो गया है, जो सर्व-

दर्शी हैं उनके इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं होती। जो इन्द्रियकी अपेक्षा रखकर ज्ञान होता है वह ज्ञान सर्वज्ञताको लिए हुए नहीं हो सकता। इन्द्रियकी अपेक्षा रखनेपर जो भी ज्ञान होगा वह हीन ज्ञान होगा, सर्वज्ञ ज्ञान नहीं बन सकता। क्योंकि समस्त पदार्थोंके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध एक साथ सम्भव ही नहीं है, और साक्षात् भी सम्भव नहीं, परम्परया भी समस्त पदार्थोंके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। इन्द्रियके द्वारा पदार्थोंको जान जानकर कोई पुरुष चाहे कि सर्वज्ञ हो जायें तो यह एकदम असम्भव बात है। यह जीव ज्ञानस्वभावी है। इसके जाननका स्वभाव है। इस समय संसारी जीवोंमें जो जाननेकी हीनाधिकता देखी जा रही है वह स्वभावके कारण नहीं किन्तु प्रतिबन्धक कर्मके उदयका निमित्त पाकर हो रहा है। जहाँ प्रतिबन्धक कर्म दूर हुए वहाँ ज्ञस्वभाव आत्माके ज्ञानको सर्वव्यापी होनेमें विलम्ब नहीं लगता।

अवधिज्ञानी व मनःपर्ययज्ञानीकी अक्षानपेक्षताका कारण— यहाँ शंकाकार कहता है कि अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी तो प्रत्यक्षज्ञान हैं, और अतीन्द्रिय माने गए हैं। इन्द्रियके द्वारा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान नहीं जाना किन्तु इन्द्रिय मनकी सहायता लिए बिना अपने आप आत्मीय शक्तिसे स्पष्ट ज्ञान करता है। और अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीव सर्वतः विरत व्यामोह नहीं है अर्थात् पूर्णतया वीतराग नहीं हैं। वीतरागताकी पूर्णता १२ वें गुणस्थानमें होती है। वीतराग ११ वें गुणस्थानमें भी हो जाता, किन्तु वह चारित्र मोहके उपशम श्रेणीकी बात है, उसे भी शंकामें रख लीजिये। अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जो एक देशसे ही निर्मोह हैं और असर्वज्ञ हैं लेकिन उनको भी बताया गया है कि उनके ज्ञानके लिए इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं की जाती है। तो अभी तक यह कहा जा रहा था कि जो एक देश रूपसे निर्मोह हैं उनके ही इन्द्रियकी अपेक्षा बनती है लेकिन यहाँ ये अवधिज्ञानी व मनःपर्ययज्ञानी एक देश निर्मोह हैं इनके इन्द्रियकी अनपेक्षा कैसे बनेगी अर्थात् अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानीको जाननेके लिए इन्द्रियकी अपेक्षा रखनी पड़ेगी। उत्तरमें कहते हैं कि अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशमका ऐसा अतिशय है कि वे ज्ञान अपने विषयोंके स्पष्ट और इन्द्रियकी अपेक्षा न रखकर जानते हैं। ऊपर जो यह कहा गया है कि एक देशसे जो निर्मोह है उनके ही इन्द्रियापेक्षा बन सकती है। इस कथनमें यह तो नहीं कहा कि जो एक देश निर्मोह है उसके इन्द्रियकी अपेक्षा होनी पड़ेगी लेकिन जहाँ-जहाँ इन्द्रियकी अपेक्षा पड़ती है वे एक देशसे निर्मोह हो अथवा मिथ्यादृष्टि हो, उनके इन्द्रियकी अपेक्षा होती है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान एक विशिष्ट क्षयोपशमके अतिशय वाले ज्ञान हैं उन ज्ञानोंसे अपने विषयमें स्पष्ट ज्ञान होता है, अवधिज्ञानका विषय है रूपी पदार्थ। अवधिज्ञान अपनी योग्यताके माफिक जैसी उसको अवस्था मिली है, नियत क्षेत्रमें, नियत काल तकके नियत आकारमें, रूपी पदार्थोंको जानते हैं। मनःपर्ययज्ञानका विषय है दूसरेके मनमें ठहरे हुए पदार्थ, विकल्प, विचार उन्हें मनःपर्ययज्ञानी स्पष्ट जानते हैं। इसका क्षेत्र है ढाई द्वीपके परि-

माण बराबर-और-काल है कुछ ५—७ भवों तकका। तो ये अवधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञान चूंकि ज्ञानावरण सहित जीवके पाये गए हैं अतः सर्वके ज्ञाता न हो सके। हाँ अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान, एक ऐसे विशिष्ट ज्ञान है कि केवल आत्मीय शक्तिसे अन्तःउपयोग द्वारा इसका विषय जान लिया जाता है।

सर्वतो विरतव्यामोहत्व व सर्वदर्शित्व हेतुकी निर्दोषताका वर्णन—यहाँ शंकाकार कहता है कि सर्वरूपसे निर्मोह हुए बिना और सर्वदर्शी हुए बिना जब अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं होती है तब आपका यह हेतु कि समस्तरूपसे यह निर्मोह है और सर्वदर्शी है इसमें अनैकान्तिक दोष आजाता है। अनुमान बनाया गया है कि प्रभुके ज्ञानको इन्द्रियकी अपेक्षा लेना लक्षित नहीं होता है क्योंकि वे पूर्णरूपसे निर्मोह है और सर्वदर्शी है। सो अब देखिये कि समस्तरूपसे जो निर्मोहपना है और सर्वज्ञपना है सो अक्षानपेक्षाको सिद्ध करे लेकिन यहाँ जो एक देश निर्मोह है और सर्वदर्शी नहीं है उनकी भी इन्द्रियानपेक्षा मानी गई है तब अनैकान्तिक दोष क्यों न होगा? उत्तरमें कहते हैं कि यह हेतु अनैकान्तिक दोषसे दूषित नहीं हो सकता कारण यह है कि इसका विपक्ष है इन्द्रियापेक्ष ज्ञान। जो साध्यसे विपरीत धर्म वाला हो उसको ही तो विपक्ष कहते हैं। इस अनुमानमें साध्य बनाया गया है अक्षानुपेक्ष अर्थात् इन्द्रियकी अपेक्षा न होना। तो जो ज्ञान अक्षानपेक्ष नहीं है, इन्द्रिय सापेक्ष है वह ही तो विपक्ष कहलाता है। सो अक्षापेक्ष मति श्रुत ज्ञानमें यानी विपक्षमें विरत-व्यामोहपना और सर्वदर्शीपना नहीं पाया जाता है। विपक्षमें हेतुके न पाये जानेसे अनैकान्तिक दोष नहीं रहता। अब शंकाकार कहता है कि अनैकान्तिक दोष चाहे मत रहो लेकिन इन हेतुवोंमें अहेतुपना बन जायगा। कारण यह है कि ये दोनों हेतु समस्त पक्षोंमें व्यापक नहीं होते। अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानमें सर्वतः निर्मोह और सर्वदर्शीपना कहाँ है? इसके समाधानमें कहते हैं कि यह शंका यों युक्तिसंगत नहीं है कि इस अनुमानमें सकल प्रत्यक्षको ही पक्ष बताया गया है। सकल प्रत्यक्ष ज्ञानमें इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि पूर्णनिर्मोहता और सर्वज्ञता होनेसे। तो इस अनुमानका पक्ष केवल सकल प्रत्यक्ष है और सकल प्रत्यक्षमें हेतुका सद्भाव पाया जा रहा है। जो सकल प्रत्यक्षके अधिकारी हैं ऐसे परम पुरुष पूर्णरूपसे निर्मोह और सर्वदर्शी होते ही हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं। हैं यद्यपि ये भी प्रत्यक्ष क्योंकि इन्द्रिय मनकी सहायता लिए बिना आत्मीय शक्तिसे ही स्पष्ट परिज्ञान करते हैं ये, लेकिन विकल प्रत्यक्षको यहाँ पक्षरूपमें नहीं लिया गया है।

अस्मदादि प्रत्यक्षसे विलक्षण सर्वज्ञ प्रत्यक्षकी अक्षानपेक्षा—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जब हम लोगोंके प्रत्यक्षमें इन्द्रियकी अपेक्षा हुआ करती है तो सर्वज्ञके प्रत्यक्षमें भी इन्द्रियकी अपेक्षा रही आये, इसमें क्या आपत्ति है? उत्तरमें कहते हैं कि अस्मदादि प्रत्यक्षका उदाहरण देकर सर्वज्ञप्रत्यक्षमें अक्षापेक्षाकी बात नहीं

कही जा सकती है। अन्यथा हम लोगोंके चक्षु जब अंजन आदिकसे असंस्कृत होते हैं तो हम लोगोंके उन असंस्कृत चक्षुओंको आलोककी अपेक्षा पड़ती है, सो इसका उदाहरण देकर यह कह बैठेगा कोई कि जब अंजन आदिकसे संस्कृत चक्षु हो जाते हैं तब भी उस किसी संस्कृत चक्षु वाले पुरुषको आलोककी अपेक्षा करना पड़नेका प्रसंग आ जायगा। हम लोगोंके प्रत्यक्षसे सर्वज्ञ भगवानका प्रत्यक्ष विलक्षण है। अतएव हम अपनी कल्पना जैसे कि हमारा ज्ञान इन्द्रियाधीन है, अस्पष्ट है इस तरह हम सर्वज्ञके ज्ञानमें भी लगा दें तो यह युक्त नहीं है। अतीन्द्रिय स्पष्ट और इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की पद्धति बिल्कुल भिन्न हुआ है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष वाले पुरुषको जाननेके लिए उपयोग लगाना पड़ता है, अधीरता, चञ्चलता विकल्प ये सभी पाते हैं, किन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्षमें उपयोग नहीं लगाना पड़ता। सहज ही उस विशुद्ध परम पुरुषके ज्ञान निर्दोष स्पष्ट रहता है। उन्हें कोई मोह नहीं, इच्छा नहीं, विकल्प नहीं। अन्य शुद्ध द्रव्योंकी तरह अपने आपका सहज परिणमन उनमें होता है।

इन्द्रियोंमें प्रत्यक्षकी नियतकारणताके अभावका कथन—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि रात्रिमें विचरने वाले चूहा, बिल्ली आदिक अनेक जानवरोंका प्रकाशके न होनेपर भी स्पष्ट अवलोकन प्रसिद्ध है। इससे प्रकाश ज्ञानका नियत कारण नहीं है। प्रकाशके बिना भी देखिये अनेक जीवोंके प्रत्यक्ष ज्ञान बन जाया करते हैं। तो उत्तरमें कहते हैं कि फिर तो स्पष्ट सत्य स्वप्न ज्ञानकी अक्षानपेक्षता याने चक्षु आदिक इन्द्रियोंकी अपेक्षा न होना प्रसिद्ध होनेसे अक्ष याने इन्द्रियाँ भी प्रत्यक्षका नियत कारण मत होओ। किसीको स्वप्न ज्ञान हो रहा है, नींदमें अनेक दृश्य दिखाई दे रहे हैं तो उसे उस नींदमें वे सब दृश्य तो स्पष्ट ही दिखाई देते हैं और उस समय नेत्रादिककी अपेक्षा भी नहीं हो रही। नेत्र बन्द हैं, कभी शब्द भी सुनते हैं, तो इन कानोंसे नहीं सुन रहे किन्तु स्वप्नमें, क्योंकि वहाँ मानसिक विकल्प चल रहे हैं तो उस सत्य स्वप्नज्ञानमें जो कि स्पष्ट हो रहा वहाँ जब चक्षु आदिक इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं पड़ रही है तो ऐसी अनपेक्षा देखकर यह भी कह दिया जा सकता कि इन्द्रियाँ भी प्रत्यक्षका नियत कारण नहीं होवें। इससे यह बात तो मान लेनी चाहिए कि जैसे अंजन आदिकसे संस्कृत नेत्र वाले पुरुषको प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रहती है रूपादिक करके देखनेमें, इसी प्रकार जो सब देशसे निर्मोह है उसको समस्त पदार्थोंके साक्षात् करनेमें अर्थात् स्पष्ट विश्वके ज्ञान करनेमें इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं रहती। अन्तः दृष्टि निहारा जाय तो इस आत्माका स्वरूप सिवाय ज्ञानके और कुछ दृष्टिगत न होगा। ज्ञानमात्र ही यह आत्मा है, ज्ञान ही स्वयं यह आत्मा है। तो जिसका स्वरूप ही ज्ञान है उसको ज्ञानके लिए किसीकी अपेक्षाकी आवश्यकता नहीं है। इस संसारमें प्राणियों को जो ज्ञानमें इन्द्रियकी अपेक्षा पड़ रही है, सो आवरणके द्वारा आच्छन्न होनेकी स्थितिमें इन्द्रियकी अपेक्षा पड़ रही है। जहाँ कोई प्रतिबंध नहीं रहता वहाँ ज्ञानस्व-

भांति आत्माको समस्त विश्वको परिज्ञान करनेमें इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं होती। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जो ऐसा ज्ञान होता है जिसमें इन्द्रियके क्रमका व्यवधान नहीं है वह ज्ञान नियमतः प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रियके क्रमका व्यवधान ही एक ऐसा बड़ा आवरण है कि उस ज्ञानमें पारमार्थिक स्पष्टता नहीं आती है। यहाँ इस इन्द्रियजन्य ज्ञानमें रूप देख लिया, कोई चीज छू ली, खा ली तो उसमें जो ज्ञान होता है उस स्पष्ट ज्ञान कहते हैं। इसे स्पष्ट ज्ञान कहना उपचारसे है। वस्तुतः यह स्पष्ट ज्ञान नहीं है। आँखोंसे भींटको देखा, भींटका ज्ञान एकदेश स्पष्ट है समग्र भींटको हम कहाँ जान पा रहे हैं? और, रूपको देखा ना तो इन इन्द्रियोंके द्वारा उस भीटके रूपका ही ज्ञान हो पाया, लेकिन भींटरूपमात्र ही तो नहीं है। वह तो रूप, रस, गंध, स्पर्श व रों गुणोंमय है। यदि भींट अर्थका स्पष्ट ज्ञान होता तो वह सब कुछ जैसा है तैसा ही जाननेमें आता। इस कारण इसे पूर्णतः स्पष्ट नहीं कह सकते। व्यवहारमें एक देश स्पष्ट कहते हैं। तो वह इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान वस्तुतः परोक्षज्ञान ही है। एकदेश विशद व्यवहारके होनेसे इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। इस प्रत्यक्षकी यत्किंचित सदृशता लेकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानमे शंका करना योग्य नहीं है।

अतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानीके आप्तपना होनेकी संभवताकी ध्वनी—इस कारिकाके अन्तिम अंशमें ध्वनित है कि जो इन्द्रियके क्रमके व्यवधानका उल्लंघन करने वाला अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, सकल प्रत्यक्ष है वही संसारी जीवोंका गुरु है यानें सकलप्रत्यक्ष ज्ञानी परमात्मा आप्त है, यह बात प्रमाणसे प्रसिद्ध होती है। इस कारिकामें जो अंतिम वाक्य है कि कश्चिदेव भवेद्गुरुः अर्थात्‌ कः चित् एक भवेदगुरुः भवेतोका गुरुः अर्थात् संसारी प्राणियोंका गुरु सर्वज्ञ परमात्मा ही है। जो भवको प्राप्त हों उन्हें कहते हैं भवेत् उनका गुरु कौन हो सकता है? कः अर्थात् परमात्मा। और, वह परमात्मा चितस्वरूप ही है, चित् तो सभी जीव हैं किन्तु इस विशिष्ट प्रसंगमें चित्स्वभावका अर्थ पूर्णतया निर्मल सर्वज्ञदेव लेना चाहिए। तो जो रागद्वेष मोहसे रहित हैं, समस्त भूत, भविष्य, वर्तमान त्रिलोकवर्ती पदार्थोंका एक साथ ज्ञाता है ऐसा पावन पुरुष भगवान सकल परमात्मा ही सब संसारी जीवोंका गुरु प्रसिद्ध होता है। तब तीर्थके चलाने मात्रसे कोई गुरु नहीं हो सकता है। वहाँ यह निरखना होगा कि जिसके वचन परस्पर विरुद्ध न हों, वस्तुस्वरूपके प्रतिकूल न हों वही पुरुष आप्त हो सकता है। आप्तका निर्णय करना हित चाहने वाले पुरुषोंको इस कारण अत्यन्त आवश्यक है कि हित चाहने वाला पुरुष किसी शासनका ही आश्रय करे, इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि जिस शासनके प्रणेता आप्त हों, सत्य सम्पूर्ण ज्ञानके प्रभु हो उनके मूलसे चला आया हुआ जो शासन है उसका आश्रय लेकर ही हम हित मार्गमें बढ़ सकते हैं। तो यहाँ तक आप्तकी मीमांसामें यह कहा गया कि देवागमनसे या आकाश विहारसे या मलमूत्ररहित शरीर होनेसे अथवा तीर्थके चलाने मात्रसे कोई आप्त नहीं हो सकता।